संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा

का

उद्भव तथा विकास

संस्कृत-साहित्य, व्याकरण तथा दर्शन शास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में

ऐतिहासिक विवेचन

ठाकुरदत्त जोशी

एम.ए., पी-एच. डी; साहित्याचार्य

संस्कृत विभाग

जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्ररोचना—डॉ. दयानन्द भार्गव

आचार्य एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

अधिष्ठाता, कला, शिक्षा तथा समाज-विज्ञान संकाय

जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

प्रकाशक :
राजस्थानी ग्रन्थागार
प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता
सोजती गेट के बाहर
जोधपुर

प्रथम संस्करण : जनवरी 1986

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

मुद्रक :
प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की वित्तीय सहायता से प्रकाशित

Saṁskṛta Kāvyaśāstra meṁ Lakṣaṇā
Kā
Udbhava tathā Vikāsa
by Dr. Thakur Datt Joshi

समर्पणम्

यस्याः प्रेरणया सदा च सुभगैराशीर्वचोभिर्बृहद्
ग्रन्थं चारुतरं तथा हि लिखितुं प्रीतः समर्थोऽभवम् ।
वात्सल्यार्णवनिःसरद्गुरुतमस्नेहामृतैः सिञ्चिते
मातस्तेऽङ्घ्रियुगे समर्प्य तमहं सानन्दमेमि प्रभाम् ।।

[जिनकी सतत प्रेरणा और शुभाशीष से इस बृहद् ग्रन्थ के निर्माण करने में मैं सक्षम हुआ, उन माता जी के चरणारविन्दयुगल में—जो वात्सल्यरूपी समुद्र से निःसृत, स्नेहामृतकणों से सिञ्चित हैं—समर्पित करता हूँ ।]

प्ररोचना

प्रतिफलति कलायां जीवनं माध्यमेन
क्वचिदपि सबलेन क्वापि वा निर्बलेन ।
सबलमिह भवेत्तन्माध्यमं यत्तु सूक्ष्मं
अबलमथ च पीनं माध्यमं स्यात्कलायाम् ॥ १ ॥
आरोहेणावरोहेण नादः साकारतां भजन् ।
शब्दात्स्थूलतरो भूयान्मृदाश्मादेः कथैव का ? ॥ २ ॥
शब्दाद्यतः सूक्ष्मतरं न किञ्चिदतो न शब्दाद्बलवत्तरं स्यात् ।
तं शब्दमादाय कविः स्वकाव्ये शब्दस्य शक्त्या रसमातनोति ॥ ३ ॥
शब्दस्य शक्तिस्त्रिविधा प्रसिद्धाभिधा पुनः कोशगतार्थमेव ।
व्यनक्ति, सा सार्वजनीनभाषालभ्या, कवीनां पुनरन्यशक्ती ॥ ४ ॥
युद्धावनौ सुदृढता वपुषः प्रशस्ता
लीलाविधौ ललितमेव वपुः प्रशस्यम् ।
न्यायादिशास्त्रसुषमा प्रथमास्तु वृत्तिः
काव्य विनोपचरितार्थमरुन्तुदं स्यात् ॥ ५ ॥
आभामण्डलशोभयैव महिमा देहे मणौ सत्यपि
प्रोच्चैरासनसंस्थितेऽपि पुरुषे पूजास्पदं वैदुषी ।
नानाशास्त्रविचित्रभावभरिते काव्येऽपि सौन्दर्य्य-भूः
लक्ष्यव्यङ्‌ग्यपदार्थबोधनपरा शब्दावली केवलम् ॥ ६ ॥
लक्ष्यार्थानामुपचरितता मोचयत्याशु बद्धां
धारां तां यां प्रतिनियतता मुख्यवृत्तेः रुणद्धि ।
तस्मात्काव्ये तरलतरला कापि लावण्यशोभा
लक्ष्यैरर्थैः कविभिरनिशं यत्नतः साधनीया ॥ ७ ॥
वार्तायामपि लौकिका हि पुरुषाश्चेल्लक्षणां युञ्जते
सद्यस्ते ननु साधुसाधुवचनं विज्ञोदितं भुञ्जते ।
नानालङ्‌कृतिभावनागुणरसप्राधान्यसंशोभिते
काव्ये लाक्षणिकप्रयोगसुषमा केनापि किं वर्ण्यते ? ॥ ८ ॥
तत्तादृशीं लाक्षणिकीं गिरायाः शक्तिं समाश्रित्य पुरातनैर्यद् ।
व्यधायि गम्भीरविवेचनं तत् प्रस्तौति जोशी विधिवच्छ्रमेण ॥ ९ ॥
विधाय मानं वचनं श्रुतेः स्मृतेर्मनीषिजोशी तपसा सरस्वती-
मुपास्यमानो लभते फलाकृतिमिमां कृतिं पण्डितवर्गतोषिणीम् ॥ १० ॥

डॉ. दयानन्दो भार्गवः
आचार्य एवम् अध्यक्षः, संस्कृत-विभागः
अधिष्ठाता, कला-शिक्षा-समाजविज्ञान-सङ्कायः
जोधपुर-विश्वविद्यालयः, जोधपुरम्

आभार

इस शोध-प्रबन्ध में लक्षणा तथा उसके भेदों के बारे में आचार्यों के मतों का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन करने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। लक्षणा जैसे कठिन एवं जटिल विषय में शोध-कार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा मुझे श्रद्धेय डॉ. रसिक विहारी जोशी, आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, से तब प्राप्त हुई जब वे जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में प्रतिष्ठित थे। मूलतः यह शोध-कार्य उनके ही निर्देशन में पञ्जीकृत हुआ था और उन्होंने ही इसे यह शीर्षक दिया था। परन्तु डॉ. जोशी को दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा ससम्मान संस्कृत विभाग के अध्यक्ष-पद पर आमन्त्रित किये जाने पर, मैं उनके निर्देशनजन्य लाभ को कुछ ही समय पर्यन्त प्राप्त कर सका, तथापि उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप ही इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

डॉ. जोशी के दिल्ली चले जाने के उपरान्त संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष-पद पर डॉ. दयानन्द भार्गव, जोधपुर विश्वविद्यालय में आये और उनके निर्देशन में यह कार्य पुनः प्रारम्भ किया गया। इस शोध-प्रबन्ध को सुव्यवस्थित ढंग से पूर्ण करने का साहस एवं सम्बल मुझे श्रद्धेय श्री भार्गव जी से ही प्राप्त हुआ। अपने अथक परिश्रम एवं कुशल निर्देशन से उन्होंने मुझे क्रियाशील बनाया। अपने अति व्यस्त-समय में भी इसका परीक्षण कर तथा उपयोगी सुझाव देकर इसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने में सहायता दी, जिसके फलस्वरूप इस दुष्कर कार्य को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम हो सका। उनकी आत्मीयता, सहृदयता एवं प्रेरणा का चिरऋणी हूँ, क्योंकि इस शोध-प्रबन्ध को जिस रूप में प्रस्तुत कर सका हूँ, यह उन्हीं के मार्ग-निदर्शन का ही फल है।

इसी सन्दर्भ में आदरणीय डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा, रीडर, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर सतत सहायता प्रदान की। इसी प्रकार विभाग के पूज्य गुरुजन श्रीकल्याण भारती जी एवं डॉ. श्रीमती प्रीतिप्रभा गोयल एवं डॉ. अमलधारी सिंह प्रभृति गुरुजनों से समय-समय पर प्राप्त सहायता एवं प्रेरणा हेतु आभार प्रदर्शन करता हूँ।

इसी उपक्रम में विभागेतर आचार्यों एवं विद्वज्जनों में से मुख्यतः प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी एवं डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, जयपुर तथा प्रो. मूलचन्द्र पाठक

उदयपुर और प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी व पर्वतीय मित्रवर्य श्रीगोपालदत्त जी पाण्डेय एवं श्रीजनार्दन जी पाण्डेय, वाराणसी, प्रभृति सभी विद्वज्जनों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनसे मुझे पुस्तक सम्बन्धी एवं प्रोत्साहनमूलक सहयोग मिलता रहा है।

इस ग्रन्थ के निर्माण में जिन पुस्तकालयों से मुझे उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई, उनमें से मुख्यत: केन्द्रीय ग्रन्थालय, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर तथा उदयपुर, जयपुर एवं वाराणसी के ग्रन्थालय उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं के विद्वान् अधिकारियों के महत्त्वपूर्ण सहयोग के लिए कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों के ग्रन्थों से भी मैंने सहायता प्राप्त की है, जिसका ग्रन्थ-सूची में उल्लेख कर दिया गया है, उन सबके प्रति पुन: आभार प्रकट करता हूँ।

प्रकरणत: अपने परिवार के सभी सदस्यों के प्रति इस शोध-कार्य में दी गई सहायता के लिए मैं शुभकामनाएँ प्रकट करता हूँ—'सर्वे भवन्तु सुखिन:'।

इसी प्रकरण में—जोधपुर विश्वविद्यालय पब्लिकेशन बोर्ड ने इसके प्रकाशन का महत्त्व समझकर तदर्थ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से 7000/- रुपयों का अनुदान देना स्वीकार किया है, इसके लिए मैं आयोग एवं बोर्ड का आभारी हूँ। प्रबन्ध में प्रस्तुत तथ्यों, विचारों तथा निष्कर्षों के लिए स्वयं उत्तरदायी हूँ। जोधपुर विश्वविद्यालय इसके लिए उत्तरदायी नहीं है।

इस अवसर पर मैं उन समस्त विद्वद्पुङ्गवों एवं आचार्यों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी अमूल्य सम्मतियां प्रेषित कर मुझे अनुगृहीत किया है।

ग्रन्थ की पूर्णता के अवसर पर राजस्थानी ग्रन्थागार के सञ्चालक श्री राजेन्द्र सिंघवी को प्रकाशन भार वहन करने के लिए तथा प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर के सफल सञ्चालक श्रीहरिप्रसाद जी पारीक तथा समस्त कर्मचारियों को त्वरित मुद्रण के लिए धन्यवाद देना चाहता हूँ।

अन्त में प्रात:स्मरणीय गुरुपुङ्गवों को, जिनसे मैंने शैशव से लेकर अद्य प्रभृति ज्ञानार्जन किया है, उन समस्त आचार्य-देवों को इस अवसर पर स्मृतिपटल में लाकर नतशिरसा अभिवादन करता हुआ कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ और विनम्र निवेदन करता हूँ कि मेरे इस कार्य से आंशिक रूप से भी यदि किसी तथ्य का संश्लेषण-विश्लेषण हो गया हो तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

—ठाकुरदत्त जोशी

विषयानुक्रमणी

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

भारतीय चिन्तन परम्परा में शब्द को जो स्थान प्राप्त है वह स्थान शायद ही किसी अन्य चिन्तन परम्परा में हो। आलंकारिकों में **दण्डी** की यह घोषणा कि 'यदि यह संसार शब्द नामक ज्योति से आलोकित न होता तो समस्त त्रिलोकी गहन अन्धकार में विलीन हो जाती',[1] इसी चिन्तन परम्परा का फल है।

वैयाकरणों में **भर्तृहरि** ने तो शब्दाद्वैत नामक एक नवीन प्रस्थान की भूमिका बनाते हुए यह घोषणा की थी कि 'इस लोक में कोई ज्ञान शब्द के बिना सम्भव नहीं है। समस्त ज्ञान मानो शब्द से अनुविद्ध है'।[2] यह शब्द-तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है। समस्त जगत् इसी का विवर्त है।[3] इसी सिद्धान्त ने दर्शन के क्षेत्र में भी शब्दाद्वैत के सिद्धान्त को जन्म दिया।[4] इसी

---

1 इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥
— काव्यादर्श, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973 ई., पृ. 4

2 न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
— वाक्यपदीय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971 ई., पृ. 28

3 अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
वही, पृ. 1.

4 Maṇḍana appears……endorsing Bhartṛhari's thesis that Brahman is language (śabdādvaita). His thesis appears to be that Brahman is consciousness, that consciousness is the power of speech, and so the conclusion follows that Brahman is of the nature of speech; the whole universe is a manifestation (vivarta) of speech.
—Potter, Karl. H.—Encyclopedia of Indian Philosophy, Vol. III, Motilal Banarsidas Delhi, 1981, p. 54.

धारा में अग्निपुराणकार ने अक्षर को परमब्रह्म बतलाया, जो सनातन, अजन्मा, सर्वव्यापक, चैतन्य तथा ज्योतिरूप ईश्वर है।[1] इसी प्रकार आलङ्कारिक, वैय्याकरण और दार्शनिक तीनों ही एक स्वर में शब्द की महिमा का गान करते हैं। महाभाष्यकार लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।[2]

शब्द का लक्षण

आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार आकांक्षा, योग्यता से युक्त तात्पर्य एवं आसत्ति आदि से समन्वित शब्दजन्यज्ञान को, जो बोध कराता है, वह शब्द कहलाता है।[3] शब्द ध्वनिरूप तथा वर्णरूप भेद से दो प्रकार का होता है। मृदङ्गादि से जन्य शब्द को ध्वनिरूप कण्ठताल्वादि के अभिघात से जन्य शब्द को वर्णरूप माना जाता है। इसी शब्द समूह को भर्तृहरि ने 'यो वाचः परमो रसः' कहकर वाणी का परम रस कहा है।[4]

शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया

वर्ण उत्पत्ति के क्रम के विषय में प्रशस्तपादाचार्य के मतानुसार सर्वप्रथम वर्ण उच्चारण करने की इच्छा होती है। तदनन्तर तद्विषयक प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न में अपेक्षित आत्मवायु के संयोग से वायु में कर्म होता है। वह वायु

---

1 अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥

— अग्निपुराण, आनन्दाश्रम ग्रन्थालय, पूना, 1957 ई., पृ. 541

2 प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप, (सम्पा.—आचार्यमधुसूदन मिश्र), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. 7

3 आकांक्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः।
शब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः॥ 2. 8

—साहित्यसुधासिन्धु, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1978 ई., पृ. 31

4 त्रिपाठी, रामसुरेश, संस्कृतव्याकरणदर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973 ई., पृ. 61

ऊर्ध्वगामी होता हुआ कण्ठादि स्थानों को अभिघातित करता है। तदनन्तर स्थान वायु के संयोग से वर्ण की उत्पत्ति होती है।[1]

पाणिनीयशिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द के द्वारा कहने की इच्छा होती है तब अन्त:करण पदार्थों को बुद्धि का विषय बनाकर मन को प्रेरित करता है। मन जठराग्नि को और जठराग्नि प्राण वायु को प्रेरित करती है। यही प्राण वायु जो हृदय में रहती है, स्वर को जन्म देती है, ऊर्ध्व प्रेरित यह वायु मूर्धा से अभिघात करती हुई कण्ठादि प्रदेशों में पहुंचकर वर्णों को जन्म देती है।[2] शब्द प्रत्यक्ष के समान ही, अर्थ-बोधक माध्यम है। यद्यपि अन्य चेष्टाओं से भी मनुष्य अपनी अभिलाषाओं को व्यक्त कर सकता है किन्तु शब्द ही मनुष्य की प्रवृत्ति, निवृत्ति का कारण है। ऐतरेय-ब्राह्मण में इस शब्द अर्थात् वाक् की तुलना अक्षय्य समुद्र से की गई है।[3]

वाक् एक स्वतन्त्र दर्शन है। वाक् के बिना जगत् सूना है और जीवन पंगु है। जगत् का व्यवहार, वाग्व्यवहार पर ही अवलम्बित है। वाक् का एक स्थूलरूप है, एक सूक्ष्मरूप है। स्थूलरूप वाक् भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्मरूप का वाक् ब्रह्ममय है।

शब्द और अर्थ का अयुत सम्बन्ध

कालिदास ने भी शब्द और अर्थ को एक ही तत्त्व के दो पक्ष के रूप में

---

1 वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्न:, तमपेक्षमाणात्मवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वायौ कर्म जायते। स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, तत: स्थानवायुसंयोगात् वर्णोत्पत्ति:।
—प्रशस्तपादभाष्यम्, सम्पा.—भागीरथप्रसाद त्रिपाठी।
—सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977 ई., पृष्ठ 694-695

2 आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ 6॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
× × × ×
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत:॥
—पाणिनीयशिक्षा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सं. 2004, पृ. 4

3 वाग्वै समुद्रो न वै वाक्क्षीयते न समुद्र: क्षीयते॥ 5, 16
—ऐतरेयब्राह्मण, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, 1896 ई., पृ. 91

स्वीकृति प्रदान की है। जिस प्रकार पार्वती और परमेश्वर नित्य संसर्गी हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भले ही दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु तत्त्व एक ही है।[1] वैसे भी शब्द का अपने अर्थ के साथ वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध माना जाता है। शब्द और अर्थ में कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी है, क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है। शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। श्रोता के मन में जो शब्द श्रवण के अनन्तर प्रतीत होता है, उसका जनक शब्द होता है। दूसरी ओर अर्थ भी शब्द का कारण है; क्योंकि बोलने वाला व्यक्ति पहले मन में अर्थ रखकर ही तत्तत् शब्द का प्रयोग करता है।

दार्शनिकों के अनुसार शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संकेतरूप तथा सम्बन्धरूप। संकेत, शब्द और अर्थ का साक्षात्सम्बन्धरूप है, तो लक्षण परम्परा-सम्बन्धरूपा है।[2] शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, इस विषय में सभी विद्वान् मतैक्य रखते हैं। भले ही उच्चारण, लिपि, लेख आदि अर्थ ज्ञान के अनेक साधन हो सकते हैं।

विज्ञ जगत् में सुख के साधनभूत शब्दार्थरूप काव्य को ही मनीषियों ने प्रधानता दी तथा शब्द और अर्थरूप काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध को ही शक्ति, वृत्ति, सम्बन्ध या व्यापार आदि नामों से अभिहित किया। शब्दार्थ के सम्बन्ध के विषय में भारतीय आचार्यों ने भिन्न भिन्न रूप से चर्चा की है। शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध, सम्पर्क, तथा सहभाव एवं सहयोग के विषय में भी अनेक प्रकार से अनुचिन्तन किया गया है। पतञ्जलिकालीन शब्दार्थविषयक विवेचना के ऊपर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इस विषय पर सर्वप्रथम शास्त्रीय स्तर पर वैय्याकरणों ने विचार किया है।

शब्द की उपयोगिता पतञ्जलि ने अर्थबोध कराना बताया है। शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है[3] **कैयट** के अनुसार शब्द में एक स्वाभाविक

---

1 वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। 1 । 1 ।।
—रघुवंश, बद्रीप्रसाद शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, सं. 2019, पृ. 1

2 शब्दव्यापारो निरन्तरार्थनिष्ठोऽभिधा मता।
स तु सव्यवधानार्थनिष्ठो भवति लक्षणा।
—काव्यकल्पलतावृत्ति, चौ. सं. सी. आ. बनारस, 1931 ई., पृ. 44

3 सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।
—महाभाष्य, मोतीलाल बनारसीदास, संवत् 2019, पृ. 21

योग्यता है। जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तब वह अर्थ की उपस्थिति कराता है। द्रव्यरूपी अर्थ के अनित्य होने पर सम्बन्ध को नित्य ही माना जाता है, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है।[1] भर्तृहरि ने भी शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य माना है। वस्तु का ज्ञान शब्द से होता है। इस अर्थ बोधनरूपी कार्य से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि होती है।[2]

ध्वनि और नाद

भर्तृहरि ने नाद को ध्वनि का विवर्त माना है।[3] इनके अनुसार जो स्फोट का अभिव्यञ्जक है, उसे ध्वनि कहते हैं। लोक में जो ध्वनिसमूह पदार्थबोधक के रूप में प्रसिद्ध है, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है और वर्णरूप है, वह शब्द है। इस दृष्टि से ध्वनि और शब्द में कोई भेद नहीं है।

नाद (ध्वनि) और स्फोट

शब्दनित्यतावादी वैय्याकरणों व मीमांसकों के मत में नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद व्यञ्जक और स्फोट व्यंग्य है।। अनित्यवादी प्रथम अभिघातज ध्वनि को शब्द अथवा स्फोट कहते हैं और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनियों को ध्वनि या नाद कहते हैं।[4]

---

1 अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्, योग्यतालक्षत्वात् सम्बन्धस्य, तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वात्।
—महाभाष्यप्रदीप, (सम्पा.—आचार्य मधुसूदनप्रसादमिश्र) पृ. 40

2 नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाषाणाञ्च प्रणेतृभिः॥ 1. 23
—वाक्यपदीय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971 ई., पृ. 5
—तथैव
सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध उपपद्यते।
शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते॥ 3. 37
—वाक्यपदीय, डेकन कालेज, पूना, 1963 ई., पृ. 148

3 तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करणव्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसंघातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन।
—वाक्यपदीय (श्रीहरिवृषभवृत्तिसह), डेकन कालेज, पूना, 1966 ई., पृ. 106

4 प्रथमोऽभिघातजस्तारतरः शब्दः, तदन्यो नाद इति स्पष्ट एव भेदः।
—वही, पृ. 171

ध्वनि और स्फोट

ध्वनि और स्फोट शब्द से सम्बन्धित हैं। ध्वनि व्यञ्जकत्व से शब्द का उपकारक है, स्फोट व्यंग्य है। ध्वनि कहीं अल्परूपात्मक है, तो कहीं महानता को धारण करती है और कहीं उभयरूपा भी है।[1] **लोचनकार** के अनुसार करणों अर्थात् जिह्वादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है, वह स्फोट है और (श्रूयमाण) शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्य उत्पत्तिवादियों ने ध्वनि कहा है। इसी प्रकार घण्टा आदि की आवाज के समान अनुरणनरूपेण उपलक्षित व्यंग्य अर्थ ध्वनि नाम से व्यवहृत है तथा श्रूयमाण जो (नाद) शब्दवाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यञ्जित करने वाले जो वर्ण हैं, वे ध्वनि शब्द कहे गये हैं।

जैसा कि **आचार्य भर्तृहरि** ने कहा है अनिर्वचनीय एवं व्यक्त रूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से शब्द, उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।[2] अतः व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जक अर्थ को भी ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है।[3] **वैयाकरणभूषण** के एक टीकाकार **कृष्णमित्र** ने स्फोट को ही परावाक् माना है,

---

1 ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः ॥ 1. 1. 70
—महाभाष्यप्रदीप, पृ. 564

2 यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ इति ॥
एवं घण्टादिनिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

—ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965 ई., पृ. 139-40

3 तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ।
—वही, पृ. 140

परावाक् ही शब्दब्रह्म है।[1] डा. त्रिपाठी के कथनानुसार स्फोट का प्रकृतरूप प्राचीनकाल से ही अस्पष्ट रहा है। जैसे जैसे उसके स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप में सामने लाये गये हैं, उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचकों के स्फोट सम्बन्धी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर होता गया।[2]

वैय्याकरणों का मत

अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के सम्बन्ध में वैय्याकरणों की मान्यता भिन्न प्रकार की है। उनके अनुसार शब्द दो प्रकार का है। कार्य (अनित्य) और नित्य।[3] अनित्य शब्द से वैय्याकरणों का तात्पर्य है, उच्चारणजन्य और श्रोतृग्राह्य ध्वनि अथवा नाद, तथा नित्य शब्द से उनका तात्पर्य, उस मूल शब्दतत्त्व से है, जो न तो उच्चारणजन्य है और न श्रोतृग्राह्य है। इसे उन्होंने स्फोट की संज्ञा दी है। 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द के दो रूप हुये—ध्वनि और स्फोट। ध्वनि से व्यक्त होने पर स्फोट अर्थविशेष का प्रत्यायक होता है। प्रकारान्तर से यों भी कह सकते हैं कि स्फोट व्यंग्य है, ध्वनि उसका व्यञ्जक है।[4] ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है, किन्तु स्फोट सदा एकरूप रहता है।

---

1 अत्र परावाक् स्फोटशब्देनोच्यते सैव ब्रह्मशब्द इत्युच्यते।
—वैयाकरणभूषण सटीक, (टी. कृष्णमिश्र) मैन्युस्क्रिप्ट, पृ. 1
—त्रिपाठी, रामसुरेश, संस्कृतव्याकरणदर्शन, पृ. 43 पर उद्धृत
—तथैव
स्फोटस्तावत्पश्यन्ती पदवाच्यः। स च स्फोटो नास्माकं प्रत्यक्षः किन्तु सविकल्पकसमाधौ योगिभिः प्रत्यक्षीक्रियते।
—पाण्डे, रामाज्ञा; व्याकरणदर्शनपीठिका, निदेशक, अनुसन्धानविभाग, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, 1965 ई., पृ. 11

2 त्रिपाठी, रामसुरेश; संस्कृतव्याकरणदर्शन, पृ. 477

3 तत्र त्वेष निर्णयः। यद्यपि नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।
—महाभाष्य, पृ. 20

4 ग्रहणग्राहकयोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥
—वाक्यपदीय, पृ. 21

लोक में जिस शब्द को अनित्य कहा जाता है, वह ध्वनि है, किन्तु स्फोट नित्य होने के साथ ही अर्थप्रत्यायन का मूल कारण है। यथार्थतः स्फोट ही शब्द है; लोक व्यवहार में ध्वनि को शब्द नाम से पुकारना उपचार मात्र है। **भर्तृहरि** ने अर्थ के स्वरूप को शब्द की भित्ति पर अवलम्बित माना है। जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस शब्द का अर्थ है।[1]

काव्यशास्त्रियों पर वैय्याकरणों का प्रभाव

शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वैय्याकरणों का प्रभाव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों पर पड़ा। ये भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्यरूपेण स्वीकार करते चले आये हैं। काव्यशास्त्रियों पर स्फोटवादियों का एक अन्य प्रभाव पड़ा, वह है ध्वनि नामक तत्त्व की स्वीकृति। वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोटवादियों ने उच्चार्यमाण शब्द अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को व्यञ्जक माना है और स्फोट को व्यंग्य। इधर काव्य-शास्त्रियों ने व्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों को ध्वनि की संज्ञा दी है। स्वयं **मम्मट** ने इस अप्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा की है।[2]

नाद व शब्द में अन्तर

प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहलाने का अधि-कारी नहीं बनता, जब तक वह किसी संकेत का ग्रहण नहीं करता। परिणामतः इस नाद अर्थात् ध्वनिमात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, उदाहरणार्थ भवन शब्द हमारे लिए सार्थक होता हुआ भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ आंग्लभाषी व्यक्ति के लिए शब्द विशेष न होकर नाद मात्र है।

---

1 यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥ 2. 328
—वाक्यपदीय, पृ. 111

2 बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
—काव्यप्रकाश (सम्पा. आचार्य विश्वेश्वर), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960 ई., पृ. 29

जब वह नाद किसी संकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी शब्द विशेष का प्रतिपादन करता है और तभी वह नाद शब्द कहलाने का अधिकारी बनता है। **मम्मट** के अनुसार जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का संकेत ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है।[1]

काव्यशास्त्र में ध्वनि

ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का ध्वनि शब्द वस्तुत: केवल उक्त नाद और स्फोट अर्थों तक ही सीमित नहीं है। इसके तीन अर्थ और भी हैं। व्यञ्जनाशक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनिप्रधानकाव्य। काव्यशास्त्रियों ने जो ध्वनि शब्द वैय्याकरणों से लिया था, उसको अपने शास्त्रानुसार अनेक रूपों में व्यवहृत किया। वैय्याकरण नाद अथवा शब्दरूप व्यञ्जकों को भी ध्वनि नाम से अभिहित करते हैं और व्यंग्य को स्फोट नाम से पुकारते हैं। इधर काव्यशास्त्री शब्द तथा अर्थरूप व्यञ्जकों को ध्वनि नाम से पुकारते हैं और उसके व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि पद से व्यवहृत करते हैं।[2]

इस प्रकार काव्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द के अर्थ बोधक व्यापार को शब्दशक्ति पद से व्यवहृत किया जा सकता है। यद्यपि अद्यावधि प्राप्त मतों के अनुसार शब्दशक्ति के प्रभेदों का वर्गीकरण अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य, रसना, भावना, भोग नाम से किया जा सकता है, किन्तु शब्दशक्ति के तीन ही प्रकार प्रसिद्ध हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। अभिहितान्वयवादी मीमांसक **भट्टकुमारिल** और **पार्थसारथिमिश्र** अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को भी स्वीकार करते हैं। अन्य अन्विताभिधानवादी मीमांसक अर्थात् **प्रभाकर** व **शालिकनाथमिश्र**, अभिधा तथा लक्षणा इन दो ही शब्दशक्तियों को स्वीकार करते हैं। गदाधर ने भी शक्तिवाद में अभिधा एवं लक्षणा नामक दो ही वृत्तियों को स्वीकार किया है। नैय्यायिक तथा वेदान्ती लोग भी अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्ति स्वीकार करते हैं।

---

1 इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचक:।

—काव्यप्रकाश, पृ. 42

2 अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 104-105

मम्मट प्रभृति आचार्य अभिधा व लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना नामक वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं। एकमात्र साहित्यशास्त्र के अन्यतम आचार्य **महिमभट्ट** ऐसे व्यक्ति हुये हैं, जो केवल अभिधा शक्ति को मानते हैं, उनके अनुसार मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों की प्रतीति शब्द के माध्यम से न होकर अर्थ के द्वारा होती है, अत:अर्थ की प्रतीति के हेतुभूत व्यापार को शब्द का न मानकर अर्थ व्यापार ही मानना चाहिए।[1] **मुकुलभट्ट** ने लक्षणा को अभिधा का ही व्यापार मानते हुये, उसे गौण व्यापार नाम दिया। अभिधा के मुख्य व्यापार के चार भेद (जाति आदि) और (अमुख्य व्यापार) लक्षणा के छः भेद। इस प्रकार दशधा लक्षणा विवेचित की गई।[2]

जहां तात्पर्य वृत्ति का प्रश्न है, अधिकांश विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते हैं। अभिहितान्वयवादी ही इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं,[3] अत: उक्त तीनों वृत्तियों को ही सर्वमान्य मानते हुए विचार किया जा रहा है। दर्शन के क्षेत्र में शब्दशक्तियों का विभाजन चर्चा का प्रमुख विषय रहा है। सभी दर्शनों के आचार्य एकमात्र अभिधा शक्ति को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। आलङ्कारिकों एवं नव्य-वैय्याकरणों के अतिरिक्त मीमांसक तथा वेदान्ती भी अभिधा व लक्षणा दो शक्तियों को ही स्वीकार करते हैं। **कौण्डभट्ट** आदि प्राचीन वैय्याकरण लक्षणा को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अभिधा तथा व्यञ्जना दो शक्तियों को ही मानते हैं।

आनन्दवर्धन, मम्मट, अमरचन्द्रयति, विश्वनाथ आदि के मत में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना तीन शक्तियां मान्य हैं। जैसा कहा जा चुका है कि साहित्यशास्त्री और विशेषरूप से ध्वनिवादी आचार्य तीन शक्तियों को स्वीकार

---

1 शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
—व्यक्तिविवेक (अनु. रेवाप्रसाद द्विवेदी), चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1964 ई., पृ. 111

2 मुख्यस्याभिधावृत्तस्य प्रकारश्चत्वार: लाक्षणिकस्य तु षडित्येवं दशप्रकार-मभिधावृत्तमत्र विवेचितम्।
—अभिधावृत्तिमातृका, (हिन्दीभाष्य, डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी) चौ. सं. सी. आ., बनारस, 1973 ई., पृ. 72

3 वाचकोऽथ लाक्षणिको व्यञ्जकस्त्रिविधो मत:।
शब्दस्तदर्थो वाच्यादि: तात्पर्यं कस्यचिन्मते ॥ 2.2
—साहित्यबिन्दु, सरस्वती प्रेस, दिल्ली, वि. सं. 2004, पृ. 39

करते हैं। आचार्य **विजयवर्णी** गौणी लक्षणा को लक्षणा से भिन्न मानते हैं, अत: उनके अनुसार शब्दशक्ति का चतुर्धा विभाजन होगा।[1] अभिहितान्वयवादी तात्पर्यवृत्ति को मानते हैं।[2]

वस्तुत: वाचक, लक्षण से युक्त अर्थात् लक्षक और व्यञ्जक इस रूप में शब्द तीन प्रकार का होता है और उस शब्द का अर्थ वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य रूप में बताया गया है, उस शब्दबोध में क्रमश: अभिधा, व्यञ्जना नामक तीन प्रकार का शब्द व्यापार होता है।[3]

---

1 अभिधा लक्षणा गौणी व्यञ्जना च चतुर्विधा।
शब्दानां शक्तिरित्युक्ता पुरातनकवीश्वरै: ॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, भारतीय ज्ञानपीठ कार्यालय, कलकत्ता, 1965 ई., पृ. 8

2 पदार्थानां समन्वये तात्पयार्थोऽपि वाक्यार्थ: समुल्लसतीति। अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

—काव्यप्रकाश, पृ. 36

3 स्याद्वाचको लाक्षणिक: शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा। वाच्यादयस्तदर्था: स्यु:। 2.6

—काव्यप्रकाश, पृ. 34-35

अन्यच्च

शब्दो मुख्यो लाक्षणिको व्यञ्जकश्च त्रिधा मत:।
मुख्यार्थवाचको मुख्यो व्यापारोऽर्थेऽस्य चाभिधा ॥ 2. 175
लक्ष्याश्रितो लाक्षणिको व्यापारो लक्षणास्य तु।
व्यंग्ययुक्तो व्यञ्जकोऽस्य व्यापारो व्यञ्जनं मतम् ॥ 2. 176

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 43

अन्यच्च

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत:।
व्यंग्यो व्यञ्जनया तास्स्युस्तिस्र: शब्दस्य शक्तय: ॥

—साहित्यदर्पण, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, 1978 ई., पृ. 70

अन्यच्च

शब्दो मुख्यो लाक्षणिको व्यञ्जकश्च त्रिधा मत:
वाचकापरपर्यायं मुख्यशब्दं विदुर्बुधा: ॥ 2.1

(शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें।)

दार्शनिकों द्वारा मान्य शक्तियां

कुमारिलमतानुयायी मीमांसक अभिधा, लक्षणा व तात्पर्यवृत्ति को मानते हैं। व्यञ्जना इन्हें मान्य नहीं है। नैय्यायिक शक्ति (अभिधा) लक्षणा, व अनुमान तीन शक्तियां मानते हैं। इन्हें भी व्यञ्जना मान्य नहीं है। इनके मतानुसार अनुमान से ही व्यञ्जना की कार्यसिद्धि हो जाती है। वैय्याकरण अभिधा के स्थान पर प्रसिद्धशक्ति व अप्रसिद्धशक्ति (अप्रसिद्ध अभिधा) को मानते हैं। लक्षणा का अन्तर्भाव अप्रसिद्धशक्ति के अन्तर्गत हो जाता है, जिसे अन्य आचार्य लक्षणा कहते हैं, वैय्याकरण उसे अप्रसिद्ध अभिधा या अप्रसिद्धशक्ति कहते हैं, जो केवल शाब्दिक भेदमात्र है।[1] इस प्रकार प्राचीन वैय्याकरण **कौण्डभट्ट** आदि अभिधा व व्यञ्जना दो ही शक्ति मानते हैं।[2] नव्यवैय्याकरण **नागेश** अभिधा, लक्षणा, व व्यञ्जना तीनों शक्तियों को मानते हैं[3] तथा लक्षणा में ही व्यञ्जना को गतार्थ करना **नागेश** को मान्य नहीं

शब्दस्यार्थोऽपीत्यभिधा लक्षणाव्यञ्जनाभिधैः।
व्यापारैर्गम्यः स्याद् वाच्यो लक्ष्यो व्यंग्यस्त्रिधा क्रमात्॥ 2.2
—अलंकारसार, ओ. रि. इं., बड़ौदा, 1942 ई., पृ. 343

अन्यच्च

वाचको लक्षणायुक्तो व्यञ्जकश्चेति स त्रिधा।
वाच्यो लक्ष्यस्तथा व्यंग्यस्तदर्थः कथितो बुधैः।
व्यापारश्चाभिधा तत्र लक्षणा व्यञ्जना क्रमात्॥ 2.10
—साहित्यसुधासिन्धुः, पृ. 31

1 वैयाकरणास्तु लक्षणां नाङ्गीकुर्वन्ति। तेषां मते शक्तिरेव द्विविधा, प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। तत्र तेषां प्रसिद्धां शक्तिं परे दार्शनिकाः शक्तिम् अप्रसिद्धां च शक्तिं लक्षणेति शब्दमात्रे भेदः।
—सिंह, बदरीनाथ, शाब्दबोधविमर्श, डॉ. बदरीनाथ सिंह गोदोलिया, वाराणसी, 1971 ई., पृ. 261

2 वृत्तिस्त्रिधा—शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च, तत्र लक्षणायाः शक्त्यैव गतार्थत्वं समर्थ्य व्यञ्जना निरूपणीया।
—वैय्याकरणभूषणसारसटीक (संपा. बालकृष्ण पञ्चोली), चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1969 ई., पृ. 346

3 सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च।
—परमलघुमञ्जूषा, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1974 ई., पृ. 13

है।[1] इसी प्रकार से आलङ्कारिक अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों को मानते आ रहे हैं।

शक्ति के तीन प्रकार मानने वाले आचार्य

नागेश शक्ति के तीन प्रकार मानते हैं—रूढि, योग, योगरूढि।[2] उनके अनुसार जिसमें शास्त्रकल्पित अवयवों का अर्थ नहीं हो सके, किन्तु समुदाय का अर्थ हो सके वह रूढिशक्ति कही जाती है। यथा—मणि, नूपुर, इन दोनों में अवयवों का अर्थ कुछ नहीं होता है।[3] जिसमें शास्त्रकल्पित अवयवों का अर्थ हो सके अर्थात् जिसमें प्रकृति प्रत्यय के योग से अवयवों का भी अर्थ हो सके वह योगशक्ति है। यथा—पाचक आदि। यहां पकाने वाला अर्थ पच् प्रकृति से 'ण्वुल्' प्रत्यय के योगबल से ही निकलता है। यहां अवयवों का अर्थ स्पष्ट मालूम पड़ रहा है।[4]

जो शास्त्रकल्पित अवयवों के अर्थ के साथ विशेष अर्थ को बता सके या जो केवल अपने मिले हुये शब्दों से निकलने वाले सामान्य अर्थ के साथ विशेष अर्थ को बता सके वह योगरूढि कहलाती है। यथा—पङ्कज शब्द। यहां पङ्क में पैदा होने वाला—यह एक सामान्य अर्थ है। इसके साथ ही विशेष अर्थ कमल का प्रत्यायन योगरूढि द्वारा होता है।[5]

---

1 यत्तु तार्किका लक्षणयैव गतार्था व्यञ्जनेति न सा स्वीकार्येत्याहुः। तन्न।

—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 54

2 सा च शक्तिस्त्रिधा, रूढिर्योगो, योगरूढिश्च।

—वही, पृ. 30

3 शास्त्रकल्पितावयवार्थभानाभावे समुदायार्थनिरूपितशक्ती रूढिः। यथा-मणिनूपुरादौ।

—वही, पृ. 30

4 शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपिताशक्तिर्योगः। यथा-पाचकादौ।

—वही, पृ. 30

5 शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपिता शक्तिर्योगरूढिः। यथा-पङ्कजपदे। तत्र पङ्कजनिकर्तृ पद्ममिति बोधात्।

—वही, पृ. 30

नैय्यायिकों के अनुसार शक्ति के चार प्रकार

नैय्यायिकों ने चार प्रकार के पदों की सत्ता स्वीकार की है। पद उन्होंने शक्ति-विशिष्ट को माना है। पद कहीं यौगिक हैं, कहीं रूढ, कहीं योगरूढ और कहीं यौगिकरूढ हैं।[1]

यौगिक शब्द

यौगिक शब्द वे हैं, जो अवयव मात्र की शक्ति से ही अर्थ के प्रत्यायक होते हैं।[2] यथा—पाचक, पाठक आदि।

रूढ शब्द

रूढ शब्द वे हैं, जो अवयवशक्ति के बिना केवल समुदाय शक्ति से अर्थ के प्रत्यायक होते हैं। यथा—गोमण्डल आदि।[3] रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है, किन्तु व्युत्पत्ति से उनके अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिन शब्दों के विग्रहवाक्य से अन्य अर्थ होते हैं और वृत्ति में अन्य, वे रूढि शब्द हैं। उपरिलिखित गोमण्डल में गो पद की अवयव शक्ति गो व्यक्ति में है और मण्डल पद की अवयव शक्ति सूर्याधिरोधक कुण्डलाकार में है एवं यहां समुदाय शक्ति से अर्थ का बोध होता है, अतः अवयव शक्ति की कुछ आवश्यकता नहीं।

योगरूढ शब्द

योगरूढ शब्द वे कहे जाते हैं, जो अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों के द्वारा एक अर्थ के प्रत्यायक माने जाते हैं। यथा—पङ्कज आदि।[4] एक ही

---

1 शक्तं पदम्, तच्च चतुर्विधम्-क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढम्, क्वचिद्योगरूढं, क्वचित् यौगिकरूढमिति।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, चौ. सं. सी. ऑ. वाराणसी, 1931 ई., पृ. 18

2 यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्। यथा—पाचकादिपदम्।
—वही, पृ. 18

3 यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्ये समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्। यथा—गोमण्डलादिकम्।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 19

4 यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा—पङ्कजादिपदम्।
—वही, पृ. 19

पङ्कज पद 'पङ्काज्जायते इति पङ्कजः' इत्याकारक अवयवशक्ति से पङ्क से उत्पन्न होने वाली वस्तु को कहता है और समुदायशक्ति से पद्मत्वेन पङ्कज कमल का बोधक है।

यौगिकरूढ

यौगिकरूढ़ शब्द वे कहे जाते हैं, जो कभी रूढ्यर्थ की उपस्थापना करते हैं, कभी यौगिक अर्थ की अर्थात् जिससे अवयवार्थ तथा रूढ्यर्थ का स्वतन्त्र रूप से बोध हो, वह यौगिकरूढ शब्द है। यथा—उद्भिद् आदि पद हैं। 'ऊर्ध्वं भिनत्तीति उद्भिद्' इस व्युत्पत्ति से अवयवशक्ति द्वारा (तरुगुल्म) वृक्षलतादि का बोधक है, और समुदायशक्ति से उद्भिद् नामक योग का भी बोधक है। इसी प्रकार मण्डप शब्द गृह विशेष का भी बोधक है और यौगिक अर्थ का भी बोधक है, जो यौगिक अर्थ के रूप में मण्डपान करने वाले पुरुष के रूप में आता है। **विश्वेश्वर, आशाधरभट्ट, अभिनवकालिदास** इस भेद को स्वीकार नहीं करते हैं। इसी प्रकार उद्भिद् आदि पद से उद्भेदनकर्ता तरुगुल्म और यागविशेष का भी बोध होता है।

शब्दशक्ति

पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध, शक्ति कहलाता है और वह इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए इस रूप में होता है। प्राचीन नैय्यायिकों की दृष्टि में ईश्वरेच्छा द्वारा संकेतग्रह होता है।[2] किन्तु नवीन नैय्यायिकों के मत में ईश्वरेच्छा और तदतिरिक्त मनुष्येच्छादि से संकेतग्रह हो जाते हैं।[3]

शक्ति एवं वृत्ति

साहित्यिकों तथा दार्शनिकों ने इन दो शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों

---

1 यत्र यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम्। यथोद्भिदादि-पदम्। तत्र उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 20-21

2 अत्र तार्किकाः—'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इत्याकारा 'इदं पदमिममर्थं बोधयतु' इत्याकारा वेश्वरेच्छा शक्तिः लाघवात्। सैव संकेतः सम्बन्धः।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 13

3 नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसंकेतितेऽपि शक्ति-रस्त्येवेत्याहुः।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 4

में किया है। दर्शन ग्रन्थों में जिसे दार्शनिकों ने वृत्ति शब्द से अभिहित किया, साहित्यिकों ने उसे वृत्ति, शक्ति आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया। करण में 'क्तिन्' प्रत्यय होकर वृत्ति शब्द निष्पन्न होता है। यथा—'वर्तते शब्दोऽर्थे अनया इति वृत्तिः'।

शक्तिवृत्तिविषयक आचार्यों की मान्यताएं

श्रीनिवासाचार्य (11 वीं श.) ने वृत्ति शब्द से अभिधा और उपचार (लक्षणा) को गृहीत किया है।[1] **मंखक** (1169 ई.) व **शारदातनय** (13 वीं श.) ने पदार्थ के प्रतिपादन में होने वाले व्यापार को वृत्ति माना तथा उसको मुख्या, लक्षणा तथा—गौणी नाम से विभाजित किया।[2] **अजितसेन** (13 वीं श.) ने एक नवीनीकरण यह किया कि जिस अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना को, पूर्वाचार्य वृत्ति शब्द से व्यवहृत करते रहे; उन्हें, इन्होंने शब्दवृत्ति से व्यवहृत किया।[3] अलङ्कारशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् **विश्वनाथ** (14 वीं श.) ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया तथा इस शक्ति शब्द से अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना तीनों को गृहीत

---

1 वृत्तिर्द्विधा अभिधोपचारभेदात्।

—न्यायपरिशुद्धि, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1918 ई., पृ. 338

अन्यच्च

—हिन्दीवृत्तिप्रभाकर (निखिलदास, टीका आत्मानन्द) सस्तुं साहित्य मुद्रणालय, रायखण्ड, अहमदाबाद, 1957 ई., पृ. 70

अन्यच्च

—तर्कामृत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—1, 1973 ई., पृ. 51

2 वृत्तिः पदानां व्यापारः पदार्थप्रतिपादने।
सा मुख्या लक्षणा गौणीत्येवं त्रैविध्यमास्थिता॥

—साहित्यमीमांसा, सम्पा. के. शाम्बशास्त्री, अध्यक्ष राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम, 1934 ई., पृ. 2

अन्यच्च

—भावप्रकाशन, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1968 ई., पृ. 145

3 शब्दवृत्तयस्त्रिधा अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाभेदात्।
अलङ्कारचिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1973 ई., पृ. 266

किया ।[1] दार्शनिक कणादतर्कवागीश (16 वीं श.) ने भाषारत्न में वृत्ति के दो भेद किये । प्रथम को शक्तिपद से द्वितीय भेद को लक्षणा नाम से व्यवहृत किया । अन्य आचार्यों के समान शक्तिपद से अभिधा अर्थ न लेकर ईश्वर संकेत को ही शक्तिरूप में माना, अर्थात् ईश्वरेच्छारूप प्रयोग से निर्धारित 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारक अर्थ प्रतीति का कारण संकेत को माना । आलङ्कारिक केशवमिश्र (17 वीं श.) ने अभिधा के लिए शक्ति शब्द का प्रयोग किया, किन्तु पदों की वृत्तियां अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना को ही माना ।[2]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में वृत्ति को शक्तिलक्षणान्यतर सम्बन्ध के रूप में लक्षित किया गया है तथा पद से पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहा गया ।[3] वृत्तिदीपिका (17 वीं श.)में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वृत्ति कहा गया है ।[4] एक ही वस्तु के गुणरूप एवं क्रियारूप व्यापार के कारण शब्द-शक्ति एवं शब्दवृत्ति दो नाम प्रचलित हो गये । धर्मसूरि (14 वीं-15 वीं श.)

---

1 वाच्यार्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यंग्यो व्यञ्जनया तास्स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ 2. 3
—साहित्यदर्पण, पृ 70

2 पदानां वृत्तयस्तिस्रः भवन्ति । शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना चेति ।
—अलङ्कारशेखर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1895 ई., पृ. 9
अन्यच्च
—अलङ्कारकौस्तुभ, वारेन्द्र रिसर्चसोसायटी, राजशाही बंगाल, 1926 ई., पृ. 39
अन्यच्च
—वृत्तिवार्तिक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1940 ई., पृ. 1

3 शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 3

4 वृत्तित्वञ्च शक्तिलक्षणान्यतरत्वं शब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलपदार्थ-सम्बन्धत्वं वा ।
—वृत्तिदीपिका, राजस्थान पुरातत्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर(राजस्थान), 1956 ई., पृ. 5

ने इस शक्ति को ही सम्बन्ध से व्यवहृत किया है।[1] भोज (10 वीं श.) ने शब्दसम्बन्ध को शक्ति पद से व्यवहृत करते हुए चार प्रकार के शब्दों के सम्बन्धों को शक्ति में अन्तर्निहित किया है।[2] सरस्वतीकण्ठाभरण में लक्षणा के भेदों के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[3] गागाभट्ट(17वीं श.) अव्यवधान पुरस्सर शब्दजन्य प्रतीत्यनुकूल वृत्ति को ही शक्ति (अभिधा) पद से गृहीत करते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि इसी को वैय्याकरणों ने सुबोधकत्व नाम से व्यवहृत किया है।[4] नागेश (18 वीं श.) पदार्थ में विद्यमान स्वविषयबोधजनकता के ज्ञान से जन्य अर्थ से निरूपित बोध को शक्ति पद से व्यवहृत करते हैं।[5] त्रिवेणिका में आशाधरभट्ट (1650-1709 ई.) 'शक्यते इति शक्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ का अभिधान करता है उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति पद में शक् (शक्लृ) धातु से करण अर्थ में बाहुलकात् क्तिन् प्रत्यय विहित है, क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं, अतः यहां शक् धातु का अर्थ साक्षात्

---

1 तस्माच्छक्तिः सम्बन्ध इति सर्वमनवद्यम्।

—साहित्यरत्नाकर, उस्मानियां विश्वविद्यालय, हैदराबाद, 1972 ई., पृ. 171

2 अभिधा च विवक्षा च तात्पर्यञ्च विभागवत्।
चतस्रः केवला ह्येताश्शब्दसम्बन्धशक्तयः॥

—शृङ्गारप्रकाश, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1934 ई., पृ. 267

3 कात्र वृत्तिः, अजहत्स्वार्था।.... पुनर्यदजहत्स्वार्था परार्थाभिधानरूपा वृत्तिः स्यात्।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, गोहाटी, 1969 ई., पृ. 299

4 केयं शक्ति इति चेत्। अव्यवधानेन शब्दजन्यप्रतीत्यनुकूलावृत्तिः शक्तिः। वैय्याकरणास्तु सुबोधकत्वमेव शक्तिः।

—भाट्टचिन्तामणि, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1933 ई., पृ. 56

5 यस्य पदार्थस्य स्वविषयबोधकजनकत्वज्ञानाद् बोधस्तदर्थनिरूपितबोधकत्वं शक्तिः।

—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, काशी, 1977 ई., पृ. 19

अभिधान करना है।[1] उनके अनुसार शक्ति, वृत्ति, व्यापार तथा क्रिया पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

इन वृत्तियों के माध्यम से तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है। अर्थात् उनमें प्रथम अभिधा वृत्ति से प्रतीत अर्थ को शक्यार्थ, वाच्यार्थ, अभिधेयार्थ तथा मुख्य अर्थ कहा जाता है। द्वितीय वृत्ति लक्षणा से प्रतीत होने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ, लाक्षणिक अर्थ, भाक्त तथा औपचारिक अर्थ कहा जाता है। इसी प्रकार तृतीय वृत्ति व्यञ्जना से प्रकट होने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ, गम्यार्थ, प्रतीयमानार्थ तथा ध्वनितार्थ या ध्वनिरूप अर्थ कहा जाता है। इस ग्रन्थ के नामकरण का भी यही अभिप्राय है कि इसमें वाचक शक्तिरूपी गङ्गा, भक्तिरूपी (लक्षणारूपी) यमुना एवं व्यञ्जनारूपी गूढ प्रभाववाली सरस्वती का विवेचन किया गया है, अतः यह त्रिवेणिका पदवाच्या है।[3]

वस्तुतः काव्यसम्बन्धी तत्त्वचिन्तन में शब्द-शक्तियों का मूर्धन्य स्थान है। शब्द और अर्थ के सहभाव से बनने वाला काव्य शब्दार्थ विषयक विविध सम्बन्धों के पर्यवेक्षण की अपेक्षा करता है। शब्दतत्त्व तथा अर्थतत्त्व का जहां विवेचन हुआ है, वहां शक्ति का विवेचन करना भी अनिवार्य हो गया। सभी दर्शनों ने तत्सम्बन्धी विवेचन के साथ ही अपनी बात कही है। विशेष रूप से भारत में व्याकरण के अतिरिक्त मीमांसा, न्याय, बौद्धदर्शन एवं शैवागम में भी एतद्विषयक विवेचन को महत्त्व मिला है। मीमांसा दर्शन तो व्याकरण के समकक्ष होकर शक्तिविवेचन करता है। यह बात दूसरी है कि विविध दर्शनों की मूल मान्यताओं में अन्तर रहने से प्रस्तुत विचार में भी दृष्टिकोण

---

1 शक्यते साक्षादभिधीयतेऽनयेति शक्तिः। 'बाहुलकात्' करणे क्तिन् प्रत्ययः। धातूनामनेकार्थत्वाच्छक्नोतेः साक्षादभिधानार्थत्वम्।

—त्रिवेणिका, भारतीय साहित्यविद्यालय, वाराणसी, 1957 ई., पृ. 2

2 तद्वशात् तिस्रो वृत्तयो भवन्ति। वृत्तिः व्यापारः क्रिया चेति पर्याय-शब्दाः। तत्राद्या शक्तिरभिधा, मुख्या चेत्युच्यते, द्वितीया लक्षणा, भक्ति-रुपचारश्चेति, व्यपदिश्यते। तृतीया व्यक्तिर्व्यञ्जना, द्योतना, ध्वनना, प्रत्यायना चेति व्यवह्रियते।

—वही, पृ. 6

3 शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्झराः।
प्रवाहवत्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका॥

—त्रिवेणिका, भारतीय साहित्यविद्यालय, वाराणसी, 1957 ई., पृ. 2

का भेद रहा है; अतः व्याकरण, मीमांसा और न्याय इस विवेचना में एक मत नहीं है।

शक्ति-विषयक विभिन्न मत

दार्शनिकों का मत

नव्य-वैय्याकरणों का सिद्धान्त है कि ईश्वरेच्छा सम्बन्ध के अतिरिक्त वाच्य अथवा वाचकरूप पद तथा पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं, जिसे वाच्यवाचकभाव से भी अभिहित किया जाता है।[1] वैय्याकरणों का सिद्धान्त है कि पद का पदार्थ के साथ तादात्म्य अर्थात् एकता-सम्बन्ध शक्ति का ग्राहक है। यह सम्बन्ध ही संकेत है। वेदान्तियों का मत प्रायः मीमांसक मत से मिलता है। मीमांसक मत यह है कि शक्ति एक अलग ही पदार्थ है, इसी का संकेत नाम से व्यवहार किया जाता है। यह शक्ति प्रत्येक पद में भिन्न रूप से रहती है। यह अनन्तरूपा है, अनादिकाल से प्रचलित है। जैसे प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी पृथक् शक्ति होती है, वैसे ही प्रत्येक पद में अर्थबोधकतारूपी शक्ति भिन्न रूप से रहती है। अन्तर यही है कि ज्ञानाभाव में भी वह्नि आदि वस्तुओं की शक्ति स्वरूप से स्वयं कार्य करने में समर्थ होती है, परन्तु पद-पदार्थों के शक्तिरूप सम्बन्ध के विषय में ऐसा कोई अनुभव दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि पदपदार्थ की शक्ति ज्ञात होने पर ही पदार्थों की उपस्थिति कराती है।[2]

आलङ्कारिकों का मत

आलङ्कारिकों के अनुसार 'संकेतित अर्थ की बोधिका अभिधा है, वह पद इस अर्थ का वाचक है और यह अर्थ इसका वाच्य है' इत्यादि सम्बन्ध ही संकेत है और शक्ति का ग्राहक है। कभी-कभी शक्ति पद केवल अभिधा के

---

1 तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकभावापरपर्याया।
—लघुमञ्जूषा, चौ. सं. सी. ग्रा., वाराणसी, 1971 ई., पृ. 23

2 मीमांसकानां नये कारणीभूतानां सर्वेषां पदार्थानां शक्तिमत्त्वेनैव कारणता स्वीकृता वर्तते। वह्नेरपि दाहं प्रति शक्तिमद्वह्नित्वेन, वह्निनिष्ठशक्ति-मत्त्वेन वा कारणत्वं वर्तते।.........यथा-वह्नौ दाहानुकूला शक्ति-रस्तीति ज्ञानाभावेऽपि वह्निसंयोगेन दाहो जायते, परन्तु पदपदार्थयोः शक्तिरूपसम्बन्धस्य विषये नास्ति अयं कश्चिदनुभवः।
—शाब्दबोधविमर्श, पृ. 137

लिये ही प्रयुक्त होता है, क्योंकि सर्वप्रथम अभिधा में ही संकेतित अर्थ को द्योतित करने की शक्ति होती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अभिधा शक्ति से जो संकेत या अर्थ अधिगृहीत किया जाता है, उसके क्या एवं कौन से कारण हैं? इस विषय पर विद्वानों ने अनेक मत व्यक्त किए हैं। संकेत इस शक्ति का सन्निवेश नैय्यायिकों के मतानुसार ईश्वर की इच्छा के अनुसार होता है। ईश्वर ही सर्वप्रथम अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए, इस संकेत की सृष्टि करता है, जबकि नव्य-नैय्यायिकों की मान्यता के अनुसार इच्छा मात्र से ही शक्तिग्रह होता है।[1] मीमांसकों के अनुसार ईश्वरेच्छा से शक्तिग्रह नहीं होता है, क्योंकि उनके मत में ईश्वर की सत्ता ही नहीं है।[2] इस मत को वैय्याकरण अधिक वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक न मानकर आग्रहभाव की संज्ञा देते हैं। इनके मत में बोधजनकता ही शक्ति है। भूषणकार ने भी यही कहा है।[3]

वास्तविकता तो यह है कि जैसे-जैसे मानव सृष्टि का विकास होता गया, आवश्यकताएं बढ़ती गईं और बौद्धिकता एवं चेतना में व्यवहार जगत् की इच्छा व आकांक्षाओं की मान्यता का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे शब्द भी नियन्त्रित अर्थों में संयत होते गये। इन्हीं सब कारणों से संकेतग्रहण के मुख्य आधार हैं—व्याकरण, उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्धपद का सान्निध्य, वाक्यशेष, विवृत्ति अर्थात् विवरण आदि।[4] वस्तुतः संकेतग्रहण का सर्वाधिक प्रमुख कारण व्यवहार ही है। छोटे बालकों में संकेतग्रह का

---

1 नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छामात्रमेव शक्तिः।
—शाब्दबोधविमर्श, पृ. 121

2 अत्र मीमांसकाः—ईश्वरेच्छा न शक्तिः, ईश्वराभावात्।
—वैय्याकरणभूषणसार, पृ. 346

3 इद्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥
—वही, पृ. 315

4 शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 5

एकमात्र उपाय व्यवहार ही है।[1] व्याकरण आदि भी इसी आधार पर शब्दों में संकेतग्रह का निर्धारण करते हैं।

शब्द के तीन रूप

उक्त प्रकार से शब्द तीन प्रकार का बताया गया है, वह उपाधिकृत है। 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में एक ही गङ्गा शब्द तीन तो बन नहीं सकता। अतः जब गङ्गा शब्द में अभिधा व्यापाररूपी उपाधि आती है तो वह प्रवाहरूप वाच्यार्थ को बता देता है और वह वाचक कहलाता है।[2] जब वह लक्षणा व्यापार से तटरूप लक्ष्यार्थ को बताता है, तो उसका लक्षक नाम पड़ जाता है और जब उसमें व्यञ्जना व्यापाररूप उपाधि आती है, तो वह शैत्यपावनत्वरूप व्यंग्यार्थ को बता देता है और तब व्यञ्जक कहा जाता है। इस प्रकार तीनों अर्थों को बताने वाला शब्द वास्तव में एक ही है, उसके उपाधि भेद व्यापार भेद के कारण तीन रूप दिखाई देने लगते हैं।

'गङ्गायां स्नाति' जैसे प्रयोगों में गङ्गा शब्द का जलप्रवाहरूप एक ही अर्थ है, परन्तु 'गङ्गायां घोषः' जैसे वाक्यों में एक ही गङ्गा शब्द के तीन अर्थ हैं। यहां तीन अर्थों के तीन शब्द न माने जाकर एक ही गङ्गा शब्द माना जाता है और उसके अन्दर तीन व्यापारों के आ जाने के कारण तीन अर्थ हो जाते हैं। शब्द—जो वाचक, लक्षक, व्यञ्जक भेद से तीन प्रकार

---

1 उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुदिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमतिपण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते। अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनय पदस्य च 'आहरमर्थः' इति संकेतमवधारयति।

—साहित्यदर्पण, पृ. 71

अन्यच्च

संकेतस्य ग्रहः पूर्वं वृद्धस्य व्यवहारतः।
पश्चादेवोपमानाद्यैः शक्तिधीपूर्वकैरसौ॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1914 ई., पृ. 58

2 अभिधाव्यापृतिर्यत्र वाच्यार्थप्रतिपत्तिकृत्।
शब्दः स वाचकः प्रोक्तः सर्वशास्त्रविशारदैः॥ 2. 11

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 32

का बतलाया गया है, यह उपाधियों की ही तीन संख्या बताई गई है। उपाधेय शब्द की तीन संख्या मानें तो एक ही गङ्गा शब्द तीन तो बन नहीं सकता,[1] अर्थात् जब गङ्गा शब्द में अभिधा व्यापाररूपी उपाधि आती है तो प्रवाहरूप वाच्यार्थ को लक्षणा व्यापार रूप उपाधि से तटरूप लक्ष्यार्थ को और व्यञ्जना व्यापार रूप उपाधि से शैत्यपावनत्वरूप व्यंग्यार्थ को बता देता है। इस प्रकार तीनों अर्थों को बताने वाला शब्द वास्तव में एक ही है, उसके उपाधि भेद (व्यापार भेद) के कारण तीन रूप दिखाई देने लगते हैं।[2]

अभिधा शक्ति

अभिधा शब्द का व्यापार है, जिसे मुख्य व्यापार कहा जाता है। जैसे अङ्गों में सबसे पहले मुख दृष्टिगोचर होता है; वैसे ही यही वह व्यापार है जो अन्य व्यापारों की अपेक्षा पहले सामने आता है। इसी कारण मुख के समान होने से इसे मुख्य कहा जाता है।[3] अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ का महत्त्व काव्य में ही नहीं, अन्य सभी शास्त्रों में तथा लौकिक व्यवहार में भी है। साधारणतः लौकिक व्यवहार में इसका बड़ा महत्त्व है, यह अनुभवगम्य है ही। लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि अन्य शक्तियों की आधारभित्ति अभिधा ही है। हम वाच्यार्थ ज्ञान के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तक पहुंचते हैं, अतः लक्षणा आदि के बीज में अभिधा अवश्य रहती है।[4]

---

1 अत्रोपाधीनामेव त्रित्वं न तु उपाधेयस्य अन्यथा एकस्यैव गङ्गाशब्दस्य त्रिरूपत्वानुपपत्तेः।

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 32

2 साहित्यसुधासिन्धु, (सम्पा. रामप्रताप), पृ. 32 पर टिप्पण के रूप में समुद्धृत।

3 अव्यधानेन यत्र सकेतः क्रियते स मुखमिव हस्ताद्यवयवेभ्यो अर्थान्तरेभ्यः प्रथमं प्रतीयत इति मुख्यः।

—काव्यानुशासन, श्रीविजयलावण्यसूरीश्वर, ज्ञानमन्दिर, सौराष्ट्र, सं. 2012, पृ. 176

अन्यच्च

—द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, पृ. 242

4 व्यास, भोलाशंकर, ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, भाग-1, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2013, पृ. 109

अभिधा का निर्विवादत्व

प्रमाणों में जो स्थिति प्रत्यक्ष की है, शब्द-शक्तियों में वही स्थिति अभिधा की भी है। शब्दशक्ति के सम्बन्ध में विचार करने वाला कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक हो, जिसने उसे स्वीकार न किया हो, अथवा प्रधानता न दी हो। तात्पर्य यह है कि अभिधा की स्थिति सभी लोगों ने मानी है। अभिधा शक्ति से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रसङ्ग व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अभिधेयार्थ मुख्यतः लोकव्यवहार से ही जाना जाता है।[1] संकेतित अर्थ का चतुर्धा विभाजन **महाभाष्यकार** ने किया, जिसका समर्थन **मम्मट** ने भी किया।[2] **भर्तृहरि** ने शब्दों में अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) का सम्बन्ध अभिधा द्वारा नियमबद्ध किया।[3]

अभिधामूला व्यञ्जना के प्रसङ्ग में अनेकार्थक शब्दों के एकार्थ में नियन्त्रित हो जाने के उपक्रम में **काव्यप्रकाशकार** ने जिन संयोग आदि 14 कारणों को गिनाया है, उसका मूल स्रोत **वाक्यपदीय** है।[4] **मम्मट** ने **वाक्यपदीय** में अप्रोक्त सामर्थ्य, औचित्य, देशकाल, व्यक्ति, स्वर आदि छः कारणों को अधिक माना है।[5]

अभिधा शब्द की व्युत्पत्ति

जैसा पूर्व में भी संकेत कर दिया गया है कि अभिधा ही प्रथम एवं

---

1 लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।
—महाभाष्य, पृ. 21

2 'गौःशुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः।
—काव्यप्रकाश, पृ. 44

3 क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
अभिधानियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥ 2. 40
—वाक्यपदीय, पृ. 128

4 संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥ 2. 315
—वाक्यपदीय, पृ. 108

5 सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥
—काव्यप्रकाश, पृ. 77

मुख्यार्थविषयिणी शक्ति है। प्रायः देखा जाता है कि कोई भी शब्द सर्वप्रथम अपने नियन्त्रित संकेतित अर्थ की प्रतीति कराता है। शब्द का यह निश्चित संकेतित अर्थ वाच्यार्थ, शक्यार्थ, अभिधेयार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है।[1] इस प्रकार मुख्यार्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार अभिधा कहा जाता है। **मम्मट** के अनुसार जो शब्द साक्षात्संकेतित अर्थ को बताता है वह वाचक कहा जाता है और इससे जिस अर्थ का बोध होता है, वह मुख्य अर्थ होने से वाच्यार्थ होता है तथा उस वाच्यार्थ को बताने वाली शब्द की शक्ति अभिधा नाम से अभिहित की जाती है। अन्य आचार्यों ने भी **मम्मट** विरचित लक्षण के आलोक में अपनी कृतियों में अभिधा के लक्षण प्रस्तुत किए हैं।[2]

---

1 वृत्तिविषयभूता अर्थास्त्रिविधाः। तत्र आद्यः शक्यो, वाच्योऽभिधेयो मुख्यार्थश्चेत्युच्यते।
—त्रिवेणिका, पृ. 5

2 साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो, व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥
—काव्यप्रकाश, पृ 42, 50

अन्यच्च

अर्थमव्यवधानेन स्पृशन्ती मुखवर्तिनी।
मुख्यां वृत्तिर्वदन्त्येनामभिधेति विपश्चितः॥
—साहित्यमीमांसा, पृ. 2

अन्यच्च

ययार्थं स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः।
—चन्द्रालोक, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1950 ई., पृ. 295

अन्यच्च

यस्योच्चारणमात्रेण सहजं यत् प्रतीयते।
तस्य तत्र तु या वृत्तिः साभिधा लक्षणा पुनः॥
—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 39

अन्यच्च

यदा हि शब्दः साक्षात् संकेतितमर्थं बोधयति तदा सा अभिधाशक्तिः कथ्यते। स एव तयोच्यमानोऽर्थो वाच्यार्थः कथ्यते।
—शर्मा, योगेश्वरदत्त, अभिधाविमर्श, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1980 ई., पृ. 33

लक्षणा शक्ति

जब वाक्य में कोई पद अपनी मुख्यवृत्ति अभिधा द्वारा विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकता, तब उसके लिए आचार्यों ने एक नये व्यापार की कल्पना की तथा उसे लक्षणा नाम से अभिहित किया। अमुख्य या असंकेतित अर्थ का द्योतन करने वाली शब्द-वृत्ति लक्षणा नाम से सर्वाधिक प्रचलित है और इस वृत्ति से समन्वित शब्द को लक्षक, लाक्षणिक, औपचारिक तथा भाक्त नाम से अभिहित किया जाता है।[1]

काव्य में लक्षणा-शक्ति अनेक प्रकार से क्रियाशील रहती है, अतः लक्षणा का व्यापक महत्त्व है। **शोभाकरमिश्र** ने तो लक्षणा को काव्य का प्राणतुल्य स्वीकार किया है।[2] **आनन्दवर्धन** ने ध्वनि सिद्धान्त का सविस्तार वर्णन किया है। उनके अनुसार बुधजनों द्वारा पूर्वसमाम्नात ध्वनि-तत्त्व ही काव्य का आत्मभूत है; जिसके विषय में अभाववादियों, भक्तिवादियों तथा अनिर्वचनीयतावादियों की विप्रतिपत्तियां हैं।[3] यहां भक्ति शब्द से लक्षणा और गौणी दोनों वृत्तियां ग्राह्य हैं। **पाणिनि** के 'तत आगतः' सूत्र से निष्पन्न भाक्त शब्द लक्ष्यार्थ ही है। **लोचन** में भक्ति शब्द की तीन व्युत्पत्तियां की गयी हैं। प्रथम व्युत्पत्ति से मुख्यार्थ का भङ्ग होना ही भक्ति है।[4] द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार (वाच्य से) जिसकी उत्प्रेक्षा होती है, वह सामीप्य

---

1 द्वितीयो लक्षको, लाक्षणिकः, औपचारिको, भाक्तश्चेति व्यपदिश्यते।
—त्रिवेणिका, पृ. 5

2 तत्र रूढायां प्रयोजनरूपव्यंग्यार्थाभावादभिधावद् वैचित्र्यचारुताविरहान्न सहृदयहृदयाह्लादकारितया रसपरिपोषकत्वमिति नालङ्कारता। कार्या पुनस्तद्वै लक्षण्येन काव्यजीवितायमाना सर्वथा कविभिरादरणीयेति सर्वेषां ध्वनिकारादिनामविप्रतिपत्तिः।
—अलङ्काररत्नाकर, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1942 ई., पृ. 32

3 काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः,
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
—ध्वन्यालोक, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1965 ई., पृ. 8

4 भज्यते इति मुख्यस्य च अर्थस्य भङ्गो भक्तिः।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 31

आदि सम्बन्ध ही भक्ति है।[1] तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार गुणों के आधार पर शब्द का अर्थ करने वाली गौणी वृत्ति से प्रतिपादित तीक्ष्णता आदि प्रयोजन ही भक्ति है।[2] जयदेव ने लक्षणा को सभी अलङ्कारों के मूल-बीज में स्थित मानते हुए कहा है कि यह लक्षणा—शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक तथा लिङ्ग में अलङ्कारों के बीज के रूप में स्थित रहती है।[3] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में लक्षणा को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था। सभी कालों में, सभी देशों के काव्य में चमत्कारोत्पादन के लिये लक्षणा का अधिकाधिक प्रयोग हुआ। परिणामस्वरूप काव्यशास्त्रीय चिन्तकों में इसको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

लक्षणा की प्राचीनता

लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग तो मानव ने भाषाज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में ही करना प्रारम्भ कर दिया होगा, किन्तु लक्षणावृत्ति का अन्वेषण भी अत्यन्त प्राचीन है। विश्व के इतिहास में प्रथम भाषावैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में, भाक्त प्रयोगों का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक रूप में न मिलता हो, किन्तु उक्त लक्षणा का अंकुर ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रमुख रूप से पाया जाता है। वहां आधुनिक समय में प्रचलित लक्षणापरक गुणवृत्ति आदि नामों के उल्लेख भले ही न मिलें, किन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण में भक्ति शब्द का उल्लेख पाया जाता है।[4] यास्क प्रणीत निरुक्त में लक्षणा के पर्याय के रूप में भक्ति शब्द के उपादान से यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी

---

1. भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतया उत्प्रेक्ष्यते इति।
—वही, पृ. 30

2. गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागः तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः।
—वही, पृ. 30

3. शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
लिंगे चेयमलङ्कारांकुरबीजतया स्थिता॥
—चन्द्रालोक, पृ. 289-290

4. मरुतां सा भक्तिर्मरुत्वतीयमुक्थं शस्त्वामरुत्वतीयया यजति यथाभागं तद्देवता प्रीणाति।
—ऐतरेयब्राह्मण, पृ. 89

लक्षणा सम्बन्धी विचार किया गया है।[1] एक अन्य स्थान पर भी भक्ति शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वह भी अमुख्य अर्थ में पाये जाने वाले प्रयोगों के लिए हुआ है।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों में तत्तद्गुणों को धारण करने के कारण उपमान को उपमेय पद से व्यवहृत करना ही भक्ति शब्द से गृहीत किया गया है। यही भक्ति या गौणवृत्ति ही आगे चलकर लक्षणा के रूप में विकसित हुई। प्राचीन आलङ्कारिकों में **उद्भट** ने भी गुणवृत्ति के नाम से एकवृत्ति का उल्लेख किया है। **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति** में गौण तथा लाक्षणिक अर्थ को भिन्न-भिन्न रूप में बतलाया गया है तथा लक्षणा अनेक निमित्तों से होती है, यह सिद्ध करने के लिए सादृश्य से की गई लक्षणा को वक्रोक्ति पद से अभिहित किया गया है।[3] ध्वनिवादी **आनन्दवर्धन** ने भक्ति, गुणवृत्ति आदि शब्दों से लक्षणा को अभिहित किया है। **आनन्दवर्धन** विरचित **ध्वन्यालोक** में भले ही लक्षणा शब्द का प्रयोग वृत्तिभाग में अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है, किन्तु कारिका भाग में यह शब्द समुपलब्ध नहीं होता है। **आनन्दवर्धन** गुणवृत्ति या उपचार शब्द के लिये भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं।[4]

---

1 बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणवाक्यानि भवन्ति।

—निरुक्त, भाग–2, (संपा. बैजनाथ काशीनाथ, राजवाड़े), आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1921 ई., पृ. 708

2 तत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद्भवति, यथा–वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्........आग्नेया इति तु स्थितिः भक्तिमात्रमितरत्।

—शास्त्री, शिवनारायण, निरुक्तमीमांसा, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी-दिल्ली, वि. सं. 2026, पृ. 448 पर उद्धृत।

3 सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

—हिन्दीकाव्यालङ्कारसूत्र, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1971 ई., पृ. 164

4 उपचारमात्रं तु भक्तिः।

—ध्वन्यालोक, पृ. 149

अन्यच्च

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। 1. 14

—वही, पृ. 149

उक्त वर्णन के आधार पर निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक-कालीन लक्षणा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला भक्ति शब्द आनन्दवर्धन के समय तक इसी अर्थ में अक्षुण्णरूप से व्यवहृत होता रहा है। इससे सिद्ध होता है कि लक्षणा के अर्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग यास्क के समय में होता था। वे अभिधा के समान लक्षणा से भी परिचित हैं, किन्तु उनके समय में उसे भक्ति कहा जाता था। लक्षणा, रूढिमूला और प्रयोजनमूला तथा शुद्धा और गौणी दोनों अर्थों में विदित थी, किन्तु इन भेदों का वहाँ विश्लेषण नहीं पाया जाता है।[1]

इस प्रकार व्यवहार जगत् में तथा साहित्य में इस विधा को स्थान मिलता रहा। बाद में व्यवहार को देखकर ही लक्षणा का स्वरूप निरूपण पश्चाद्वर्ती साहित्य में हुआ। वेदवेदाङ्ग के परवर्ती आस्तिक दर्शनों के अगाध सागरतल में से लक्षणा विषयक विचारसूत्र संगृहीत किये गये। आस्तिक दर्शनान्तर्गत न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त-दर्शन में लक्षणा के विषय में बहुत कुछ कहा गया है तथापि मीमांसा में सर्वप्रथम प्रचुररूप में विस्तार से विचार किया गया। तत्पश्चात् न्याय एवं व्याकरण में भी लक्षणा के ऊपर बहुविध विचार किया गया।

अन्य शास्त्रों में लक्षणा का विवेचन

मीमांसा-दर्शन में लक्षणा

मीमांसा विषयक ग्रन्थों में से **शाबरभाष्य, तन्त्रवार्तिक, तत्त्वबिन्दु, वाद-नक्षत्रमाला, मीमांसान्यायप्रकाश** आदि ग्रन्थ लक्षणाप्रतिपादक ग्रन्थों में से हैं।

न्याय-दर्शन में लक्षणा

गौतम के न्यायसूत्र के अतिरिक्त न्याय ग्रन्थों में **न्यायपरिशुद्धि, तर्कामृत, तर्कभाषा, भाषारत्न, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दशक्तिप्रकाशिका, शक्तिवाद, व्युत्पत्तिवाद** आदि ग्रन्थों में लक्षणा का वर्णन मिलता है।

व्याकरण-शास्त्र में लक्षणा

व्याकरण ग्रन्थों में **महाभाष्य, वाक्यपदीय, वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** आदि ग्रन्थों में लक्षणा का विवेचन सम्यक् रूप से हुआ है। एतद्विषयक टिप्पण विषयवर्णनावसर पर दिये जायेंगे।

---

1 निरुक्तमीमांसा, पृ. 450

वेदान्त-दर्शन में लक्षणा

वेदान्त विषयक ग्रन्थों में से **वेदान्तपरिभाषा, वेदान्तसार, वाक्यवृत्ति, तत्त्वप्रकाशिका, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, वेदान्तकल्पलतिका, वृत्तिप्रभाकर** आदि लक्षणा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

काव्यशास्त्र में लक्षणा

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा **रुद्रट** प्रभृति प्रारम्भिक आचार्यों के ग्रन्थों में शब्द-शक्ति की विस्तार से चर्चा तो उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु कतिपय शक्तियों का प्रसङ्गानुकूल उल्लेख अवश्य मिलता है। जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। काव्यशास्त्र में शब्दशक्ति विषय पर सविस्तार विचार प्रथमबार **आनन्दवर्धन** ने ही किया। काव्यशास्त्र की परम्परा में शब्दशक्तियों का प्रथमबार एकत्र व्यवस्थित, विशद विवेचन के साथ ही लक्षणा का भी प्राञ्जल एवं सर्वाङ्गीण विवेचन **आचार्यमम्मट** ने अपने ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में प्रस्तुत किया है। उनका **शब्दव्यापारविचार** नामक ग्रन्थ भी इसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ है।

यद्यपि **मम्मट** से पूर्व **आनन्दवर्धन** के **ध्वन्यालोक** में एवं **अग्निपुराण** तथा लक्षणा विरोधी **आचार्यमुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** नामक ग्रन्थ में लक्षणा विषय पर प्रकाश डाला जा चुका था, पर इन ग्रन्थों में एकसाथ सम्पूर्ण सामग्री संगृहीत न हो सकी। **मम्मट** के ग्रन्थों में लक्षणा विकासावस्था में पहुंच चुकी थी। तदनन्तर जिन ग्रन्थों में लक्षणा, किंचित् परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के साथ विस्तार को प्राप्त हुई वे हैं—

काव्यानुशासन, काव्यकल्पलतावृत्ति, साहित्यमीमांसा, शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, रसप्रदीप, चन्द्रालोक, एकावली, अलङ्कारमहोदधि, साहित्यरत्नाकर, प्रताप-रुद्रीय, अलङ्कारचिन्तामणि, काव्यपरीक्षा, साहित्यदर्पण, अलङ्कारसार अलङ्कारशेखर, अलङ्कारकौस्तुभ, वृत्तिवार्तिक, वृत्तिदीपिका, साहित्यसार, साहित्यसुधासिन्धु, काव्यदर्पण, रसगङ्गाधर, कोविदानन्द, त्रिवेणिका, भक्ति-(लक्षणा)विवेक, नञ्जराजयशोभूषण, रसचन्द्रिका, कल्पलताविवेक आदि कृतियां मुख्य हैं।

लक्षणा विरोधी आचार्य

ध्वनि-विरोधी किंवा लक्षणा-विरोधी आचार्यों ने यद्यपि लक्षणा का विरोध किया, किन्तु उस विरोध के स्वर में भी जहां लक्षणा विकसित हुई वे ग्रन्थ हैं—

अभिधावृत्तिमातृका, हृदयदर्पण (सम्प्रति अप्राप्य), व्यक्तिविवेक, सरस्वतीकण्ठाभरण, शृङ्गारप्रकाश आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थों में आचार्यों ने लक्षणा का अस्तित्व मिटाने या प्रत्याख्यान करने के लिए विवेच्य शब्दशक्ति का विश्लेषण करते हुए भी लक्षणा के विरोध में किंवा लक्षणा को अभिधा के अन्तर्गत करने के लिए अलग से ग्रन्थ ही लिख डाले। इस प्रकार का पूर्वोक्त प्रयास भी लक्षणा के विस्तार में सहायक ही सिद्ध हुआ।

लक्षणा का क्षेत्र एवं आवश्यकता

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अभिधा के होते हुए लक्षणा की क्या आवश्यकता थी ? साधारणत: लोकव्यवहार में भी प्राय: यह देखा जाता है कि पढ़े लिखे विद्वान् कभी कभी गोष्ठियों अथवा वार्तालाप के समय इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार करते हैं, जिनका प्रयोग ही सङ्गत प्रतीत नहीं होता, अर्थात् एक शब्द का अभिधेयार्थ शब्दान्तरों के साथ सङ्गत प्रतीत नहीं होता है। अनुपपत्ति के कारण श्रोता के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है कि वक्ता कहना क्या चाहता है ? वक्ता के कथन का प्रयोजन अथवा तात्पर्य क्या है ? इस प्रकार प्रतीत होने वाले वाक्यों में वक्ता मुख्य शब्द का प्रयोग न कर अमुख्य शब्दों को प्रयुक्त करता है। उसका कारण भी यही है कि जो प्रयोजन अमुख्य शब्द के प्रयोग के द्वारा ही शत-प्रतिशत प्राप्त हो सकता है, मुख्य शब्द से सम्भव नहीं है।

इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग वक्ता तभी करता है, जब भावों और विचारों में अत्यधिक तीव्रता हो या वक्ता कथन द्वारा रमणीयता लाना चाहे। ऐसी स्थिति में प्राय: वाच्यार्थ अशक्त सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में वक्ता ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो उस अर्थ के वाचक तो नहीं होते, किन्तु प्रयोग सामर्थ्य से उस अर्थ को अधिक सफलतापूर्वक कह देते हैं। इस प्रकार के बाधित शब्दों के प्रयोग में ही लक्षणा मानी गई हैं।[1]

---

1 वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित:।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥
—प्रकरणपंचिका, चौ. सं. बुक डिपो, बनारस, 1903 ई., पृ.13

अन्यच्च

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥
—काव्यप्रकाश, 51

इस प्रकार के प्रयोग करने के कुछ कारण विशेष हैं। एक तो रूढि दूसरा विशेष प्रयोजन। रूढि प्रसिद्धि को कहते हैं। रूढि का उदाहरण लावण्य है, 'लवणस्य भावो लावण्यम्' लवण के भाव अथवा लवणयुक्तत्व को लावण्य कहना चाहिए, जो इस शब्द का वाच्यार्थ या मुख्यार्थ है, किन्तु लावण्य शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में किया जाता है। इसका कारण प्रसिद्धि अथवा रूढि है। द्वितीय कारणविशेष, प्रयोजन के रूप में 'गङ्गायां घोषः' को ले सकते हैं। उक्त प्रयोग मुख्यार्थ की दृष्टि से पूर्णतः अनुपपन्न है, क्योंकि गङ्गा में झोपड़ी ठहर नहीं सकती है। तब इस वाक्य को वक्ता ने क्यों प्रयुक्त किया ? क्यों न कह दिया गया कि गङ्गा के किनारे झोपड़ी है। तथाकथित अनुपपन्न वाक्य कहने का विशिष्ट प्रयोजन यही है, जो 'गङ्गातटे घोषः' कहने में सिद्ध नहीं होता। वह प्रयोजन शीतत्वपावनत्वातिशय की प्रतीति कराना है, क्योंकि गङ्गा का किनारा एक विशाल क्षेत्र तक विस्तीर्ण होता है, जहां न शीतलता है और न पवित्रता ही, अतः उक्त प्रयोग उचित ही है।

घोष के गङ्गा प्रवाह में होने की बात से वक्ता यह बतलाना चाहता है कि घोष गङ्गा की धारा से इतना निकट है कि गङ्गा की शीतलता से सम्पृक्त होने के कारण वह गङ्गा जितना ही पवित्र है। इन सारे अर्थों का मूल कारण गङ्गापद ही है, जो अर्थ अभिधा द्वारा अनेक वाक्यों से भी नहीं लाया जा सकता है उस चारुतापूर्ण अर्थ की प्रतीति के लिये प्रयोजन को ध्यान में रख-कर वक्ता शब्द के सीधे अर्थ से संलग्न अन्य अर्थों को भी शब्दार्थ के भीतर समेटने का प्रयत्न करता है। जहां इस प्रकार का प्रयोजन होता है, वहां प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इस प्रयोजनरूप अर्थ को बतलाने वाला शब्द का अतिरिक्त व्यापार है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। ऐसी व्यञ्जनावादी आचार्यों की मान्यता है।

व्यञ्जना-शक्ति

5/5

वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त एक अन्य अर्थ प्रतीयमान पद से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः यह जो एक प्रतीयमान अर्थ है, उसकी प्रतीति एक व्यञ्जना नामक ऐसे व्यापार से होती है, जो शब्द में भी रहता है और अर्थ में भी, किन्तु जो न अभिधारूप होता है और न लक्षणारूप। इस प्रतीयमान का ज्ञान अनुमान से भी नहीं होता और न अर्थापत्ति से ही होता है। इस अर्थ की प्रतीति का कारण है व्यञ्जना, जो शब्द और अर्थ का

स्वतन्त्र व्यापार है। व्यञ्जना से ज्ञायमान अर्थ के व्यंग्य, गम्य, प्रतीत्य, ध्वनित एवं प्रतीयमान पांच व्यपदेश हैं।[1]

ध्वनि का लक्षण

सर्वप्रथम ध्वनि की स्थापना तथा उसका सम्यक् लक्षण **आनन्दवर्धन** ने किया है। उनका कथन है कि—'जहां अर्थ अपने आप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं वह काव्य-विशेष विद्वान् लोगों द्वारा ध्वनि कहा जाता है।'[2] यद्यपि **अग्निपुराणकार** ने ध्वनि की व्याख्या की है, किन्तु वह इतनी प्राञ्जल नहीं है।[3] **मम्मट** ने काव्यप्रकाश में ध्वनि की कोई निश्चित व्याख्या या परिभाषा नहीं की है, किन्तु काव्य के भेद-वर्णन के अवसर पर कहा है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारयुक्त होने पर यह जो काव्य उत्तम होता है, विद्वानों ने उसे ध्वनि नाम से अभिहित किया है।[4] साथ ही इन्होंने व्यञ्जना के अभिधामूला तथा लक्षणामूला इन दो भेदों को अलग-अलग लेकर स्वरूप निबद्ध किया है। यथा—संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार अभिधामूला व्यञ्जना कहलाता है।[5] इसी प्रकार **हेमचन्द्र**[6]

---

1 तृतीयो-व्यञ्जको, गमको, ध्वननो, द्योतकः, प्रत्यायकश्चेति व्यवह्रियते।
—त्रिवेणिका, पृ. 5

2 यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्यालोक, पृ. 102

3 श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति सचेतनः।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः॥
—अग्निपुराणः, पृ. 552

4 इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥ 1. 4
—काव्यप्रकाश, पृ. 28

5 अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥ 2. 19
—काव्यप्रकाश, पृ. 77

6 मुख्यार्थव्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः।
—काव्यानुशासन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1901 ई., पृ. 25

विजयवर्णी,[1] विश्वनाथ,[2] कविकर्णपूर,[3] पण्डितराजजगन्नाथ,[4] आशाधर-भट्ट[5] आदि आचार्यों ने भी व्यञ्जना का प्रतिपादन किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार श्रीधर ने इस ध्वननाभिधान व्यापार की उपस्थिति की व्याख्या की है।[6]

व्यञ्जना-वृत्ति की अनिवार्यता

प्रतीयमान अर्थ का बोध न अभिधा से होता है, न ही लक्षणा से। अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराकर विश्रान्त हो जाती है। अभिधा की सामर्थ्य नियतार्थबोधनावसानपर्यन्तावसायी है। लक्षणा यद्यपि संकेतितार्थ के अतिरिक्त अर्थ, लक्ष्यार्थ का बोधन करने में समर्थ है, किन्तु वह भी वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ को ही बोधन कर विश्रान्त हो जाती है। वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ को वह भी बोधित करने में समर्थ नहीं है, अतः

---

1 मुख्यार्थाल्लक्ष्यतो गौणाद् भिन्नो योऽर्थः प्रतीयते।
स व्यंग्यो ध्वनिरित्युक्तः कलाशास्त्रविशारदैः ॥ 24
शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 102

2 विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥
—साहित्यदर्पण, पृ. 121

3 अभिधालक्षणाक्षेपतात्पर्याणां समाप्तितः।
व्यापारो ध्वननादिर्यः शब्दस्य व्यञ्जना तु सा ॥ 2. 29
—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 49

4 योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥
—रसगङ्गाधर, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस, 1955 ई., पृ. 38

5 संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधीहेतुर्वृत्तिरञ्जना ॥ 1
—कोविदानन्द, सञ्चालक, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, अनुसंधान संस्थान, 1963 ई., पृ. 24

6 यत्राभिधालक्ष्ययोर्न योगस्तात्पर्यशक्तेरपि न प्रसक्तिः।
शब्दस्तत्र ध्वननाभिधानव्यापार एषोऽभिनवञ्चकास्ति ॥
—काव्यप्रकाश सटीक, (टी. श्रीधर), सम्पा. शिवप्रसाद भट्टाचार्य, पृ.43

लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता कहा गया है।[1]

न्याय-मीमांसादि शास्त्रों में वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का बोध भले ही लक्षणा से हो जायेगा, किन्तु सहृदय हृदयों को आल्हादित करने की क्षमता रखने वाले काव्य-जगत् में वाच्यार्थ से असम्बद्ध एवं प्रतीयमान अर्थ के बोधन के लिए व्यञ्जना नाम की अतिरिक्त वृत्ति काव्यमर्मज्ञों को स्वीकार करनी ही पड़ेगी, तथा स्वीकार की गयी है। प्राचीन आचार्यों के समर्थन में डॉ. नागर की विचारधारा भी उल्लेखनीय है।[2]

ध्वनि के विभिन्न अर्थ और लक्षण

वैय्याकरण स्फोट-व्यञ्जकों को ध्वनि कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति उन्होंने 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस रूप में की है। साहित्यशास्त्र के आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी ध्वनि शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ-विकास निम्न प्रकार से पांच अर्थों में कर दिया। वे हैं—अर्थ, शब्द, व्यापार, व्यंग्य तथा काव्य। 'ध्वनति' अर्थात् ध्वनन करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाच्य अर्थ 'ध्वनि' है। इसी प्रकार शब्द भी 'ध्वनति इति' व्युत्पत्ति से ध्वनि कहा जा सकता है। 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा व्यञ्जना व्यापार को भी ध्वनि कह सकते हैं। 'ध्वन्यतेऽसौ' इस व्युत्पत्ति से व्यंग्यार्थ भी ध्वनि नाम प्राप्त करता है। इसी प्रकार 'ध्वन्यतेऽस्मिन् इति' व्युत्पत्ति से काव्य की ध्वनि संज्ञा स्वीकार्य है। इन्हीं पांच व्युत्पत्तियों को करणत्व विवक्षा से भी प्रस्तुत किया जा

---

1 यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 159
अन्यच्च
अभिधैव मुख्यार्थे बाधिता सती अचरितार्थत्वात् अन्यत्र प्रसरति, तत्पुच्छभूतैव लक्षणा।
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44

2 एवं अभिधालक्षणाभ्यां नियतस्यैवार्थस्य प्रतीतेन्र्यायमीमांसादिशास्त्रेषु तयोरुपयोगः, परं सहृदयहृदयाह्लादके काव्ये वाच्यार्थलक्ष्यार्थातिरिक्त-प्रतीयमानार्थस्य परमाह्लादकत्वेन ग्राह्यत्वादभिधालक्षणाभ्यां न निर्वाहः। अतएव·······प्रतीयमानार्थप्रत्यायनार्थं व्यञ्जनानाम्न्यतिरिक्ता वृत्तिः काव्यशास्त्रज्ञैः स्वीक्रियते।
—नागर, रविशंकर, व्यञ्जनाविमर्श, वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977 ई., पृ. 60-61

सकता है, जिनमें प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जक शब्द ध्वनि है। द्वितीय के अनुसार व्यञ्जक अर्थ भी ध्वनि है। व्यञ्जना व्यापार को भी ध्वनि पद से व्यवहृत किया गया है, यह तृतीय व्युत्पत्ति है। चतुर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है। पञ्चम व्युत्पत्ति के अनुसार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान रूप से ध्वनित होने वाले अर्थ-विशेष से युक्त, समुदाय-रूप काव्य भी ध्वनि पद से व्यवहृत होता है।[1] सार रूप में कहा जा सकता है कि ध्वनि के अन्दर अर्थ भी आ जाता है, शब्द भी और व्यापार भी। अर्थ भी वाच्य और व्यंग्य दोनों प्रकार का होता है। जब हम 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस प्रकार की व्युत्पत्ति कर्तृवाच्य में करते हैं तब उसका अर्थ हो जाता है वाच्यार्थ। शब्द का समावेश भी इसी व्युत्पत्ति में हो जाता है। कर्मवाच्य का आश्रय लेने पर 'ध्वन्यते' पद व्यंग्यार्थ को प्रकट करता है। जब ल्युट् प्रत्यय का आश्रय लेते हैं अर्थात् 'ध्वननमिति', तब इसका अर्थ हो जाता है, शब्द और अर्थ का व्यापार। इन सबका समुदाय ही प्रधान होने के कारण काव्यरूप होता है और उसी को मुख्यतः ध्वनि पद से अभिहित किया जाता है।

साहित्यिकों ने इस ध्वनि का ध्वनित करना इस सामान्य धर्म को ग्रहण किया है और जितने भी ध्वनित करने वाले तत्त्व थे, उन सबका समावेश

---

1 अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 104-105

अन्यच्च

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्।

—वही, पृ. 141-142

(करणत्वविवक्षायां तु—ध्वन्यते व्यज्यतेऽनेन इति व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः, ध्वन्यते व्यज्यतेऽनया इति व्यञ्जनावृत्तिः ध्वनिः, ध्वन्यते इति व्यंग्यार्थो ध्वनिः, ध्वन्यते वाच्यापेक्षया प्राधान्येन अभिव्यज्यते यस्मिन्निति काव्यं ध्वनिः।)

ध्वनि में कर दिया। जिस प्रकार घण्टे की ध्वनि में अनुरणनरूपता होती है, उस अनुरणनरूप नाद को ध्वनि पद से व्यवहृत किया जा सकता है।[1]

आलङ्कारिकों ने इसी अनुरणन के, क्रम लक्षित होने तथा न होने के कारण ध्वनि को रस-वस्तु-अलङ्काररूपेण त्रिधा विभाजित किया है। इस प्रकार शब्दों की मुख्यत: तीन शक्तियां हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इनमें से वैय्याकरणों और आलङ्कारिकों के अतिरिक्त अन्य शास्त्र वाले प्राय: व्यञ्जना को नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार दो ही शक्तियां हैं—अभिधा और लक्षणा। व्यञ्जना की सिद्धि में वैय्याकरणों तथा आलङ्कारिकों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। विशेषरूप से आलङ्कारिकों ने लक्षण ग्रन्थों का ही प्रणयन कर डाला। निरर्थक हठ छोड़ दिया जाय तो व्यञ्जना अवश्य ही माननी पड़ती है। वैसे भी विदग्धजन तथा विशिष्टि कवि लोग अपनी रचनाओं में तथा वाणी के माध्यम से स्वकीय वार्तालाप आदि में भी इसका प्रयोग किया करते हैं। साधारण जन तो अभिधा का तथा चतुर लोग लक्षणा-वृत्ति का आश्रय लेते हैं, किन्तु विदग्धजन व्यञ्जनावृत्ति को ही अधिकतर उपयोग में लेते हैं।[2] अभिधा के द्वारा मुख्य अर्थ बतला भी दिया जाता है और वह किसी प्रकार बाधित या अनुपपन्न नहीं होता फिर भी उससे आगे वक्ता के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं, जिन्हें शब्द का ही अर्थ कहा जायेगा। उदाहरणार्थ 'गतोऽस्तमर्क:' अर्थात् सूर्य छिप गया। इसका मुख्य, अभिधा प्रतिपादित अर्थ तो यही है कि सायंकाल हो गया, परन्तु विभिन्न वक्ताओं के प्रकरणानुसार इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। गुरु ने अगर अपने छात्रों को उक्त वचन कहा तो उसका अर्थ यह हो सकता है कि अब प्रदोष का समय हो गया है, पढ़ना बन्द करो और सन्ध्यावन्दनादि कर्म करो। यदि किसी माता ने अपने बच्चों से कहा अथवा गोशालाध्यक्ष ने उक्त वाक्य तत्रत्य भृत्य को कहा, तो वहां प्रकरणानुसार खेलने मत जाओ, गायों को दुहो आदि हो सकते हैं। इस प्रकार और भी भिन्न-भिन्न संदर्भों में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि ये प्रयोजनरूप अर्थ भी शब्द के द्वारा प्रतिपादित होते

---

1 अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृत:।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ 3. 15
—ध्वन्यालोक, पृ. 376

2 शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नरा:।
व्यंजनां नर्ममर्मज्ञा: कवय: कमना जना: ॥
—त्रिवेणिका:, पृ. 33

हैं। वैसे भी कोई कार्य इस संसार में बिना किसी व्यापार किंवा सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं है। साहित्याचार्यों ने इस व्यापार का नाम व्यञ्जना रखा है और तदनुसार बतलाये गये उपर्युक्त अनेक प्रयोजन व्यंग्य कहलाते हैं।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति में औचित्य का स्थान

यहां भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति भिन्न-भिन्न प्रकरणों के सन्दर्भ के औचित्य के आधार पर ही होती है, अतः व्यंग्य की प्रतीति में भी मुख्य कारण औचित्य ही है। एक सन्दर्भ का औचित्य ही नहीं, अन्य भी अनेक सन्दर्भों के औचित्य व्यंग्य-प्रतिपत्ति में कारण होते हैं। जहां इस प्रकार की प्रतिपत्ति होती है, उसे आर्थी व्यञ्जना नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य आदि के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ का बोध होता है।[1]

व्यञ्जना और व्यंग्य

व्यञ्जना-व्यापार द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। व्यंग्य की प्रधानता से ध्वनि, अप्रधानता से गुणीभूतव्यंग्य होकर ये काव्य के भेद बन जाते हैं। व्यंग्य का राहित्य होने पर अलङ्कारयुक्त चित्र नामक काव्य का तीसरा भेद भी होता है। उसमें ध्वनि, किंवा उत्तम-काव्य नहीं होता है।

ध्वनि और व्यंग्य

क्या उक्त प्रकार से वर्णित ध्वनि एवं व्यंग्य पर्यायवाची शब्द हैं? ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' करने पर सम्पूर्ण प्रतीयमान व्यंग्यार्थ ध्वनि शब्द-वाच्य होते हैं। साधारणतया ध्वनि काव्य दो प्रकार का होता है—

1 अभिधामूलक 2 लक्षणामूलक

अभिधामूलक ध्वनि के मूलतः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य दो भेद होते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी शब्दशक्तिमूलक अर्थशक्तिमूलक तथा उभयशक्तिमूलक भेद से तीन प्रकार का होता है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य

---

1 वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ 3. 21
प्रस्तावदेशकालदेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ 3. 22
—काव्यप्रकाश, पृ. 82

(रसध्वनि) पदगत, पदांशगत आदि भेद से छः प्रकार का होता है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि भी पदगत एवं वाक्यगतादि भेद से चार प्रकार की होती है। अर्थशक्तिमूलकध्वनि मूलतः त्रिधा विभक्त होती है, इन तीनों के भी चार-चार भेद होने के कारण अर्थशक्तिमूलकध्वनि बारह प्रकार की होती है। शब्दार्थोभयशक्ति का एक ही भेद होता है। लक्षणामूलक (अविवक्षित-वाच्य) ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य व अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दोनों भेदों के पदगत एवं वाक्यगत भेद होने के कारण चार भेद होते हैं। इस प्रकार ध्वनि के मोटे तौर पर इक्यावन भेद होते हैं।[1] इन शुद्ध इक्यावन भेदों को एक दूसरे के साथ मिलाने पर तीन प्रकार के सङ्कर तथा एक प्रकार की संसृष्टि से और भी भेद होने के कारण 10404 भेद होते हैं। इन समस्त भेदों के साथ ध्वनि के शुद्ध इक्यावन (51) भेदों को मिला देने से भेदों की संख्या 10455 हो जाती है।[2]

उपसंहार

ऋग्वेद के **वाक्सूक्त** से लेकर **भर्तृहरि** के **वाक्यपदीय** तथा **दण्डी** के **काव्यादर्श** तक शब्द की महिमा सभी ने समवेत स्वर में अङ्गीकार की है। मीमांसकों ने शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना है। **महाकविकालिदास** ने **रघुवंश** के मङ्गलाचरण में शब्द और अर्थ के अयुत-सम्बन्ध का एक उपमान के रूप में उल्लेख किया है। शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध को आधार बनाकर जिस शब्दशक्ति का प्रतिपादन किया गया है, उनमें मुख्य अभिधा निरन्तरार्थनिष्ठ होने के नाते जिस अर्थ का बोध कराती है, वही अर्थ शब्द के साथ नित्य सम्पृक्त रहता है। लक्षणा एक ऐसी शक्ति है, जो सव्यवधानार्थनिष्ठ होने के कारण ऐसे अर्थ का बोध कराती है, जो शब्द से नित्य संपृक्त नहीं है। **मम्मट** जैसे मुख्य अलङ्कारशास्त्री यह स्वीकार करते हैं, कि शब्द वाच्यार्थ से आगे जाकर भी अर्थ का बोध कराता है—इस सिद्धान्त के

---

1 भेदास्तदेकपञ्चाशत्।

—काव्यप्रकाश, पृ. 186

2 तेषां चान्योन्ययोजने।

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया। वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (1-0-4-0-4) शरेषुयुगखेन्दवः (1-0-4-5-5)॥ 4. 44

—काव्यप्रकाश, पृ. 187

प्रतिपादन में ध्वनि सिद्धान्त का अग्रणी वैय्याकरणों का स्फोटवाद का सिद्धान्त रहा है।

आलङ्कारिकों में कुछ आचार्य ऐसे हैं जो अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शब्द-शक्तियों को नहीं मानते हैं। उदाहरणतः **मुकुलभट्ट** अभिधा को ही दशधा विभक्त कर शेष शब्द-शक्तियों को उसी में अन्तर्भूत कर देते हैं। **महिमभट्ट** वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त अर्थों की प्रतीति शब्दशक्ति का कार्य न मानकर अनुमान का कार्य मानते हैं। इन आचार्यों के मत का विशद विवेचन हम परिशिष्ट में अलग से करेंगे। यहां यह कहना पर्याप्त है कि बहुसंख्यक अलङ्कारशास्त्री तथा दार्शनिक लक्षणा को स्वीकार करते हैं।

जहां तक व्यञ्जना-शक्ति का सम्बन्ध है, नैयायिक इसका कार्य अनुमान द्वारा सम्पन्न होना मानते हैं। मीमांसकों में अभिहितान्वयवादी **भट्टकुमारिल** तथा **पार्थसारथिमिश्र** व्यञ्जना को न मानकर तात्पर्यवृत्ति को तृतीय शब्द-शक्ति मानते हैं। अन्विताभिधानवादी **प्रभाकरमिश्र** और **शालिकनाथमिश्र** केवल अभिधा और लक्षणा दो शब्दशक्तियों को ही स्वीकार करते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर आचार्यों के द्वारा शक्ति और वृत्ति शब्द का प्रयोग किन किन अर्थों में किया गया है—इसका रोचक इतिहास है। **श्रीनिवासाचार्य** ने **न्यायपरिशुद्धि** में वृत्ति से अभिधा और उपचार (लक्षणा) दोनों को लिया है। । **मंखक** व **शारदातनय** क्रमशः **साहित्यमीमांसा** तथा **भावप्रकाशन** में पदों के व्यापार को वृत्ति मानते हुए वृत्ति से अभिधा, लक्षणा और गौणी वृत्ति को लेते हैं। **अजितसेन** और **विश्वनाथ** ने क्रमशः **अलङ्कारचिन्तामणि** तथा **साहित्यदर्पण** में वृत्ति से अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को लिया है। **कणादतर्कवागीश भाषारत्न** में वृत्ति के दो भेद करते हैं—शक्ति तथा लक्षणा। आलङ्कारिक **केशवमिश्र** ने **अलङ्कारकौस्तुभ** में वृत्ति से अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को तथा शक्ति से अभिधा को लिया है।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार विश्वनाथ शक्ति से पद और पदार्थ के सम्बन्ध को परिगृहीत करते हैं। **मौनिश्रीकृष्णभट्ट** ने शक्ति तथा वृत्ति का भेद बतलाते हुए कहा है कि एक वस्तु के गुणरूप तथा क्रियारूप व्यापार के कारण शब्दशक्ति एवं शक्तिवृत्ति ये दो नाम हो जाते हैं। धर्मसूरि शक्ति को सम्बन्ध के रूप में मानते हैं। **भोज**, **शृङ्गारप्रकाश** में शक्ति से शब्दसम्बन्ध और **सरस्वतीकण्ठाभरण** में वृत्ति से लक्षणा को लेते हैं। **भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट** ने वृत्ति से अभिधा को गृहीत किया है तो **आशाधरभट्ट** ने भी **त्रिवेणिका** में शक्ति से अभिधा को लिया है।

नव्य-वैय्याकरण ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त वाचकरूप पद और पदार्थ के सम्बन्ध को भी शक्ति मानता है। मीमांसकों की मान्यता के अनुसार शक्ति एक अलग ही पदार्थ है, जो संकेतपदाभिधेय है, प्रत्येक पद में भिन्न रूप है तथा अनन्तरूप और अनादि भी है। वह्नि आदि भौतिक पदार्थ की शक्ति ज्ञानाभाव में भी दाहादि कार्य करती है, किन्तु पद-पदार्थ-शक्ति ज्ञानाभाव में प्रसारित नहीं होती है।

आलङ्कारिकों के अनुसार संकेतितार्थ की बोधिका शक्ति अभिधा है। कभी-कभी शक्ति पद अभिधा के लिये ही प्रयुक्त होता है। संकेतितार्थ का बोधन नैयायिकों के अनुसार ईश्वरेच्छा से होता है। मीमांसकों को ईश्वर की सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है, अतः उन्होंने नैयायिक मत के प्रति अपनी विमति प्रकट की है। वैय्याकरण ईश्वरेच्छा से शक्तिग्रह होना न मानकर वोधजनकता को शक्ति मानते हैं। इस मतभेद में हम आधुनिक भाषाविज्ञान द्वारा उत्थापित भाषा कि उद्‌भव सम्बन्धी समस्या की छाया देख सकते हैं।

एक ही शब्द उपाधि भेद से वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीनों नामों से अभिहित होता है। जहां तक लक्षणा का सम्बन्ध है, **शोभाकरमिश्र** और **जयदेव** जैसे आचार्य लक्षणा को काव्य का जीवित और अलङ्कार का अंकुर मानते हैं।

ऐतरेयब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग है। **यास्क** ने भक्ति शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से लक्षणा के अर्थ में किया है। **आनन्दवर्धन** भक्ति का अर्थ उपचार करके यह स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति लक्षणा ही है। इस प्रकार लक्षणा विषयक विचार-विमर्श का उद्‌गम वैदिक साहित्य में खोजा जा सकता है। लक्षणा, अभिधा और व्यञ्जना की मध्यवर्ती शक्ति होने के नाते दोनों ही शक्तियों से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध से जहां एक ओर लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता कहकर अभिव्यक्त किया गया है, वहां दूसरी ओर ध्वनि का एक भेद ही लक्षणा मूलक माना गया है।

द्वितीय अध्याय

आकर स्रोत ग्रन्थ

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में लक्षणा के विषय से सम्बन्धित जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उनके कर्ता तथा कृतियों के विषय में आवश्यक जानकारी हेतु ऐतिहासिक क्रम से विवरण प्रस्तुत किया जाना आवश्यक समझते हुए निम्न प्रकार से तत्तत् आचार्यों के काल एवं कृतियों के विषय में विवरण उपन्यस्त किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध में इन आचार्यों की कृतियां ही मूल-स्रोत ग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त हुई हैं।

गौतम (600 ई० पू०)

गौतम विरचित न्यायसूत्र में, वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल भेद से छल को तीन प्रकार का बताया गया है। अर्थ के साथ शब्द के सम्बन्ध (शक्ति अथवा लक्षणा) को धर्म कहते हैं और धर्म विकल्प (विरुद्ध कल्पना) का निर्देश (कथन) करने पर अर्थ (वक्ता के कहे) का प्रतिषेध (खण्डन) उपचारछल कहलाता है। उपचारछल[1] के अन्तर्गत 'मञ्चाः क्रोशन्ति' उदाहरण को दिया गया है। यद्यपि लक्षणा का विस्तार यहां नहीं पाया जाता, उसके स्रोत अवश्य उपलब्ध हैं।

पतञ्जलि (150 ई० पू०)

पतञ्जलि, जिन्हें व्याकरण के मुनित्रय में अन्तिम माना जाता है, उन्होंने महाभाष्य नामक व्याकरण विषयक प्रौढ ग्रन्थ की रचना की। पतञ्जलि के महाभाष्य का गद्य अनुकरणीय तथा लालित्यपूर्ण, संक्षिप्त और प्रसाद गुण के लिए उल्लेखनीय है। वैसे संस्कृत वाङ्मय में पतञ्जलि के नाम पर तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं—सामवेदीयनिदानसूत्र, योगसूत्र तथा महाभाष्य।[2]

---

1 धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्। 1. 2. 14
—न्यायसूत्र, गौतम, (संपा. सुखदयाल शास्त्री), 1985 ई., पृ. 67-68

2 सहाय, राजवंश, संस्कृतसाहित्यकोश, चौ. सं. सी. आ. वाराणसी, 1973 ई., पृ. 267

महाभाष्य में मुख्यार्थ व लक्ष्यार्थ के विषय में भी वर्णन समुपलब्ध होता है।

भामह (400-600 ई०)

अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में **भामह** काव्यशास्त्र के आद्याचार्य हैं। साहित्यशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों में **आनन्दवर्धन** से पूर्व शब्द-शक्तियों की चर्चा नाममात्र से की गई है, तथापि **भामह** ने **काव्यालङ्कार** में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया तथा प्रतिवस्तूपमालङ्कार के सन्दर्भ में व्यञ्जना की सत्ता को भी स्वीकार किया है।[1]

भर्तृहरि (575-651 ई०)

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। शोध-विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ **वाक्यपदीय** में भाषाशास्त्र एवं व्याकरण दर्शन से सम्बद्ध कतिपय मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं तथा उनका समाधान भी किया गया है। रूढि, जहत्स्वार्था, लक्षणा, ध्वनि आदि विषयों को द्वितीय काण्ड में विवेचित किया गया है। **वाक्यपदीय** में तीन काण्ड हैं—आगम या ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड एवं पदकाण्ड। ब्रह्मकाण्ड में अखण्डवाक्य-स्वरूप स्फोट का विवेचन है। इस समय इसका प्रथम काण्ड ही उपलब्ध है—**वाक्यपदीय** पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। स्वयं **भर्तृहरि** ने भी इसकी स्वोपज्ञ टीका लिखी है। इसके अन्य टीकाकारों में **वृषभदेव** एवं **धनपाल** विरचित टीका अनुपलब्ध है। **पुण्यराज** (11वीं शताब्दी)ने द्वितीय काण्ड पर स्फुटार्थक टीका लिखी है। **हेलाराज** (11 वीं शताब्दी) ने **वाक्यपदीय** के तीनों काण्डों की टीका विस्तार से लिखी, किन्तु इस समय केवल तृतीय-काण्ड ही उपलब्ध होता है। इसमें 1325 श्लोक हैं। **भर्तृहरि** शब्द-शक्तियों की बहुमान्य धारणाओं को स्वीकार नहीं करते हैं और किसी भी अर्थ को मुख्य या गौण नहीं मानते। उनके अनुसार—अर्थविनिश्चय के आधार हैं—वाक्य, प्रकरण, अर्थ, साहचर्य आदि। उनके अनुसार जब कोशों में निश्चित किए गए अथवा प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा प्राप्त अर्थों से कुछ भी निश्चय नहीं होता है, तो प्रतिभा, अभ्यास, बिनियोग एवं लोकप्रयोग के द्वारा अर्थ का बिनिश्चय होता है।[2]

---

1 कियन्त: सन्ति गुणिन: साधुसाधारणश्रिय: ।
स्वादुपाकफलानम्रा: कियन्तो वाध्वशाखिन: ॥ 2. 36
—काव्यालंकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1962 ई., पृ. 44

2 सहाय, राजवंश, संस्कृतसाहित्यकोश, पृ. 297

दण्डी (660-720 ई.)

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में **दण्डी** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा विरचित **काव्यादर्श** में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम में काव्यलक्षण आदि तथा द्वितीय एवं तृतीय में अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। **दण्डी** की गुणस्थापना और अलङ्कारनिरूपण साहित्यिकों को आकर्षित करते हैं। उक्त अलङ्कारों के निरूपण के अन्तर्गत लक्षणा विषयक विवेचन प्राप्त होता है। **दण्डी** ने समाधि नामक गुण का विवेचन करते हुए भी लक्षणा के विषय में कहा तो है, पर लक्षणा के निमित्त की चर्चा यहां पर भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।[1]

कुमारिलभट्ट (650-750 ई.)

मीमांसादर्शन के भाट्टमत के प्रतिष्ठापक **आचार्य कुमारिलभट्ट** के **शाबरभाष्य** की वृत्ति के रूप में तीन ग्रन्थ प्रख्यात हैं।[2]

1 **श्लोकवार्तिक** — कारिकाबद्ध विपुलकाय ग्रन्थ, **शाबरभाष्य** के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद का व्याख्यान।

2 **तन्त्रवार्तिक** — गद्यात्मक-कृति, **शाबरभाष्य** के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय पर्यन्त व्याख्यान ग्रन्थ।

3 **टुप्टीका** — **शाबरभाष्य** के अन्तिम नौ अध्यायों पर कृत टिप्पणी।

उक्त तीनों ग्रन्थों में लक्षणा की व्याख्या मीमांसा शास्त्रपरक हुई है। तथापि **कुमारिल** ने **तन्त्रवार्तिक** में लक्षणा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। प्राचीन समय में ऋषिलोग गोष्ठीरूप वेदार्थ की मीमांसा वाद-प्रतिवाद के माध्यम से किया करते थे। अभिधा से सङ्गत अर्थ की प्राप्ति न होने पर जो अन्य रास्ते निकाले गये हैं, उन्हें 'दोष' कहा गया है। लक्षणा, वाक्यभेद, विपरिणाम, अध्याहार, अनुषङ्ग, व्यवधारण एवं कल्पना, उन दोषों का

---

1 अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ 1. 93
—काव्यादर्श, पृ. 72

2 उपाध्याय, बलदेव, भारतीय-दर्शन, चौखम्बा ओरियण्टालिया, देहली, 1979 ई., पृ. 311

तारतमिक क्रम है।[1] यह लक्षणा पददोष के रूप में गृहीत थी। **तन्त्रवार्तिक** के प्रथमाध्याय के अन्तर्गत चतुर्थपाद के बाईसवें सूत्र में लक्षणा एवं गौणीवृत्ति का भिन्न-भिन्न रूप में लक्षण किया गया है। तृतीयाध्याय में निरूढा लक्षणा के भेद भी बतलाये गये हैं।

प्रभाकरमिश्र (700 ई.)

गुरुमत के संस्थापक **प्रभाकर** ने अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठापना करने के लिए **शाबरभाष्य** के ऊपर दो टीकाओं का निर्माण किया, जिन्हें **बृहती** या **निबन्धन** एवं **लघ्वी** या **विवरण** कहते हैं। द्वितीय ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। **शाबरभाष्य** में **शबरस्वामी** ने वाक्यार्थ की लक्ष्यता के विषय भी प्रतिपादित किये हैं। उनका कथन है कि पदार्थ अपने अपने अर्थों का अभिधान कर अपनी क्रिया समाप्त कर देते हैं। पश्चात् अवगत पदार्थ वाक्यार्थ की प्रतीति लक्षणा वृत्ति से कराते हैं। परवर्ती आचार्यों के समान लक्षणा के भेद-प्रभेद इसमें उपलब्ध नहीं होते हैं।

वामन (8वीं शताब्दी)

वामन ने प्रसिद्ध-ग्रन्थ **काव्यालङ्कार** के सूत्रों की वृत्ति की रचना की। यह ग्रन्थ **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति** नाम से अधिक प्रसिद्ध है। **वामन** 'सादृश्य-निबन्धना लक्षणा' को वक्रोक्ति पद से अभिहित करते हैं।[2] **वामन** प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालङ्कारों में स्थान दिया तथा लक्षणा को सादृश्यनिबन्धना अर्थात् गुण-योग से होने वाली (गौणी) तथा असादृश्यनिबन्धना लक्षणा (शुद्धा) के रूप में द्विधा प्रकल्पित कर लिया। प्रथम अर्थात् सादृश्य-निबन्धन से होने वाली लक्षणा को इन्होंने वक्रोक्ति माना है।

---

1 त्रिपाठी, राममूर्ति, लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2023, पृ. 88

2 तत्र सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिरसाविति····असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1954 ई., पृ. 235-237

रूपकालङ्कार की चर्चा में गौणी का उल्लेख भी किया है ।[1] पांच अधिकरणात्मक उक्त ग्रन्थ में बारह अध्याय तथा तीन सौ उन्नीस सूत्र हैं । इस पर लेखक ने स्वयं **कविप्रिया** नाम से वृत्ति लिखी है ।[2] यह भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें सूत्रशैली का प्रथम प्रयोग किया गया है । **वामन** ने गुण, दोष, रीति के माध्यम से भी लक्षणा वर्णित की है । वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार मानकर 'लक्षणा सादृश्यगर्भा' को उसका लक्षण माना है । इनका यह लक्षण ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्व सूचना का द्योतक है ।[3]

शङ्कराचार्य (788 ई०)

आचार्य शङ्कर के ग्रन्थों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है । भाष्य, स्तोत्र एवं प्रकरणग्रन्थ । प्रकरणग्रन्थों के अन्तर्गत रचित **वाक्यवृत्ति** नामक वृत्ति में तिरपन श्लोकों में 'तत्त्वमसि' वाक्य का विशद विवेचन है । इसी सन्दर्भ में लक्षणा लक्षण-पुरस्सर सभेद वर्णित की गयी है ।

उद्भट (8वीं शताब्दी)

उद्भट काश्मीरी राजा **जयापीड** (779-813 ई.) के सभापण्डित थे । ये प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतन के रूप में राजा से पाते थे ।[4] **उद्भट** विरचित **काव्यालङ्कारसारसंग्रह** नामक कृति में लक्षणा की चर्चा परवर्ती आचार्यों के समान नहीं मिलती तथापि रूपकालङ्कार के वर्णन के उपक्रम में गुणवृत्ति शब्द के प्रयोग-पुरस्सर लक्षणा के महत्त्वपूर्ण अस्तित्व को माना

---

1 यथा च गौणस्यार्थस्यालङ्कारत्वम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1954 ई., पृ. 253

2 प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 4

3 सहाय, राजवंश, अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1960 ई., पृ. 47

4 विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥ 4. 495
—राजतरङ्गिणी, वि. वै. शो. संस्थान, होशियारपुर, पञ्जाब, 1963 ई., पृ. 166

गया है, जिसे उद्भट के लक्षणा विषयक विवेचन में विस्तार से वर्णित किया जाएगा। **आनन्दवर्धन** से पूर्व शब्द-शक्ति विवेचन नाम से कोई प्रकरण प्राप्त नहीं होता है। गुण, दोष तथा अलङ्कार के वर्णन के उपक्रम में शब्द-शक्ति वर्णित की गयी है **काव्यालङ्कारसारसंग्रह** पर **प्रतिहारेन्दुराज** ने **लघुवृत्ति** नामक टीका लिखी है, जिसमें लक्षणा का स्पष्टत: उल्लेख पाया जाता है।

रुद्रट (825-875 ई.)

रुद्रट अलङ्कार शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। **रुद्रट** विरचित **काव्यालङ्कार** में यद्यपि विवेचन अलङ्कार-परक है, फिर भी ध्वनि के बीजों से युक्त होने के कारण इनकी गणना लक्षणा-समर्थक आचार्यों की कोटि में की गई है। इतने रूप में ही ये लक्षणा से सम्बन्धित हैं।

आनन्दवर्धन (855-885 ई.)

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री एवं ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक **आनन्दवर्धन** काश्मीर के राजा **अवन्तिवर्मा** के सभा-पण्डित थे।[1] उनकी प्रसिद्धि **ध्वन्यालोक** नामक अमर कृति के कारण है। यद्यपि **आनन्दवर्धन** से पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीनों वृत्तियां भी प्रचलित थीं, किन्तु **आनन्दवर्धन** ने उक्त वृत्तियों से लभ्य अर्थ से अतिरिक्त एक अन्य चतुर्थ अर्थ के द्योतक, व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर, व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुये, ध्वनितत्त्व का प्रतिष्ठापन किया। बीजरूप में संभवत: ध्वनि-सिद्धान्त **आनन्दवर्धन** के पूर्व से ही चला आ रहा हो? किन्तु उसका सुसम्बद्धरूप तथा साथ ही लक्षणा का भी भक्ति के रूप में अंकुरित, भेदरूप में विकसित, रूप भी **ध्वन्यालोक** की कारिकाओं में पहली बार उपलब्ध होता है। शोध-विषय से सम्बद्ध **ध्वन्यालोक** में व्यञ्जना पर विचार किया गया है। प्रथम उद्योत में ध्वनि का स्वरूप बतलाते हुए ध्वनि को काव्य का एकमात्र प्राणभूततत्त्व स्वीकार किया गया है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेदों का वर्णन तथा उसी के एक प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रस का निरूपण है। तृतीय उद्योत ग्रन्थ का सबसे बड़ा अंश है, जिसमें ध्वनिभेद एवं रीति, वृत्तियां भी विवेचित की

---

1 मुक्ताकणः शिवः स्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ 5. 34
—राजतरङ्गिणी, पृ. 193

गई हैं। चतुर्थ उद्योत में ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता एवं उसका महत्त्व वर्णित किया गया है। व्यञ्जना की व्याख्या हेतु लक्षणावृत्ति का आश्रय अनेक बार लिया गया है। दोनों का स्वरूप एवं विषय की दृष्टि से भेद भी विशद रूप में निरूपित किया गया है।

मुकुलभट्ट (857-884 ई.)

मुकुलभट्ट विरचित **अभिधावृत्तिमातृका** में केवल पन्द्रह कारिकाएं हैं। पन्द्रह कारिकाओं में अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है, किन्तु लक्षणा को अभिधा का एक अङ्ग स्वीकार किया गया है। उन पर स्वयं **मुकुलभट्ट** ने विस्तृत वृत्ति लिखी है।

उक्त ग्रन्थ कलेवर की दृष्टि से लघु होते हुए भी प्रौढ़ एवं पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं अभिधा तथा लक्षणा का निरूपण किया गया है। लक्षणा सलक्षण व भेद-पुरस्सर वर्णित की गयी है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। **मुकुलभट्ट** का यद्यपि अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी साहित्य के क्षेत्र में इनका स्थान उल्लेखनीय अवश्य है। लक्षणा को ये ईश्वरानुद्भावित मानते हैं। वह अर्थानुसंधान द्वारा जानी जाती है, अतः शब्द में आरोपिता क्रिया ही लक्षणा है, क्योंकि शब्द में अभिधा स्वयं विराजती है। ये लक्षणा को स्वतन्त्र-वृत्ति नहीं मानते अपितु उसका अभिधा में अन्तर्भाव करते हैं। उक्त कृति की विशेषता है—लक्षणा के प्रभेदों का वर्गीकरण, जो **मम्मट** को भी प्रभावित किये हुए है।

वाचस्पतिमिश्र (9 वीं शताब्दी)

लक्षणा विषय से सम्बद्ध **वाचस्पतिमिश्र** विरचित **तत्त्वबिन्दु** में लक्षणा संक्षिप्त रूप में वर्णित की गई है। ये लोकवत् वैदिक पद-सन्दर्भों में भी लक्षणा से विशिष्ट अर्थान्तर की प्रतीति मानते हैं।[1]

अग्निपुराणकार (9वीं शताब्दी)

अग्निपुराण के कर्ता एवं समय का विषय दोनों ही विवादास्पद हैं। कतिपय विद्वान् इसके कर्ता के रूप में व्यास का नाम भी लेते हैं। इसी प्रकार

---

1 तस्माल्लोकानुसारेण वैदिकस्यापि पदसन्दर्भस्य……लक्षणया विशिष्टार्थगमकत्वम्।

—तत्त्वबिन्दु, पृ. 28

उक्त ग्रन्थ को नवम शताब्दी के आसपास का संग्रह-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार ध्वनि का इस पर प्रभाव माना जायेगा। यदि **ध्वन्यालोक** से पूर्व इस कृति का प्रणयन माना जाय, तो अभिधा तथा लक्षणा के विकास में इसका महनीय योगदान माना जा सकता है। उक्त ग्रन्थ में 337-347 तक के अध्यायों में विभिन्न काव्यशास्त्रांग वर्णित हैं। तदन्तर्गत शब्दार्थालङ्कार प्रकरण के अन्तर्गत अभिव्यक्ति नामक अलङ्कार के वर्णन के साथ ही श्लोक सात से उन्नीस तक अभिधा, लक्षणा तथा ध्वनि पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है।

भट्टनायक (9–10वीं शताब्दी)

भट्टनायक रस-सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रख्यात टीकाकार हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र के चार व्याख्याकारों की श्रेणी में तीसरी संख्या में **भट्टनायक** को **काव्यप्रकाश** में उद्धृत किया गया है। इन्होंने **हृदयदर्पण** नामक ग्रन्थ में रसविषयक अपने मत के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को विध्वंस करने की चेष्टा की है। यद्यपि **हृदयदर्पण अप्राप्य** है, किन्तु **ध्वन्यालोक** पर **श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य** की लोचन-व्याख्या में और **हेमचन्द्र** के **काव्यानुशासन** एवं **अलङ्कारसर्वस्व** पर **जयरथ** विरचित **विमर्शिनी** टीका में **भट्टनायक** के ध्वनि-विरोधी बहुत से उद्धरण **हृदयदर्पण** से उद्धृत करके उनका खण्डन किया गया है। **भट्टनायक** ने रसध्वनि को स्वीकार किया है और वस्तुध्वनि का खण्डन किया है।[1] इनके मतानुसार शब्द की तीन शक्तियां हैं—अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व। **भट्टनायक** व्यञ्जना और लक्षणा को स्वीकार नहीं करते हैं, अतः ध्वनि अथवा लक्षणा विरोधी आचार्यों की कोटि में आते हैं। **भट्टनायक** रसवादी होते हुए भी ध्वनि-विरोधी थे। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के उन्मूलन के लिए ही **हृदयदर्पण** की रचना की थी। **भट्टनायक** ने काव्य को शब्दात्मक व्यापार मानते हुए काव्य की उक्त तीन शक्तियों का ही उल्लेख किया और बताया कि इनके द्वारा ही रस की प्रतीति होती है,[2] अतः **भट्टनायक** को भी लक्षणा तथा ध्वनि-विरोधी आचार्यों की कोटि में गिना जाता है।

---

1 वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किञ्च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्॥

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 68-69

1 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, परिशिष्ट, लक्षणा-विरोधी आचार्य।

धनिक (976-1000 ई.)

नाट्यशास्त्र के आचार्य **धनिक** और **धनञ्जय** दोनों सहोदर भाई थे। **धनञ्जय** ने अपने पिता का नाम **विष्णु** बताया, जो **राजा मुञ्ज** की गोष्ठी के सदस्य थे।[1] **मुञ्ज** का समय 974-996 ई. माना जाता है, अतः ये दशवीं शदी के अन्त में विद्यमान थे। **धनञ्जय** का ग्रन्थ **दशरूपक** है। इसमें चार प्रकाश हैं। धनिक ने उस पर विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित अवलोक नामक टीका लिखी है। अन्तिम चतुर्थ प्रकाश में रस-विवेचन के उपक्रम में व्यञ्जना व रस-निष्पत्ति के विषय में उन्होंने व्यञ्जनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्य-वाद का समर्थन किया है।[2] ये दोनों ही आचार्य व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। इनके मत से तात्पर्यवृत्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है। अर्थात् ये व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से पृथक् नहीं मानते हैं। इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्य-शक्ति में करने का प्रयास किया है। **लोल्लट** के दीर्घदीर्घतराभिधाप्यापार के समर्थक होने के कारण इन्हें ध्वनि अथवा लक्षणा विरोधी आचार्यों की कोटि में गिना गया है।

अभिनवगुप्त (11वीं शताब्दी)

अभिनवगुप्त भारतीयदर्शन एवं साहित्यशास्त्र के अद्वितीय प्रतिभाशाली आचार्य थे। इनके साहित्यशास्त्र सम्बन्धी दो व्याख्या-ग्रन्थ— **अभिनवभारती**, **ध्वन्यालोकलोचन** अत्यन्त प्रौढ एवं पाण्डित्यपूर्ण हैं, जिनमें मौलिक ग्रन्थों की सी तलस्पर्शिता प्रदर्शित होती है। **लोचन** टीका के माध्यम से **ध्वन्यालोक** के कठिन अंशों का स्पष्टीकरण ही नहीं हुआ, अपितु इसकी मौलिक विचारधारा ध्वनि-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में अतीव सहायक सिद्ध हुई। गुप्तजी ने काव्य में रस-तत्त्व को अधिक महत्त्व प्रदान कर उसकी मुख्यता प्रदर्शित की है। रस को काव्य की आत्मा मानकर इन्होंने उसकी व्यञ्जना, ध्वनि-रूप में की है तथा **आनन्दवर्धन** के रसध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया है।

शोध-विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ **ध्वन्यालोकलोचन** में अनेक स्थलों पर लक्षणा की चर्चा तो की गयी है, किन्तु नवीन प्रभेदों की चर्चा नहीं पायी जाती है। वस्तुतः लक्षणा-विषयक भेदवर्णन का विस्तार से यद्यपि इन्हें अवसर प्राप्त नहीं

---

1 विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥ 4. 86
—दशरूपक, साहित्यनिकेतन, कानपुर, 1966 ई., पृ. 422

2 सहाय, राजवंश, अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, पृ. 92

था, तथापि निरूढ़ा, लक्षणा, गौणी आदि प्रसङ्गतः वर्णित की गयीं हैं। उक्त कृति में लक्षणा के लिए जहां भक्ति शब्द का प्रयोग किया है, वहां गुणवृत्ति और उपचार शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। इस प्रकार लोचनकार ने उपचार शब्द का प्रयोग कर भक्ति के समान ही गुणवृत्ति एवं लक्षणा का का समावेश उपचार की परिधि में करने का प्रयत्न किया। साथ ही गौण तथा लाक्षणिक का भी स्पष्ट भेद प्रदर्शित किया। भक्ति शब्द से आलङ्कारिकों की लक्षणा और मीमांसकों की गौणी, दो प्रकार की शब्द-शक्तियों का, ग्रहण होता है। इनसे प्राप्त होने वाले लक्ष्य और गौण दोनों ही अर्थ भक्ति से गृहीत होते हैं।

भोजराज (11वीं शताब्दी)

भोज ने काव्यशास्त्रविषयक जिन दो प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, उनके नाम हैं—**शृंगारप्रकाश** तथा **सरस्वतीकण्ठाभरण**। इन ग्रन्थों में काव्यस्वरूप, काव्यभेद, रस, अलङ्कार, नाटक, रीति, वृत्ति, साहित्य, शब्द-शक्ति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में अनेक ऐसे अलङ्कारों का वर्णन है, जिनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें शक्ति की चर्चा कहीं उपलब्ध नहीं होती है। प्रसङ्गतः द्वितीय परिच्छेद में शब्दालङ्कार पर विचार करते हुए शय्या के षड्विध प्रभेदों में प्रकीर्णघटना की चर्चा के अवसर पर मुख्या, गौणी, लक्षणा, तद्भावापत्ति, उपचरिता, लक्षणलक्षणा जैसी शब्दवृत्तियों का समुल्लेख आता है।[1] ये लक्षणा को अभिधा से पृथक नहीं मानते हैं। अभिधा के ही तीन भेद मानते हैं—मुख्या, गौणी, लक्षणा, अतः इन्हें ध्वनि विरोधी आचार्यों की कोटि में लिया गया है।

मम्मट (1050-1100 ई.)

मम्मट विरचित **काव्यप्रकाश** को संस्कृत-साहित्यशास्त्र का मेरुदण्ड माना जाता है। इसमें दस उल्लास हैं। लक्षणा का विवेचन विस्तार के साथ

---

1 प्रकीर्ण-शब्दश्चायं शेषवाची.......। तेन या इमा महाकविप्रबन्धेषु मुख्यागौणीलक्षणास्तद्भावापत्तिरुपचरिता लक्षितलक्षणेति शब्दवृत्तयस्ता अपीह श्रूयन्ते।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, (टीका-रत्नेश्वर), चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1976 ई., पृ. 275

द्वितीय उल्लास में किया गया है। **शब्दव्यापारविचार** उनकी साहित्यशास्त्रीय दूसरी कृति है। यह ग्रन्थ **मुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** की प्रक्रिया में लिखा गया है। इसमें केवल शब्द-वृत्तियों का विवेचन किया गया है। विषय की दृष्टि से इसमें **काव्यकप्राश** का द्वितीय उल्लास तथा पञ्चम उल्लास का भी कतिपय अंश विवेचित किया गया है। जिस प्रकार **काव्यप्रकाश** के द्वितीय उल्लास में अभिधा व लक्षणा के विविध भेदों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है, उसी प्रकार **शब्दव्यापारविचार** में भी लक्षणा को विवेचित किया गया है।

हेमचन्द्र (1088 ई.)

हेमचन्द्र श्वेताम्बर जैनाचार्य थे। उनके द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय-ग्रन्थ, **काव्यानुशासन** में आठ अध्याय हैं, जिनमें अर्थ के लक्षक-लक्ष्य आदि भेद, रसदोष, गुण, अलङ्कार, नायिकाभेद आदि निरूपित किये गये हैं। ग्रन्थ प्रायः संग्रहात्मक है। इसमें **काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक** एवं **ध्वन्यालोकलोचन** से सामग्री प्रचुर मात्रा में ली गयी है। **काव्यप्रकाश** का इसमें प्रचुर प्रयोग हुआ है। **काव्यानुशासन** में शब्दार्थ के स्वरूप के विवेचन के प्रसङ्ग में मुख्य, गौण, लक्षक, व्यञ्जक शब्दों को विवेचित किया गया है। गौण को उपचरित पद से भी व्यवहृत किया गया है। वस्तुतः **हेमचन्द्र** पर-मुखापेक्षी आचार्य नहीं थे। उन्होंने 'कर्मणि कुशलः', 'द्विरेफः' 'द्विकः' इत्यादि स्थलों में कुशल आदि पदों में रूढा लक्षणा नहीं मानी, क्योंकि उक्त पद साक्षात् संकेत के विषय होने के कारण मुख्य अर्थात् अभिधा तुल्य हैं।[1]

महिमभट्ट (11वीं शताब्दी)

महिमभट्ट का पूरा नाम **राजानक-महिमभट्ट** था। इन्हें भी राजानक की उपाधि मिली थी। इनका एकमात्र ग्रन्थ **व्यक्तिविवेक** है, जिसमें **भट्ट** ने अपूर्व मेधाशक्ति एवं पाण्डित्य द्वारा ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन कर उसका अन्तर्भाव अनुमान में किया है। ये अनुमानवादी आचार्य हैं और काव्य का मूलतत्त्व अनुमिति को मानते हैं।

भट्ट ने न्याय की पद्धति से ध्वनि से सम्पूर्ण प्रकारों को अनुमान में अन्तर्भुक्त किया है।[2] **व्यक्तिविवेक** की रचना तीन विमर्शों में हुई है। प्रथम-

---

1 कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्संकेतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिः।
—काव्यानुशासन, पृ. 195

2 देखें प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, परिशिष्ट, लक्षणा-विरोधी आचार्य।

विमर्श में प्रतीयमान अर्थ को अनुमिति ग्राह्य माना है। द्वितीय-विमर्श में शब्द-दोषों का विवेचन तथा तृतीय-विमर्श में **ध्वन्यालोक** के चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान में समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार उन्होंने लक्षणा को भी वर्णित किया है। उनके अनुसार शब्द में एक-मात्र शक्ति अभिधा ही होती है।[1] ध्वनि-विरोधी होते हुए भी **महिमभट्ट** ने काव्य में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और उसे अनुमेय स्वीकार किया है। इन्होंने रस की स्थिति सहृदय में स्वीकार की है, पर ये रस को सहृदय के चित्त में वासनारूप में विद्यमान नहीं मानते हैं। नट के द्वारा रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित स्थायी-भाव ही सहृदय के चित्त में प्रतिबिम्बकल्प होते हैं। सहृदय ही स्थायी-भावों के रूप में रस का स्वाद लेता है।[2]

माणिक्यचन्द्राचार्य (1160 ई.)

काव्यप्रकाश की संकेत नामक टीका के लेखक **माणिक्यचन्द्राचार्य** गुर्जर-देश वास्तव्य थे। इन्होंने विक्रमी सं. 1216 (1160 ई.) में **काव्यप्रकाश** की संकेत नामक टीका की रचना की है।[3] **स्वर्गीय पुरातत्त्वाचार्य मुनिजिन-विजय जी** का कथन है कि **माणिक्यचन्द्र** ने अपने रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर उसका अर्थ निकालने में विद्वानों को कुछ भ्रम हो रहा है, इसलिए उसका समय अपेक्षाकृत तीस या पच्चीस वर्ष जितना प्राचीन माना जा रहा है, अतः हमारे विचार से **माणिक्यचन्द्र** के संकेत का रचना समय, विक्रम-संवत् 1216 नहीं, अपितु सं. 1266 ही होना चाहिए। वक्त्र शब्द के संकेत से प्रायः 1, 4, 6, और 10 तक अंक लिये जाने के कुछ आधार मिलते हैं। इस दृष्टि से संकेतात्मक यह व्याख्या **काव्यप्रकाश** की सर्वप्रथम प्रमाणभूत एवं सुन्दरतम व्याख्या है।[4] संक्षेपरूपा यह टीका वज्रसमुत्कीर्ण

---

1 देखें प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, परिशिष्ट, लक्षणा-विरोधी आचार्य।

2 सहाय, राजवंश, अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, पृ. 100

3 माणिक्यचन्द्राचार्येण तदङ्घ्रिकमलालिना,
काव्यप्रकाशसंकेतः स्वान्योपकृतये कृतः।
रसवक्त्रग्रहाधीश (1216) वत्सरे मासि माधवे,
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः॥
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टी. माणिक्यचन्द्र), भाग-2, राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1959 ई. (सम्पादकीय अंश), पृ. 12

4 वही, भाग-1, (प्रधानसम्पादकीय अंश), पृ. 3

मणि के समान है, जो अग्रिम टीकाकारों की मार्गनिर्दशिका है। यह भी इसकी एक विशेषता ही कही जाएगी।

भट्टसोमेश्वर (12 वीं शताब्दी)

भारद्वाज गोत्रोत्पन्न **भट्टसोमेश्वर** का काल **प्रो. रसिकलाल छोटेलाल पारीख** ने **रुचक** और **माणिक्यचन्द्र** के बीच माना है। **काव्यादर्श-काव्यप्रकाश-संकेत** के लेखन का समय विक्रमी संवत् 1283 अर्थात् 1226 ई. दिया गया है।[1] **सोमेश्वर** द्वारा **उद्भट** के **अलङ्कारसारसंग्रह** के टीकाकार, **तिलक** का उल्लेख किया गया है, जिनका समय (1125 ई.) माना जाता है। इस प्रकार **सोमेश्वर** का समय 1225-1257 ई. के बीच होना चाहिए।

प्रो. पारीख ने **सोमेश्वर, माणिक्यचन्द्र** और **रुचक** के संकेतों के विस्तृत तुलनात्मक अनुशीलन के आधार पर यह निर्णय लिया है कि **सोमेश्वर** ने **रुचक** के बहुत से अंश लिए हैं और **माणिक्यचन्द्र** ने भी **सोमेश्वर** से अनेक अंश लिए हैं, अतः **सोमेश्वर** इन दोनों के मध्यवर्ती हैं। हमें **सोमेश्वर** की अन्य कृतियों का कोई ज्ञान नहीं है, किन्तु इन्होंने सातवें[2] और नवें[3] उल्लास के अन्त में दो पद्य अपने कहकर दिए हैं। ये दोनों ही पद्य सूर्यस्तुतिपरक हैं। या तो ये दोनों श्लोक किसी नाटक के अंश रहे होंगे या अधिक सम्भावना इस बात की है कि ये किसी **सूर्यस्तोत्र** के भाग रहे होंगे ?[4]

काव्यप्रकाशसंकेत की विशेषता है कि टीका का संक्षिप्त होना। **काव्यप्रकाश** जैसे दुरूह-ग्रन्थ की टीका करने के लिए कवि का प्रथम उद्योग ही स्वतः स्वयं में महान् है।

मंखक (1169 ई.)

मंखक ने **साहित्यमीमांसा** नामक अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखा है। इन्होंने उक्त कृति में वृत्ति अर्थात् शक्ति को त्रिधा–मुख्या, लक्षणा और गौणी भेद से संक्षिप्त रूप में वर्णित किया है। ये लक्षणा व गौणी को जघन्या शब्द से व्यवहृत करते हैं, ये अधिकतर मीमांसकों द्वारा प्रयोग में लाये गये उदा-

---

1 काव्यप्रकाश, सटीक,(काव्यादर्शसंकेतसमवेत)भाग-2, (सम्पादकीय अंश), पृ. 8 पर उद्धृत।

2 वही, भाग-1, पृ. 131

3 वही, पृ. 224

4 वही, भाग-2, (भूमिका भाग), पृ. 20

हरणों को ही उपन्यस्त करते हैं तथा अन्तिम अर्थ रस को मानते हैं। उसके ज्ञान में तात्पर्य-शक्ति को पृथक् मानते हैं।

मंखक पदों के द्वारा अर्थ प्रतिपादन में होने वाले व्यापार को वृत्ति शब्द से अभिहित करते हैं। ये वृत्ति का विभाजन मुख्या, लक्षणा, गौणी इन तीन भागों में करते हैं।[1] वृत्ति के प्रथम भेद को जहां अन्य आचार्य अभिधा पद से पुकारते हैं, मंखक उसे मुख्य पद से अभिहित करते हैं, यही एक शाब्दिक अन्तर-मात्र यहां पाया जाता है।

मीमांसा में अभिधा को मुख्या और अमुख्या दो भेदों में विभाजित किया जाता है। **साहित्यमीमांसाकार** भी तात्पर्यरूप अभिधावादी की कोटि में आते हैं, अतः इन्हें लक्षणा-विरोधी आचार्यों की कोटि में लिया गया है।

अमरचन्द्र और अरिसिंह (13वीं शताब्दी)

जिनदत्तसूरि के शिष्य तथा काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में **अमरचन्द्र** और **अरिसिंह** का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। दोनों ही व्यक्तियों ने **काव्यकल्पलता** नामक ग्रन्थ की रचना की है, इसका प्रारम्भिक अंश **अरिसिंह** ने लिखा था और उसकी पूर्ति **अमरचन्द्र** ने की थी। **अमरचन्द्र** ने इसकी वृत्ति भी लिखी है।[2] इसे **काव्यकल्पलतावृत्ति** नाम से भी अभिहित किया जाता है। चार प्रतानों तथा तदन्तर्गत अनेक अध्यायों में विभक्त उक्त कृति के अन्तर्गत छन्दःसिद्धि, शब्दसिद्धि, श्लेषसिद्धि एवं अर्थसिद्धि आदि वर्णित हैं।

शोध-विषय से सम्बद्ध-कृति, **काव्यकल्पतावृत्ति** के शब्दसिद्धि नामक द्वितीय प्रतान के अन्तर्गत लक्षणा वर्णित की गई है। **भर्तृमित्र** की 'लक्षणा पञ्चधा मता', इस कारिका की सोदाहरण विशद व्याख्या इसमें की गई है। उदाहरणत :—

अभिधेयेन सम्बन्धात्-अभिधेयं मुख्यार्थस्तेन सह सम्बन्धो यथा-'गङ्गायां घोषः' अत्र गङ्गाशब्दाऽभिधेयस्य स्रोतसो घोषाधारतानुपपत्तेः।
मुख्यार्थबाधे योऽयं समीपसमीपिभावात्मासम्बन्धस्तकदाश्रयेण

---

1 वृत्तिः पदानां व्यापारः पदार्थप्रतिपादने।
सा मुख्या लक्षणा गौणीत्येवं त्रैविध्यमास्थिता ॥
—साहित्यमीमांसा, पृ. 2

2 किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चिद्,
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम् ॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 1

गङ्गाशब्दस्तटं लक्षयति । गङ्गात्वे एकार्थसमवेतपुण्यत्वमनोरमत्वशैत्यादि-प्रतिपादनं व्यग्यं प्रयोजनम् । नहि तत्पुण्यादि गङ्गातट इत्यादिशब्दान्तरैः स्प्रष्टुमपि शक्यते ।[1]

'षड्भेदेति लक्षणा' कारिका के माध्यम से मम्मट समर्थित षड्विध लक्षणा का प्रतिपादन भी इस कृति में अच्छी तरह किया गया है। लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों का सोदाहरण विवेचन भी इस कृति में अच्छा है।

जयदेव (1200-1225 ई.)

जयदेव विरचित तथा शोध-विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ **चन्द्रालोक** में दस मयूख हैं, जिनमें क्रमशः काव्यहेतु, दोष, कविशिक्षा, गुण, अलङ्कार, रस-भावादिव्यञ्जना एवं ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यंग्य, लक्षणा, अभिधानिरूपण आदि विषय वर्णित हैं। **जयदेव** के **चन्द्रालोक** की रचना-शैली इसके पूर्ववर्ती आचार्यों से विलक्षण है। प्रायः एक ही अनुष्टुप् पद्य के पूर्वार्द्ध में निरूपणीय विषय का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उसका उदाहरण दिया गया है। उदाहरणतः—

गौणं सारोपमुद्दिष्टमिन्दुर्मुखमितीदृशम् ।
गौणं साध्यवसानं स्यादिन्दुरेवेदमीदृशम् ॥[2]

इस कृति की विशेषता है कि इसमें लक्षणा के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों की अपेक्षा सबसे अधिक प्रभेदों की चर्चा की गई है।

विद्याधर (1205-1325 ई.)

काव्यशास्त्र के आचार्य **विद्याधर** विरचित कारिका और वृत्तिभाग से समन्वित **एकावली** में आठ उन्मेष हैं। द्वितीय उन्मेष में शब्द-शक्ति वर्णित की गयी है। इस कृति की विशेषता यह भी है कि उदाहरण-रूप में प्रयुक्त सभी श्लोक **विद्याधर** विरचित ही हैं, जो कवि ने अपने आश्रयदाता उत्कलनरेश **नरसिंह** की प्रशंसा में लिखे हैं। **कीथ** के अनुसार **विद्याधर** की **एकावली** और **विद्यानाथ** का **प्रतापरुद्रयशोभूषण** दोनों भाव और पद्धति में **साहित्यदर्पण** के समान हैं।[3] उक्त कृति में लक्ष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई

---

1 काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 43

2 चन्द्रालोक, पृ. 284

3 कीथ, ए. बी., संस्कृत साहित्य का इतिहास, (अनु. मङ्गलदेव शास्त्री), पृ. 468

नई धारणा नहीं है। विपरीत-लक्षणा जैसे भेद यहां वर्णित हैं। सप्त-विधा-लक्षणा, सन्देहसङ्कर, अङ्गाङ्गिसङ्कर, एकव्यञ्जकानुप्रवेशसङ्कर तथा संसृष्टि के भेदों के कारण अनेक भेदों वाली हो जाती है। यह इस कृति की नूतनता है।

विद्यानाथ (1295-1325 ई.)

विद्यानाथ रचित **प्रतापरुद्रयशोभूषण** में नौ प्रकरण हैं। इनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार आदि वर्णित हैं। **एकावली** के समान **विद्यानाथ** की रचना में भी कारिकाएं और वृत्ति तथा अपने संरक्षक के प्रशंसावाचक श्लोक, उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किए गए हैं। लक्षणा को चतुर्धा ही विभाजित किया गया है। यह भी एक नवीनता इसमें दृष्टिगोचर होती है।

नरेन्द्रप्रभसूरि (1225 1226 ई.)

नरेन्द्रप्रभसूरि ने मन्त्रीश्वर **वस्तुपाल** की प्रार्थना से अष्टतरङ्गात्मक **अलङ्कारमहोदधि** नामक ग्रन्थ की रचना की। अपने **काव्यालङ्कार** सूत्रों की विवृत्ति भी स्वयं कवि ने की है।[1] लक्षणा के गौणी, शुद्धा आदि छः भेद वर्णित किए गए हैं। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य व अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का विषय-विभाग चतुर्धा किया गया है। उन्होंने सादृश्य, वैपरीत्य, वाच्यसम्बन्ध तथा क्रियायोग भेद से चार सम्बन्धों की ही चर्चा की है।[2]

विजयवर्णी (13वीं शताब्दी)

विजयकीर्ति के शिष्य **विजयवर्णी** का काल 13 वीं शताब्दी माना गया

---

1 काव्यालङ्कारसूत्राणि स्वानि किञ्चिद्विवृण्महे।
तन्मनस्तन्मयीकृत्य विभाव्यं कोविदोत्तमैः॥ 1. 20

—अलङ्कारमहोदधि, ओ. रि. इ., बड़ौदा, 1942 ई., पृ. 3

2 अथ अर्थान्तरसंक्रान्तस्यात्यन्ततिरस्कृतस्य च वाच्यस्य विषयविभागमाह—
सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया।
सम्बन्धेऽन्यार्थसंक्रान्तिः क्रियायोगे तु तद्द्वयम्॥ 2. 28

—वही, पृ. 37

है।[1] इन्होंने **काभिराज** (राज्यारोहण काल 1264 ई.) के अनुरोध पर **शृङ्गारार्णवचन्द्रिका** की रचना की। दस परिच्छेदात्मक उक्त कृति में द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा संक्षिप्त, किन्तु छन्दोबद्ध रूप से सोदाहरण वर्णित की गई है। इसमें उपादानलक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा के लिए जहती तथा अजहती पद प्रयुक्त किए गए हैं। इन्होंने गौणी को पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य (1223-1380 ई.)

बंगाल वास्तव्य **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य** के पिता का नाम **श्रीविष्णुभट्टाचार्य** था। **श्रीवत्स** ने **विद्यानाथ** (13 वीं -14 वीं शताब्दी) का उल्लेख किया है। **कमलाकरभट्ट** (1612 ई.) ने **भट्टाचार्य** का उल्लेख किया है, अत: **भट्टाचार्य** चौदहवीं शताब्दी के मध्य हुए माने जा सकते हैं। **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य** ने **काव्यपरीक्षा** नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की। कतिपय हस्तलिखित-ग्रन्थों की सूचियों में **काव्यपरीक्षा** को **काव्यप्रकाश** की टीका के रूप में उल्लिखित किया गया है, **काव्यपरीक्षा** की कारिकाएं यद्यपि प्राय: **काव्यप्रकाश** की अनुकृति पर लिखी गयीं हैं, किन्तु अल्पशब्दों में वर्ण्य-वस्तु के साथ ही अन्य आचार्यों की विचारधारा को, मिला दिया गया है। उपादान-लक्षण-लक्षणा के वर्णनावसर पर अजहत्स्वार्था एवं जहत्स्वार्था को इन्हीं का अपर नाम माना गया है। सभेद लक्षणा को वर्णित करने के अनन्तर लक्षणामूलाध्वनि को भी विवेचित किया गया है।[2]

शारदातनय (13 वीं शताब्दी)

नाट्यशास्त्र के आचार्य **शारदातनय** ने **भावप्रकाशन** नामक कृति की रचना की है। इसमें क्रमश: दस अधिकार हैं— भाव, रसस्वरूप, रसभेद, नायक-नायिकाभेद, शब्दार्थसम्बन्ध, नाट्येतिहास, दशरूपक, नृत्यभेद तथा नाट्यप्रयोग आदि समस्त विषयों का वर्णन छन्दोबद्ध व श्लोकरूपेण

---

1 शृंगारार्णवचन्द्रिका, (सम्पा. वामनमहादेव कुलकर्णी), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, (प्रधानसम्पादकीय भाग), पृ. 9 पर उद्धृत।

2 यत्स्वार्थेन पराक्षेप: स्वार्थं हित्वान्यकल्पनम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥
एते एव जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थे प्रकीर्तिते॥ 1. 5
—काव्यपरीक्षा, अध्यक्ष, मिथिला विद्यापीठ, बिहार, 1956 ई., पृ. 3

उपन्यस्त किया गया है, यह इस कृति की नूतनता है। **भावप्रकाशन** विशुद्ध-रसवादी ग्रन्थ है और इसका रस-निरूपण **भट्टनायक** से अनुप्राणित है। इन्होंने सहृदय को ही रस का भोक्ता या अनुभविता माना है।[1]

इस कृति के निर्माण में भोजकृत **शृङ्गारप्रकाश** का अधिक हाथ है। कहीं-कहीं तो **आनन्दवर्धन, मम्मट** आदि आचार्यों के समान ही शब्द-शक्ति-विवेचन समुपलब्ध होता है तथा कहीं-कहीं तो कारिकाएं भी उनकी ही अविकलरूप से समुद्धृत की गयीं हैं।[2] फिर भी **भावप्रकाशन** में **भोजराज** के समान ही शब्द-शक्ति के सिद्धान्त को अक्षरशः उपस्थित करते हुए भी **शारदातनय** उसका खण्डन नहीं करते हैं, अतः ये **भोज** समर्थक होने के कारण नैरन्तर्य-अभिधावादी की कोटि में आते हैं, ऐसी **डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी** की मान्यता है।[3]

चित्सुख (13 वीं शताब्दी)

चित्सुखाचार्य ने जो ख्याति प्राप्त की है, उसकी कारणभूता कृति **चित्सुखी** है।[4] इसी में लक्षणा-विषयक विवेचन भी प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ **प्रत्यक्तत्त्व-प्रदीपिका, तत्त्वप्रदीपिका** और **चित्सुखी** इन नामों से भी अभिहित किया जाता है। **ब्रह्मसूत्र** की शैली पर उक्त कृति की रचना हुई है। चार परिच्छेदात्मक उक्त कृति में **चित्सुखाचार्य** ने अभिहितान्वयवादी मत-प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया है कि **कुमारिलभट्ट** ने वाक्यार्थ को सर्वत्र लक्षणागम्य माना है। उक्त मत वेदान्तियों को भी स्वीकार्य है।[5] जैसा **मीमांसावार्तिककार मिश्रपाद**

---

1 रसालम्बनभावानामुक्ताः साधारणा गुणाः।
सुखेप्सवस्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम्॥
—भावप्रकाशन, पृ. 77

2 यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ 1.13
—वही. पृ. 148
अन्यच्च
—ध्वन्यालोक, पृ. 102

3 द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, पृ. 524

4 उपाध्याय, बलदेव, भारतीय-दर्शन, पृ. 344

5 व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात्। 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः' इति।
—तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, ढुण्ढिराज, बनारस, 1956 ई., पृ. 267 पर समुद्धृत।

ने कहा है—'हमारे मत में पद, वाक्यार्थ बोधन के लिए भी अपना सामर्थ्य रखते हैं, वाक्यार्थ सर्वत्र लक्ष्यमाण ही होता है।'[1] **आचार्यचित्सुखमुनि** ने अभिधा व लक्षणा दो ही शक्तियों को मानने वाले मुख्य-शक्तिवादी, अन्विताभिधानवादियों का मत प्रस्तुत करने के अनन्तर कहा कि लक्षणा नामक कोई शक्ति नहीं है, क्योंकि न तो उसका कोई प्रमाण है और न कोई उसका लक्षण है, अतः बिना लक्षण और प्रमाण के किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकार विरोधी मतों की उपस्थापना के साथ ही लक्षणाविषयक विवेचन प्रस्तुत करने से लक्षणा का और भी अधिक मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये अपने मौलिक विचार भी रखते हैं। अन्वयानुपपत्ति व तात्पर्यान्वयानुपपत्ति के स्थान पर वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं।[2]

चण्डीदास (14 वीं शताब्दी)

चण्डीदास उत्कलदेशवास्तव्य **साहित्यदर्पणकार विश्वनाथमहापात्र** के पितामह, **नारायणदास** के अनुज थे। **चण्डीदास** ने **काव्यप्रकाश** की **दीपिका** नामक टीका लिखी है, इन्होंने स्वरचित ध्वनिसिद्धान्त-ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। **दीपिकाटीका** विस्ताररूप में वर्णित न होने पर भी अपने समय से लेकर **विश्वनाथ, गोविन्दठक्कुर, परमानन्दचक्रवर्ती, कमलाकरभट्ट, पण्डितराजजगन्नाथ, नागोजीभट्ट** प्रभृति प्रमुख आचार्यों द्वारा ससंभ्रम स्मरण की जाती रही है। इनकी भाषा—माधुर्य, ओज, प्रासाद तीनों गुणों से समन्वित हैं, जिसके कारण इनका अपना प्रभाव है। लक्षणाविषय को संक्षिप्त रूप में प्रभावोत्पादक शैली में उपन्यस्त किया गया है।

---

1 तस्मात्समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्। तथा चोक्तं मीमांसावार्तिककारमिश्रैः—

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः॥(श्लोक. वा. वाक्य. 229)

—तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 265

2 तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणं लक्षणायाः।

—वही, पृ. 263

विश्वनाथ (1300-1380 ई.)

अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में **विश्वनाथकविराज** का स्थान महत्त्वपूर्ण है। **साहित्यदर्पण** के अतिरिक्त उन्होंने **काव्यप्रकाश** की **दर्पण** नामक टीका का प्रणयन किया था।[1] **साहित्यदर्पण** शब्द-शक्ति विषयक ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। दस परिच्छेदात्मक उक्त कृति के द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा का वर्णन किया गया है। ये निरूढा लक्षणा के भी आठ भेद करते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के बत्तीस भेद करते हैं, दोनों को मिलाकर चालीस भेद हो जाते हैं। चालीस भेदों को भी पदगत, वाक्यगत भेद से द्विधा विभक्त कर अस्सी प्रकार की लक्षणा इन्होंने मानी है। यह इस कृति की नवीनता ही है। इन्होंने लक्षणा के भेद में नवीन दृष्टिकोण अपनाया है।

भावदेव (1357 ई.)

कालिकाचार्य सन्तानीय खण्डित(स्थण्डिल)गच्छीय **भावदेवसूरि** ने **अलङ्कारसार** नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसके अन्तर्गत काव्यफलहेतु, शब्दार्थस्वरूपनिरूपण, शब्दार्थदोषप्रकटन, गुणप्रकाशन, शब्दालङ्कारनिर्णय, अलङ्कारद्योतन, रीतिस्वरूपप्ररूपण तथा भावाविर्भावन नामक आठ अध्याय हैं। इस कृति की विशेषता यह है कि इसमें लक्षण एवं उदाहरण छन्दोबद्धरूप से संक्षिप्तरूपेण उपन्यस्त किये गये हैं। द्वितीय अध्याय में लक्षणा निरूपित की गयी है।

उदाहरणत:—

कुन्ता विशन्तीत्यादौ य: पराक्षेप: स्वसिद्धये।
परोपादानत: साऽऽद्या स्मृतोपादानलक्षणा ॥ 12 ॥

अन्यच्च

गुणतो गुणसारोपा गौर्वाहीको यथोच्यते।
गौरेवायमितीयं तु गौणसाध्यवसानिका ॥ 14 ॥[2]

अलङ्कारसार नामक लघुकलेवरात्मक उक्त कृति **अलङ्कारमहोदधि** नामक कृति के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दी गई है।

---

1 एषाञ्च षोडशानां लक्षणाभेदानामिहादर्शितान्युदाहरणानि मम साहित्य-दर्पणेऽवगन्तव्यानि।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), मंजुप्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1979 ई., पृ. 24

2 अलङ्कारसार, पृ. 334

गोपालभट्ट (1360 ई.)

साहित्यचूड़ामणि अपर-नाम **काव्यप्रकाशविमर्शिनी** नामक टीका के कर्ता **भट्टगोपाल** के अभिजन आदि के विषय में अधिक ज्ञात नहीं होता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि उक्त टीका का कर्ता **भट्टगोपाल** ही था ।[1] इस टीका की विशेषता यह है कि प्रत्येक विषय में टीकाकार स्वयं शंका के रूप में पूर्व-पक्ष का उपस्थापन कर स्वयं अन्त में समाधान भी करता है ।

उदाहरणत:—

[तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मक:] । ननु लाक्षणिक एव शब्दो यदि व्यंग्यार्थ-प्रसाधक: स्यात् तर्हि तस्य तत्र कीदृशो व्यापार: । लक्षणादिरेव स्वीकारे व्यंग्यस्य लक्षणीयत्वादिप्रसङ्ग इत्याशंक्याह—तत्रेति ।[2]

अन्यच्च

ननु सारोपा साध्यवसानेति द्वे गौण्यौ द्वे च शुद्धे इति ताश्चतस्र:, तत्कथं वा षाड्विध्यमित्यत्राह—आद्ये ति । प्रागुक्तौ भेदावुपादाने लक्षणलक्षणे ताभ्यां सहेति ।[3]

श्रीविद्याचक्रवर्ती (1390 ई.)

शैवमतावलम्बी दाक्षिणात्य विद्वान् **श्रीविद्याचक्रवर्ती** ने **काव्यप्रकाश** की **सम्प्रदायप्रकाशिनी** टीका लिखी है । **सम्प्रदायप्रकाशिनी** संक्षेप में है, किन्तु भाषा की सरलता विषय-बोध में सहायक है ।

उदाहरणत:—

निरन्तरार्थनिष्ठो व्यापारो नारोपित: । सान्तरार्थनिष्ठस्त्वारोपित इति यावत् ।[4]

---

1 साहित्यचक्रवर्तिलौहित्यभट्टगोपालविरचितायां साहित्यचूड़ामणौ काव्य-प्रकाशविमर्शिन्यां प्रथम उल्लास: ।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भट्टगोपाल), महामहिमश्रीसेतुलक्ष्मी महाराज्ञीशासनान्तर्गत राजकीय मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष, 1925 ई., पृ. 29

2 काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भट्टगोपाल), पृ. 66

3 वही, पृ. 62

4 काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विद्याचक्रवर्ती, सम्पा. हरिहरशास्त्री), महा-महिमश्रीसेतुलक्ष्मीमहाराज्ञी शासनान्तर्गत राजकीय मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष, 1925 ई., पृ. 50

माधवाचार्य (14 वीं शताब्दी)

माधवाचार्य, **विद्यारण्यस्वामी** से नितान्त अभिन्न हैं। **माधव** का नाम सन्यास लेने के कारण **विद्यारण्य** पड़ा। **विजयनगर** के आदिम शासकों के साथ इनका सम्बन्ध था। अपने अनुज **सायण** को वेदभाष्य लिखने के लिए इन्होंने प्रोत्साहित किया था। **माधव** की समता करने वाला विद्वान् दुर्लभ है। स्वयं **सायण** ने इन्हें, द्विजपुंगवों से सेवित माना है।[1] शोध-विषय से सम्बद्ध **सर्वदर्शनसंग्रह** ग्रन्थ में कहा गया है कि तप योग का साधन होने के कारण शुद्धसारोपलक्षणा से योग कहलाता है। इसी उक्ति के आलोक में सभेद लक्षणा वर्णित की गयी है। **मम्मट** प्रोक्त लक्षणा को ही प्रकारान्तर से वर्णित किया गया है। **सर्वदर्शनसंग्रह** नामक कृति भारतीय-दर्शन का मूल्यवान् विश्वकोष है, जो भारतीय-दर्शन के कम से कम सत्रह विभिन्न नास्तिक और आस्तिक दर्शनों के सारांश से युक्त है। उसी ग्रन्थ के अन्तर्गत साररूप में ही षड्विधा लक्षणा को यहां वर्णित किया गया है।

श्रीनिवासाचार्य (14 वीं शताब्दी)

श्रीनिवासाचार्य, **निम्बार्क** के साक्षात् शिष्य थे। इनके द्वारा विरचित तथा शोध-विषय से सम्बद्ध कृति **न्यायपरिशुद्धि** में वृत्ति को अभेद और उपचार रूप से द्विधा विभक्त किया गया है। उपचार को लक्षणा तथा लक्षित-लक्षणा भेद से द्विधा विभक्त किया गया है। उक्त सभी वृत्तियां मुख्यार्थ-सम्बन्ध से लक्षणा तथा लक्षितलक्षणा दूसरी ओर गुणसम्बन्ध से गौणी प्रवृत्ति मानी गयीं हैं।[2]

धर्मसूरि (14-15 वीं शताब्दी)

धर्मसूरि के कार्यकाल के विषय में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। विद्वानों की धारणा के अनुसार ये **सर्वज्ञभूपाल** से पूर्ववर्ती हैं। उन्होंने **साहित्यरत्नाकर** नामक कृति की रचना की है। उक्त कृति के सम्पादक ने भी

---

1 अनन्तभोगसंसक्तो द्विजपुङ्गवसेवित:।
सचिव: सर्वलोकानां त्राता जयति माधव: ॥
—उपाध्याय, बलदेव, सायण और माधव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2003, पृ. 153

2 तत्र पूर्वेण प्रवृत्ति: लक्षणा·······द्वितीयेन प्रवृत्तिर्गौणी।
—न्यायपरिशुद्धि, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1918 ई., पृ. 338

यही सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि ये चौदहवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं।[1]

दस अध्यायों (तरङ्गों) में विभाजित **साहित्यरत्नाकर** नामक उक्त कृति के तृतीय तरंग में **धर्मसूरि** ने लक्षणा का विवेचन किया है। इस कृति की यह एक नवीनता कही जा सकती है, कि इसमें लक्षणा को संसृष्टि व सङ्करालङ्कार के माध्यम से भी विवेचित किंवा विभाजित किया गया है।

सदानन्दव्यास (15 वीं शताब्दी)

सदानन्दव्यास, **वेदान्तसार** के कर्ता **सदानन्द** से भिन्न हैं। इन्होंने **अद्वैतसिद्धान्तसार** नामक वेदान्त विषयक कृति लिखी है। उक्त कृति की **सदानन्द** ने स्वयं टीका भी की है। वेदान्ती लोग लक्षणा से ही ब्रह्म का बोध स्वीकार करते हैं, अभिधा से नहीं। इसी का समर्थन **सदानन्द** ने भी किया है।[2]

सदानन्दयोगीन्द्र (15 वीं शताब्दी)

सदानन्दयोगीन्द्र का **वेदान्तसार** अद्वैत-वेदान्त का लघुकाय प्रकरण-ग्रन्थ है। इसकी तीन प्राचीन टीकाएं **सुबोधिनी**, **विद्वन्मनोरञ्जनी** व **बालबोधिनी** नाम से प्रसिद्ध हैं। **वेदान्तसार** के अतिरिक्त उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना की हो इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[3] 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों के सन्दर्भ में जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा वर्णित की गई है। **वेदान्तसार** को, सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्रवेशद्वार कहा जा सकता है, और यह इसी कारण से लोकप्रिय भी है।

गोविन्दठक्कुर (15 वीं शताब्दी)

महामहोपाध्याय **गोविन्दठक्कुर मिथिला** के निवासी **केशवठक्कुर** के सुपुत्र थे। इन्होंने **काव्यप्रकाश** की **प्रदीप** नामक टीका की है। जिसे **काव्यप्रकाशप्रदीप** भी कहा जाता है। इसी **प्रदीपटीका** के ऊपर **वैद्यनाथतत्सत्** ने

---

1 तथा च धर्मसूरिरयं चतुर्दशकोत्तरार्द्धवर्तिनः सिंहभूपालात् (1360-1477 ई.), प्राचीन इत्यतोऽधिकं वक्तुं न पार्यते।
—साहित्यरत्नाकर, (भूमिका भाग), पृ. 2 से उद्धृत।

2 तेऽपि लक्षणया ब्रह्म बोधयन्ति न मुख्यया। 2. 27
—अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार, चौ. सं. बुक डिपो, 1903 ई., पृ. 143

3 वेदान्तसार, (संपा. सन्तनारायण श्रीवास्तव), 1968 ई., (विषयावतरण), पृ. 22 पर समुद्धृत।

प्रभा तथा उदाहरणचन्द्रिका नामक टीकाएं भी लिखी हैं। काव्यप्रकाश की प्रदीपटीका साररूप में होने पर भी विशिष्ट टीका के रूप में विद्वज्जगत् में समादृत है, अतः नागेशभट्ट सदृश विद्वानों ने पुनः उस पर टीका कर अपने को गौरवान्वित किया।

परमानन्दचक्रवर्ती (15 वीं शताब्दी)

सर्वदानन्द के पुत्र परमानन्दचक्रवर्ती ने काव्यप्रदीप की विस्तारिका व्याख्या लिखी, इन्होंने अपनी टीका में जयन्तभट्ट तथा विश्वनाथ का उल्लेख करने के साथ ही विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय का भी उल्लेख किया है, अतः ये विद्यानाथ से पश्चाद्वर्ती हैं।[1] विन्टरनित्स महोदय ने इस विस्तारिका-टीका को साहित्यदीपिका नाम से अभिहित किया है।[2]

रूपगोस्वामी (1490-1553 ई.)

भक्ति एवं रसशास्त्र के आचार्य श्रीरूपगोस्वामी, श्रीकुमार के पुत्र थे। ये महाप्रभुचैतन्य के समकालीन थे। उज्ज्वलनीलमणि में उज्ज्वल या मधुर शृंगाररस का विशद विवेचन है। अन्य आचार्यों की तरह यद्यपि इन्होंने लक्षणा-विवेचन नहीं किया है, तथापि दूती को वाच्य-व्यंग्य भेद से द्विधा वर्णित किया है,[3] अतः इन्हें लक्षणा-समर्थक आचार्य माना गया है।

कविकर्णपूर (1524 ई.)

चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन का पुत्र परमानन्ददास का जन्म 1524 ई. में हुआ। चैतन्यदेव ने इन्हें कर्णपूर की उपाधि प्रदान की थी। अलङ्कार-कौस्तुभ नामक ग्रन्थ के प्रणयन करने के कारण इन्हें अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में गिना जाता है। दस किरणात्मक इस ग्रन्थ में काव्यलक्षण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य, रसभाव, गुण, शब्दालङ्कार,

---

1 डे, एस. के., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-1, (अनु. मायाराम शर्मा), पृ. 149

2 काव्यप्रकाश, सटीक, (सम्पा. गौरीनाथ शास्त्री), निदेशक, अनुसन्धान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, (भूमिका भाग), पृ. 3–6

3 वाच्यव्यंग्यमिति द्वेधा तद्दूत्यमुभयोरपि।

—उज्ज्वलनीलमणि, कृष्णदास बाबा, कुसुमसरोवर, मथुरा, संवत् 2022, पृ. 179

अर्थालङ्कार, रीति व दोष आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। लक्षणा विषय से सम्बद्ध **अलङ्कारकौस्तुभ** की रचना 1572 ई. में **काव्यप्रकाश** की अनुकृति पर की गयी है।[1] यह **रूपगोस्वामी** के ग्रन्थ से अधिक विशद है तथा इसमें वैष्णव प्रवृत्ति अधिक नहीं है। उदाहरणार्थ दिये गये श्लोक इसमें भी अधिकतर कृष्ण-स्तुतिपरक हैं। कारिका व वृत्तिभाग से युक्त उक्त कृति में उदाहरण अन्य ग्रन्थों से लिए गए हैं। शब्द-शक्ति का विवेचन द्वितीय किरण में किया गया है।

प्रभाकरभट्ट (1564 ई.)

रसप्रदीप के कर्ता **प्रभाकरभट्ट**, **माधवभट्ट** के पुत्र थे। **वेबर** के अनुसार भट्ट ने **रसप्रदीप** की रचना 1583 ई. में की थी। उस समय उनकी अवस्था उन्नीस वर्ष की थी। **रसप्रदीप** आलोकों में विभाजित ग्रन्थ है। तीन आलोकात्मक इस कृति के प्रथम आलोक में काव्यलक्षण, द्वितीय में रसविवेक, तृतीय में व्यञ्जना आदि विषयों का निरूपण किया गया है। अभिधेय की अविनाभूत-प्रतीति को इन्होंने लक्षणा माना है। व्यञ्जना-निरूपण नामक तृतीय आलोक में लक्षणा संक्षिप्त रूप से वर्णित की गयी है।

लक्षणा, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भेद से दो प्रकार की मानी गई है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-लक्षणा तभी होती है, जब बाधित वाच्यार्थ अपने रूप से अनन्वित होकर प्रकारान्तर से अन्वित किया जाता है।[2] **रसप्रदीप** रस-विवेचनपरक ग्रन्थ है, फिर भी शब्द-शक्ति का विवेचन भी वहां पाया जाता है।

मधुसूदनसरस्वती (16 वीं शताब्दी)

मधुसूदनसरस्वती विरचित **वेदान्तकल्पलतिका** भी शोध-विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमें जघन्या को गौणी और लक्षणा दो भेदों में विभाजित किया गया है। उन्होंने **कुमारिल** के अनुसार जघन्या को वर्णित कर पुनः

---

1 डे, एस. के., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-1, (अनु. मायाराम शर्मा), पृ. 239

2 लक्षणा तावद् द्विविधा, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्या अत्यन्ततिरस्कृतवाच्या च। तत्र न तावदाद्या, यत्र हि मुख्यार्थः स्वेन रूपेणानुपयोगबाधितो रूपान्तरेणान्वेति तत्र अर्थान्तरसंक्रमः। यथा—रामोऽस्मि सर्वं सहे।
—रसप्रदीप, गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, 1925 ई., पृ. 44

आलङ्कारिकों की व्यञ्जना के वर्णन के उपक्रम में लक्षणा तथा गौणी का अभेद प्रतिपादित किया है। लक्षणा-भेद वर्णन के उपक्रम में जहदजहत्स्वार्था अपरनामा भागलक्षणा को भी उपवर्णित किया गया है।

केशवमिश्र (16 वीं शताब्दी)

केशवमिश्र ने **अलङ्कारशेखर** को दिल्ली के **राजा माणिक्यचन्द्र** के लिए प्रणीत किया था। **कनिंगहम, माणिक्यचन्द्र** को कांगड़े का राजा बतलाता है। **अलङ्कारशेखर** में आठ रत्न और बाईस मरीचि हैं। इसमें काव्य की परिभाषा, काव्यरीति, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, पद-वाक्य-अर्थ-दोष, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और नवरस व नायिकाभेद आदि काव्य के प्रायः सभी विषय संक्षिप्तरूपेण वर्णित किए गए हैं। उक्त ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति के रूप में लिखा गया है। यह भी संग्रह-ग्रन्थ है, क्योंकि इस ग्रन्थ में **काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण** और **काव्यप्रकाश** आदि से पर्याप्त सामग्री ली गई है।[1]

खण्डदेव (1600-1665 ई.)

भाट्ट मत के अनुयायी मीमांसादर्शन के प्रौढ लेखक **खण्डदेव** ईशा की सत्रहवीं शताब्दी में काशीस्थ पण्डितों की मण्डली में शीर्षस्थ थे। इनके द्वारा विरचित **भाट्टदीपिका** तथा **मीमांसाकौस्तुभ** में लक्षणा का स्वरूप सोदाहरण निरूपित किया गया है। इसमें गौणी को लक्षणा से भिन्न, किन्तु स्वतन्त्र-वृत्ति के रूप में मानने के साथ ही वाक्यलक्षणा का भी समर्थन किया गया है। प्रसङ्गतः इसमें रूढा, निरूढा तथा लक्षितलक्षणा भी वर्णित की गई हैं।

आचार्यविश्वनाथदेव (1552-1667 ई.)

आचार्यविश्वनाथदेव, पण्डितराजजगन्नाथ से भी पूर्ववर्ती हैं तथा **दर्पणकारविश्वनाथ** से भिन्न हैं। उन्होंने **साहित्यसुधासिन्धु** नामक कृति की रचना की है। **साहित्यसुधासिन्धु** ध्वनि सम्प्रदाय का संग्रहग्रन्थ है। काव्य-लक्षण, काव्यभेद, शब्द-शक्ति, दोष, गुण और अलंकार आदि विषयों पर इस ग्रन्थ में जो विचार मिलते हैं, वे प्रायः **काव्यप्रकाश** और उसके पश्चात् के ध्वनिसम्प्रदाय में प्राप्त होने वाले परिष्कारों पर आश्रित हैं। इस कारण इसे

---

1 सहाय, राजवंश, अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, पृ. 129

काव्यप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों का परिष्कार-ग्रन्थ कहना काफी दूर तक उचित है। उक्त ग्रन्थ में सूक्ष्म रूप से तर्क व प्रतितर्कों का समावेश पाया जाता है।[1] उक्त कृति 1978 ई. में प्रकाश में आई। सर्वथा **विश्वनाथदेव** का उक्त ग्रन्थ एक ओर **काव्यप्रकाश** के और दूसरी ओर **रसगंगाधर** के अध्येताओं के लिए पूरक सामग्री प्रस्तुत करने के साथ नवीन विचार भी उपस्थित करता है। आठ तरंगों में विभाजित उक्त कृति में बहुत से लक्षण और उदाहरणों को **आचार्यविश्वनाथदेव** ने स्वयं बनाकर अपनी कृति में स्थान दिया। यद्यपि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और लक्षणकारों की रचनाओं में से श्लोकों तथा लक्षणों को पर्याप्त मात्रा में लेकर उन्हें भी अपने ग्रन्थ का अङ्ग बनाया है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि शब्द-शक्ति का इसमें विस्तार के साथ उन्होंने वर्णन भी किया है। द्वितीय तरङ्ग में कारिका-भाग में जहां षड्विधा लक्षणा वर्णित की गई है, वहां वृत्तिभाग में षड्विधा लक्षणा की अनुपपन्नता बतलाकर ग्रन्थकार के द्वारा पुनः चार प्रकार की लक्षणा बतलाई गई है।

इस प्रकार **विश्वनाथदेव** की उक्त कृति में कतिपय स्थलों पर कारिकाभाग और वृत्तिभाग में तालमेल नहीं बैठता है। काव्यलक्षण की कारिका तथा वृत्तिभाग में भी अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार षड्विधा लक्षणा को सोदाहरण वर्णित कर, पुनः नवीनों के अनुसार चतुर्विधा लक्षणा का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि नवीनों के अनुसार शुद्धा के दोनों भेदों का भी गौणी में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[2] **डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी** की मान्यता है—यद्यपि उक्त कृति शब्द-शक्ति के विवेचन की दृष्टि से **मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराजजगन्नाथ** आदि विद्वानों के समकक्ष न हो, तो भी उनके ग्रन्थों की परम्परा में रची गई यह कृति अवश्य ही प्रशंसनीय है।

राजानकआनन्द (665 ई.)

राजानकआनन्द ने **काव्यप्रकाश** की **निदर्शना** नामक टीका लिखी। इन्होंने प्रदीपकाराभिमत लक्षणा के षड्विधत्व को स्वीकार किया है। **चण्डीदास** प्रोक्त षट्प्रकारत्व इन्हें अभिप्रेत नहीं है।

---

1 साहित्यसुधासिन्धु, (संपा. डॉ. रामप्रताप, भूमिका भाग), पृ. 9

2 अत्र केचित् षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामप्युपादानादिसम्भवात्''' इति नव्याः।

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 49-50

अन्नंभट्ट (16 वीं-17 वीं शताब्दी)

तैलङ्ग ब्राह्मण **अन्नंभट्ट** की ख्याति **तर्कसंग्रह** तथा उसकी टीका **दीपिका** के कारण है। उन्होंने उक्त कृति के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर प्रामाणिक टीकाएं लिखी हैं। **तर्कसंग्रहदीपिका** में लक्षणा संक्षिप्तरूप में वर्णित की गई है। लक्षणा के लक्षण-विरहित विविध भेद ही यहां वर्णित किये गये हैं।

पण्डितराजजगन्नाथ (1620-1665 ई.)

अलङ्कारशास्त्र कि इतिहास में **पण्डितराज** का नाम बड़े ही गौरव के साथ लिया जाता है। इनके द्वारा विरचित **रसगंगाधर**, काव्यशास्त्रविषयक अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनके दो आनन उपलब्ध होते हैं। द्वितीय आनन भी अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेद के विवेचन के उपरान्त अभिधा तथा लक्षणा का भी विवेचन किया गया है। लक्षणा के विवेचन के उपक्रम में यद्यपि नैयायिकों की मान्यता की ओर **पण्डितराज** का झुकाव दृष्टिगोचर होता है, तथापि उन्होंने उनका अन्धानुकरण नहीं किया है। नैयायिकों को व्यञ्जना अभिमत नहीं है, किन्तु **पण्डितराज** को व्यञ्जना मान्य है। लक्षणा के रूढि व प्रयोजन दो कारण भी माने हैं। शक्य-सम्बन्ध को लक्षणा माना गया है। लक्षणा के कारणों की समीक्षा करते हुए उसके उदाहरण दिये गये हैं। उन्होंने लक्षणा के छः भेद वही **मम्मट** प्रोक्त माने हैं, यद्यपि उनकी योजना यहां **मम्मट** से भिन्न है। ये उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा को अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था नाम से अभिहित करते हैं।

मौनिश्रीकृष्णभट्ट (1628-1658 ई.)

मौनिश्रीकृष्णभट्ट रघुनाथभट्ट के पुत्र थे।[1] उन्होने **वृत्तिदीपिका** नामक कृति की रचना की है। यद्यपि कृति के श्रवणमात्र से अभिधादि वृत्तित्रयों का ज्ञान आपाततः प्रतीत होता है। तथापि ग्रन्थकर्ता ने वृत्ति शब्द से न केवल साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध अभिधादि वृत्तियों को गृहीत किया, अपितु कृदन्त, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त-धातुरूप वैयाकरण-सम्मत वृत्तियों को भी गृहीत किया है।

---

1. श्रीमन्मौलितिलकायमानगोवर्द्धनभट्टात्मजरघुनाथसुतश्रीकृष्णभट्टविरचिता वृत्तिदीपिका समाप्ता।
—वृत्तिदीपिका, पृ. 44

अभिधादि वृत्तित्रयों के विवेचन के अनन्तर वृत्तिपञ्चकों पर भी विचार किया गया है। इस दृष्टि से उक्त कृति वृत्ति अर्थ के विषय में **अभिधावृत्ति-मातृका** तथा **वृत्तिवार्तिक** से भिन्न वृत्ति वाली होने के साथ ही शास्त्रीय दृष्टि से वृत्तियों के विवेचन को विद्वानों के सामने उपस्थापित करने के कारण सहृदयों के हृदयावर्जन में भी समर्थ है। यद्यपि लक्षणा का विवेचन उक्त कृति में संक्षिप्त रूप से किया गया है तथापि लक्षणा विषयक लक्षण, लक्षितलक्षणा विषयक विवेचन, जहदजहत्स्वार्था विषयक खण्डन आदि विषय भट्ट की स्वकीय मौलिकता विद्वानों को अवश्य प्रभावित करती है।

गोकुलनाथ उपाध्याय (1650-1740 ई.)

गोकुलनाथ उपाध्याय वत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे। ये गढ़देशाधिपति **फतेहशाह** के राजदरबार को अलंकृत करते रहे। कालान्तर में मिथिलाधिपति **माधवसिंह** की सभा को मण्डित करने लगे। सकलशास्त्रपारङ्गत अनेकों निबन्धों तथा कृतियों के कर्ता **उपाध्याय श्रीगोकुलनाथ** ने **रसमहार्णव** ग्रन्थ का प्रणयन किया।[1] उक्त ग्रन्थ के अन्तर्गत **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक प्रकरण है, जिसे **श्रीजनार्दन पाण्डेय** के सम्पादकत्व में सम्पूर्णानन्द विश्व-विद्यालय, वाराणसी ने लघु ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रथमबार सत्ताईसवीं कृति के रूप में वि. सं. 2032 में प्रकाशित किया।

भक्ति(लक्षणा)विवेक में लक्षणा का विषय जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, अन्यत्र उस रूप में नहीं पाया जाता है। लक्षणा के विषय में अत्यधिक विस्तार के साथ व नूतन उद्भावनाओं सहित तथा अत्यधिक क्लिष्ट एवं परिमार्जित भाषा में जैसा विवेचन इन्होंने **रसमहार्णवान्तर्गत भक्ति(लक्षणा)-विवेक** नामक कृति में किया वैसा अभी तक लक्षणा विषयक किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। यह इस कृति की एक अद्वितीय विशेषता है। ये निरूढा जैसी लक्षणा में भी प्रयोजन की सत्ता स्वीकार करते हैं, इस दृष्टान्त के साथ कि लोकव्यवहार में भी निरूढा-लक्षणा प्रयोजनवती हुआ करती है।[2] इन्होंने रूढा-लक्षणा के भी भेद वर्णित किये हैं।

---

1 भक्ति(लक्षणा)विवेक, (सम्पा. जनार्दनशास्त्री), सं. वि. वि. वाराणसी, वि. सं. 2032, (संस्कृत उपोद्घात), पृ. 1–2 से अनूदित।

2 निरूढापि या सादृश्यहेतुका गौणी वृत्तिः सैव प्रयोजनमपेक्ष्यते।·········
दृश्यते च लोकेऽपि निरूढलक्षणा प्रयोजनवतीति।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 14

गदाधर (1663 ई.)

गदाधरभट्ट विरचित शक्तिवाद में नैयायिकों के अनुसार शक्तिग्रह कैसे होता है ? इसके वर्णन के साथ ही लक्षणा भी संक्षिप्त रूप से वर्णित की गयी है। व्युत्पत्तिवाद भी न्याय विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मौलिक कृति है। इसमें रूपक-स्थल में लक्षणा विवेचित की गयी है।

राजचूड़ामणिदीक्षित (17 वीं शताब्दी)

राजचूड़ामणि ने काव्यदर्पण नामक कृति का प्रणयन किया। षष्ठ उल्लासात्मक उक्त कृति में शब्दार्थ-विभाग, अभिधा, लक्षणा तथा अभिधा-विभाग एवं सभेद लक्षणा-निरूपण, व्यञ्जना-सम्भावन, व्यञ्जनालक्षण आदि विषय निरूपित किये गये हैं। इस कृति में लक्षणादि समस्त विषय छन्दोबद्ध रूप में वर्णित किए गए हैं। इसमें फललक्षणा के विभाजन के अतिरिक्त रूढा को भी गौणी व शुद्धा भेद से द्विधा विभक्त किया गया है। अन्यत्र मम्मट का अनुकरण ही किया गया है। लक्षणा के प्रभेदों के सम्बन्ध में ये अप्पयदीक्षित से प्रभावित हैं। उन्होंने प्रभेदों के विषय में कोई नवीन विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं।

अप्पयदीक्षित (17 वीं शताब्दी)

रङ्गराजाध्वरि के पुत्र दक्षिण भारतीय विद्वान् व तंजौर के राजा शाहजी के सभापण्डित अप्पयदीक्षित विरचित तथा लक्षणा के शोध-विषय से सम्बद्ध कृति वृत्तिवार्तिक में दो परिच्छेद हैं, यह कृति अपूर्ण है। द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा का वर्णन कर कृति पूर्ण कर दी गयी है। यद्यपि शब्द-शक्ति पर रचित यह रचना लघुकलेवरात्मक है, तथापि भेदों की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों से कहीं अधिक विकासोन्मुखी है। लक्षणा पर भी दीक्षित ने कुछ नये विचार प्रस्तुत किए हैं। लक्षणा के भेदों के विषय में दीक्षित परम्परावादी होने के साथ ही स्वतन्त्र विचारक भी हैं। ये शुद्धा-जहल्लक्षणा और शुद्धा-साध्यवसाना में वास्तविक अन्तर नहीं मानते हैं। क्योंकि दोनों में लाक्षणिक-पद, पदार्थ के प्रतिपादन हेतु स्वार्थ का समर्पण कर देता है। दीक्षित ने मीमांसा विषयक ग्रन्थ नक्षत्रवादावली (वादनक्षत्रमाला) में भी 'गौरोऽहम्', 'पाण्डुरहम्', 'बभ्रुरहम्', 'श्वेतोऽहम्' आदि स्थलों में लक्षणा न हो सकने के विषय में विस्तार से चर्चा की है।[1]

---

1 वादनक्षत्रमाला, वाणीविलास-मुद्रणालय, 1912 ई., पृ. 154

विश्वनाथ-न्यायपञ्चानन-भट्टाचार्य (17 वीं शताब्दी)

वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य **विश्वनाथन्यायपञ्चानन** कृत **भाषा-परिच्छेद** की टीका ही **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** नाम से प्रसिद्ध है, जो इन्होंने **राजीव** नामक शिष्य के लिए बनाई थी। इसी **मुक्तावली** के ऊपर **दिनकर** ने **दिनकरी** नामक टीका लिखी। इसी **दिनकरी** टीका के ऊपर **रामरुद्रभट्टाचार्य** ने **दिनकरतरङ्गिणी** अथवा **रामरुद्री** नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की है।[1] **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में लक्षणा विषयक विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें तात्पर्यान्वियानुपपत्ति, वाक्यलक्षणा एवं लक्षितलक्षणा के विषय में विस्तार से कहा गया है।

जगदीशभट्टाचार्य (17 वीं शताब्दी)

नवद्वीप (बंगाल) के सर्वाधिक प्रसिद्ध नैयायिकों में **जगदीशभट्टाचार्य-तर्कालङ्कार** का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने **शब्दशक्तिप्रकाशिका** नामक कृति की रचना की है, जिसमें साहित्यिकों की व्यञ्जना नामक शब्द-शक्ति का खण्डन किया गया है। यह शब्द-शक्ति विषयक अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।[2] कारिका एवं वृत्तिभाग में लिखित **शब्दशक्तिप्रकाशिका** जिन छः प्रकरणों में विभाजित है, वे हैं—नामप्रकरण, समासप्रकरण, सुब्विभक्तिप्रकरण, कारकप्रकरण, आख्यातप्रकरण, तद्धितप्रकरण। इन्होंने प्रथम प्रकरण में जातिशक्तिवादी भाट्टों का तथा लक्षणा से जाति-विशिष्ट व्यक्ति का बोध स्वीकार करने वाले प्राभाकरों के मत को अपने अगाध व प्रौढ पाण्डित्य-प्रबोधक लेखन शैली से खण्डित किया है। इसी प्रकार आलङ्कारिकों द्वारा अभिप्रेत व्यञ्जना-वृत्ति का भी खण्डन किया है। शोध-विषय से सम्बद्ध लघुकलेवरात्मक **तर्कामृत** नामक ग्रन्थ भी इनकी ही कृति मानी गयी है। **तर्कामृत** के शब्दखण्ड में संक्षिप्त रूप से लक्षणा भेदद्वयरूप में वर्णित की गयी है, गौणी व लक्षणा में भेद नहीं माना गया है। विभिन्न समासों में भी लक्षणा विवेचित की गयी है। **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में लक्षणा **तर्कामृत** की अपेक्षा विस्तार से अनेक भेदों में वर्णित की गयी है।

बलदेवविद्याभूषण (17 वीं शताब्दी)

वैश्यकुलोत्पन्न उड़ीसा के बालासोर नामक जिले में प्रादुर्भूत **बलदेव-**

---

1 उपाध्याय, बलदेव, भारतीयदर्शन, पृ. 222

2 सहाय, राजवंश, संस्कृत साहित्य कोश, पृ. 182

विद्याभूषण द्वारा विरचित टीका, जिसे इन्होंने **भरतसूत्रवृत्ति** कहा है, का नाम **साहित्यकौमुदी** है। ये **मम्मट** की कारिकाओं को भी सूत्र कहते हैं। इन्होंने अपनी टीका पर स्वयं **कृष्णानन्दी** नामक टिप्पणी लिखी है। इस ग्रन्थ की योजना तथा विषय-सामग्री **काव्यप्रकाश** के अनुरूप है, किन्तु साहित्यकौमुदी में शब्द तथा अर्थालङ्कारों पर निर्मित ग्यारहवां अध्याय अतिरिक्त है।

नागेश (1700 ई.)

प्रसिद्ध वैय्याकरण **नागेशभट्ट** अठारहवीं शताब्दी के बहुमुखी प्रतिभावान् व्यक्ति थे। ये **सिद्धान्तकौमुदी** के प्रख्यात लेखक **भट्टोजीदीक्षित** के प्रपौत्र **वीरेश्वरदीक्षित** के पुत्र **हरिदीक्षित** के शिष्य थे। इन्होंने न केवल व्याकरण पर ही, अपितु योग, अलङ्कार तथा अन्य विषयों पर भी ग्रन्थ-रचना की है। **नागेश** ने विशेषरूप से लक्षणा को जिन कृतियों में वर्णित किया है, वे हैं— **वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा**। वैसे प्राचीन वैय्याकरणों ने लक्षणा को नहीं माना है, किन्तु नागेश ने उक्त ग्रन्थों में लक्षणा को स्वीकार करने के साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों की लक्षणा विषयक धारणा को उपन्यस्त करते हुए लक्षणा का प्राञ्जल विवेचन भी किया है, यह इनकी कृतियों की विशेषता है।

भीमसेनदीक्षित (1722 ई.)

शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न, कन्नौजी ब्राह्मण **शिवानन्ददीक्षित** के आत्मज **भीमसेनदीक्षित** ने 1779 विक्रमी (1836 ई.) में चैत्रशुक्ला त्रयोदशी सोमवार को **सुधासागरी** नामक **काव्यप्रकाश** की टीका की पूर्ति की।[1] उक्त टीका अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल शब्दों में लिखी गयी है। अन्य टीकाओं की अपेक्षा यह टीका सरल है। उदाहरणतः—

'लक्षणा तावद् द्विविधा। शुद्धा, गौणी च। तत्राद्या द्विविधा। उपादान-

---

1 शैवे वा पथि वैष्णवे समरसः श्रीमच्छिवानन्दतः,
सञ्जातः किल भीमसेन इति सद्विद्याविनोदी कविः।
संवद्ग्रहाश्वमुनिभू (1779) जाते मासे मधौ सुदि,
त्रयोदश्यां सोमवारे समाप्तोऽयं सुधोदधिः॥ इति॥
—काव्यप्रकाश, (संपा. बद्रीनाथ झा), निदेशक, शोध-संस्थान, वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, शक् संवत् 1882, (उपोद्घात), पृ. 14 पर उद्धृत।

लक्षणा लक्षणलक्षणा च । ते अपि प्रत्येकं सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधे, इति शुद्धभेदाश्चत्वारः । गौणी तु द्वेधा । सारोपा साध्यवसाना चेति, षड्विधत्वं कारिकात्रयेण प्रतिपादयति' ।[1]

नरसिंह अथवा नृसिंह (1739-1759 ई.)

ब्राह्मणकुलोत्पन्न अलङ्कारशास्त्र के आचार्य **नरसिंह** ने अपने आश्रयदाता **नञ्जराज** (1739-1759 ई.) को आधार मानकर उनकी स्तुति में **नञ्जराजयशोभूषण** नामक ग्रन्थ की रचना की । अपने आश्रयदाता के ऐश्वर्य-पूर्ण दिनों में ही उक्त सप्त-उल्लासात्मक नाट्यविषयक कृति की रचना की । तृतीय उल्लास में ध्वनि-निरूपण किया गया है ।

कवि ने यह ग्रन्थ **विद्यानाथ** के **प्रतापरुद्रयशोभूषण** को आधार मानकर लिखा । उक्त ग्रन्थ की विषय-सामग्री का अक्षरशः समावेश इसमें पाया जाता है । **नरसिंहकवि** को **अभिनवकालिदास** नाम से भी अभिहित किया गया है ।[2] इन्होंने उपादानलक्षणा व लक्षणलक्षणा को जहद्वाच्या और अजहद्वाच्या पद से व्यवहृत किया है । लक्षणा के भेदों के उदाहरण, श्लोक-रूप में स्वयं कवि ने उपन्यस्त किये हैं, इस कृति की यह एक विशेषता है ।

विश्वेश्वर (18 वीं शताब्दी)

काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रौढ आचार्य कूर्माञ्चलीय विद्वान् **विश्वेश्वर** ने **अलंकारकौस्तुभ** नामक अलङ्कार-विषयक अत्यन्त गम्भीर, विशद एवं प्रौढ-ग्रन्थ की रचना की है, जो नव्य-न्याय की शैली में रचित है ।

अलङ्कारकौस्तुभ में लक्षणा शब्द-शक्ति के रूप में विवेचित न कर उपमा व रूपकालङ्कार के निरूपण के अवसर पर विवेचित की गयी है । **रसचन्द्रिका** में रसों के सामान्य विवेचन के साथ लक्षणा भी भेद-पुरस्सर वर्णित की गई है । फललक्षणा को सात भेदों में विभाजित किया गया है । स्वल्प एवं सरल-शब्दों में गहन-विषय को भी स्पष्ट करना ही इस ग्रन्थ की विशेषता है—उदाहरणतः—

'तदेवं सप्तविधा फललक्षणेति संक्षेपः । गङ्गायां घोषः, इत्यादौ लक्षणया

---

1 काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन दीक्षित), पृ. 65

2 डे, एस. के., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, (अनु. मायाराम शर्मा), पृ. 271 ।

तीरादिबोधेऽपि शैत्यादिप्रतीतेस्तदसाध्यत्वात् । यया तत्प्रतीतिः सा व्यञ्जना ।'[1]

आशाधरभट्ट (19 वीं शताब्दी)

गुर्जरदेश-वास्तव्य **आशाधरभट्ट**, **रामजीभट्ट** के पुत्र **धरणीधर** के शिष्य थे। **अलङ्कारदीपिका** के मङ्गलाचरण से इसकी पुष्टि होती है।[2] **आशाधर-भट्ट** कृत **कोविदानन्द** की एक हस्तलिखित प्रति में लिपि-समय शक् सम्वत् 1783 (1861 ई.) है, अतः इनका समय (19 वीं शताब्दी) माना जा सकता है। **आशाधरभट्ट** ने संस्कृत साहित्य के विविध क्षेत्रों में **नागेश** के समान लेखनी चलाई है।

भट्ट ने **कोविदानन्द** नामक ग्रन्थ में शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना का क्रम तीन प्रकरणों में निरूपित किया है। नितान्त गम्भीर तथा शास्त्रीय विषयक उक्त वृत्तियों का मर्मस्पर्शी भाषा में निरूपण किया गया है। तार्किकों की दुरूह भाषा से दूर रहकर **भट्ट जी** ने उक्त ग्रन्थ में जहां नैयायिकों की समालोचना की, वहां वे आलङ्कारिकों के प्रति सहिष्णु प्रतीत होते हैं। उक्त कृति में दुरूह-विषयों को ग्रन्थकार ने **कादम्बरी** नाम की स्वकीया टीका के माध्यम से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रायः देखा जाता है कि टीकाओं में भी ग्रन्थकर्ता के मनोभावों का सही मूल्यांकन सर्वत्र नहीं हो पाता है। वृत्तियों के विषय में अपेक्षित सभी विषयों का शास्त्रीय शैली से तथा सरल सुबोध रीति से किया गया प्रतिपादन उक्त कृति की प्रमुख विशेषताओं में से है। **आशाधरभट्ट** ने **त्रिवेणिका** नामक कृति की रचना **कोविदानन्द** नामक कृति के अनन्तर की, क्योंकि **भट्ट** ने कतिपय स्थलों पर स्वयं कहा है कि इस विषय में विस्तार से **कोविदानन्द** में देखें। इसी प्रकार **त्रिवेणिका** के मङ्गलाचरण से भी इसकी पुष्टि होती है।[3]

---

1 रसचन्द्रिका, चौ. सं. सी आ., वाराणसी, 1983 ई., पृ. 43

2 शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।
आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना ॥
—त्रिवेणिका, (संपा. कालिका प्रसाद, भूमिका-भाग), पृ. 29 पर उद्धृत ।

3 प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा ।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ॥
—त्रिवेणिका, पृ. 1

कोविदानन्द में जहां वृत्तियों का विवेचन छन्दोबद्ध श्लोकों के माध्यम से किया गया है,[1] वहां **त्रिवेणिका** में उसी विषय का प्रतिपादन गद्य में किया गया है। अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना इन तीनों शब्द-वृत्तियों पर लिखित **त्रिवेणिका** की तुलना प्रयाग-स्थित त्रिवेणी से जो की गई है, वह समीचीन ही है।[2] **आशाधरभट्ट** का लक्षणा के प्रसङ्ग में महनीय योगदान—लक्षणा के प्रयोजक-सम्बन्धों का विस्तार से वर्णन करना है।

रामकर्ण आसोपा (1857 ई.)

इतिहासविद् रामकर्ण आसोपा का जन्म 7 अगस्त 1857 शुक्रवार को हुआ। आपके पिता **बलदेव जी** प्रसिद्ध विद्वान् थे। **रामकर्ण आसोपा** सोलह वर्ष तक निरन्तर, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि विषयों का अध्यापन करते रहे। इन्होंने **कविराज मुरारिदान** कृत **यशवन्तयशोभूषण**,जो हिन्दी में रस-अलङ्कार का बृहद्-ग्रन्थ है, उसको संशोधित एवं सम्पादित किया तथा उसका संस्कृत अनुवाद भी किया।[3] लक्षणा के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था दो भेदों को ही मानना इस कृति की विशेषता है,[4] जो विचारधारा किसी भी आचार्य को मान्य नहीं है। रूढा का लक्षणा-रूप इन्हें अभिप्रेत नहीं है।

वामनझलकीकर (1882 ई.)

महाराष्ट्रवास्तव्य शालङ्कायन गोत्रज **झलकीकर** उपनामक, **वामनाचार्य**, **रामचन्द्र** के सुपुत्र थे। **वामन** ने **काव्यप्रकाश** की **बालबोधिनी** नामक टीका लिखी। **झलकीकर** कृत उक्त टीका की विशेषता यह है कि इसमें अप्रकाशित प्राचीन टीकाओं के तथा प्रकाशित टीकाओं के भी उद्धरण देकर **काव्यप्रकाश** के मर्म को अच्छी तरह समझाया गया है। **बालबोधिनी** में **काव्यप्रकाशदर्पण**, **सरस्वतीकण्ठाभरण**, **मुकुलभट्ट**, **प्रदीपकार**, **विवरणकार**, **कुमारिलभट्ट**,

---

1 प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणलक्षितम् ॥ 2 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 2

2 शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्झराः।
प्रवाहवत्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥
—त्रिवेणिका, पृ. 2

3 ले. बलराज मेहता, जलतेदीप, जोधपुर का दैनिक पत्र, आसोपा जयन्ती पर लिखित लेख, 7 अगस्त, 1980 ई.।

4 देखें प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध, पञ्चम अध्याय, लक्षणा भेद तालिका।

नृसिंहठक्कुर आदि की कृतियों को एवं आचार्यों की टीकाओं को उद्धृत कर, विषय-वस्तु को सरल ढङ्ग से समझाने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है, जिससे **काव्यप्रकाश** के मर्म को समझने में सहायता मिलती है।

दीनबन्धु झा (1876 ई.)

बिहारप्रान्तीय दीनबन्धु झा ने सन् 1911 ई से लेकर 1976 ई. तक 66 वर्ष पर्यन्त निरन्तर अध्यापन एवं ग्रन्थों के निर्माण-कार्य में अपना जीवन व्यतीत किया। उनके 11 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशित ग्रन्थों में से **समासशक्तिदीपिका** नामक कृति में लक्षणा सम्बन्धी विशिष्ट विषयों पर विचार किया गया है। इनके लगभग बारह ग्रन्थों का अभी प्रकाशन होना है।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्याय में **पतञ्जलि** (150 ई. पूर्व) से लेकर **दीनबन्धु झा** (1976 ई.) तक के लक्षणा पर विचार करने वाले जिन आचार्यों की बहिरङ्ग परीक्षा प्रस्तुत की गई है, उन पर काव्य-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के इतिहासों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। कुछ विषय जैसे—**भामह** तथा **दण्डी** के पौर्वापर्य—अभी विवादास्पद हैं, ऐसे स्थानों पर हमने किसी स्वतन्त्र एक मत कि पोषक प्रमाण के अभाव में बहुमत का ही अनुकरण किया है।

कुछ ऐसे आचार्यों का बहिरङ्ग परिचय इस अध्याय में है, जो विशेष रूप से लक्षणा पर ही विचार करने के कारण काव्य-शास्त्र में विशिष्ट स्थान रखते हैं, उदाहरणतः—**भक्ति(लक्षणा)विवेक** के कर्ता **गोकुलनाथ उपाध्याय**, **अलङ्कारकौस्तुभ** के कर्ता **भावदेव**, **साहित्यसुधासिन्धु** के कर्ता **विश्वनाथदेव**, **यशवन्तयशोभूषण** के अनुवादक **रामकर्ण आसोपा**, **समासशक्तिदीपिका** के लेखक **दीनबन्धु झा**। अन्य प्रमुख आचार्यों के विवेचन में भी उनके लक्षणा-विषयक विचारों को ही प्रमुखता दी गयी है, इससे जहां एक ओर लक्षणा-विषयक शास्त्रीय स्थलों का सङ्कलन एक स्थान पर हो गया है, वहां दूसरी ओर लक्षणा-विषयक-विवेचन का क्रमिक विकास भी बीज रूप में आ गया है, जिसका पल्लवन आगे के अध्यायों में किया जायेगा। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा के सम्बन्ध में भारत की शास्त्रीय परम्परा में विचार-विमर्श कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि लक्षणा सम्बन्धी विचार केवल अलङ्कारशास्त्रियों तक ही सीमित न रहकर दार्शनिकों और वैय्याकरणों में भी प्रचुरमात्रा में हुआ। यह विभिन्न शास्त्रों में अन्तर्निहित एकता का सूचक है।

---

1 समासशक्तिदीपिका, कामेश्वरसिंह, दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, सं. 2033, (भूमिका-भाग), पृ. 6-7 पर उद्धृत।

X.

तृतीय अध्याय

लक्षणा का विवेचन : उद्भवकाल

लक्षणा-विवेचन के उद्भव की खोज से यह ज्ञात होता है कि लक्षणा का विवेचन, कालक्रम की दृष्टि से काव्यशास्त्रियों से पहिले दार्शनिक और वैय्याकरणों ने प्रारम्भ किया, अत: काव्यशास्त्रियों में लक्षणा के विवेचन का क्रमिक विकास खोजने से पहिले हमें दार्शनिक और वैय्याकरणों में होने वाले लक्षणा-विवेचन की चर्चा करनी होगी।

वेद धर्म ग्रन्थ हैं, किन्तु वे काव्य भी हैं। स्वयं वेदों का ऋषि वेदों को काव्य नाम से पुकारता है।[1] यह स्वाभाविक था कि वेद में लाक्षणिक प्रयोग होते और वेद की मीमांसा का लक्ष्य लेकर चलने वाले मीमांसकों की दृष्टि उन लाक्षणिक प्रयोगों पर जाती। **जैमिनि** ने ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों का वर्गीकरण छ: भागों में किया और **शबरस्वामी** ने उन छहों प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण वेदों से प्रस्तुत किए। उन्होंने इन्हें निम्न प्रकार से व्याख्यात किया है—

तत्सिद्धि—गुणाश्रय अर्थात् गौण अर्थ के आश्रय से प्रस्तर को यजमान कहकर स्तुति की है। गौण के अर्थ के आश्रयण में प्रस्तर से 'तत्सिद्धि' यजमान के कार्य की सिद्धि होना है।[2]

जाति—गौण अर्थ के आश्रय में यहां ब्राह्मण को आग्नेय कहकर स्तुति की गयी है। गौण अर्थ के आश्रय में जाति, जन्म अर्थात् उत्पत्ति का कारण है।[3]

---

1 देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।
—अथर्ववेदभाष्य,(10,8,32), पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी, 1917ई, पृ. 2389

2 यजमान: प्रस्तर:। (प्रस्तर यजमान है।)
—मीमांसाशाबरभाष्य, भाग-1, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़ सोनीपत, हरयाणा, 1970 ई., पृ. 339

3 आग्नेयो वै ब्राह्मण:(ब्राह्मण निश्चय ही आग्नेय-अग्निदेवता वाला है।)
—वही, पृ. 341

सारूप्यात्—गौण अर्थ के आश्रय से यहां यूप को यजमान कहकर स्तुति की है, गौण अर्थ का आश्रयण यूप और यजमान के सारूप्य से होता है, अर्थात् यूप की लम्बाई यजमान सम्मित-यजमान के बराबर होना दोनों का सारूप्य है।[1]

प्रशंसा—गौण अर्थ के आश्रय से यहां गौ तथा अश्वों से अन्य को अपशु कहकर गौ तथा अश्व की प्रशंसा की है।[2]

भूमा—भूमारूपा गुणाश्रय गुण के आश्रय से, अर्थात् सृज् धातु-युक्त मन्त्रों के बाहुल्य से, तत्प्रकरण पठित् सृज् धातु से रहित मन्त्रों से उपधीयमान इष्टिकाओं का विधान करता है।[3]

लिङ्गसमवायात्—(गुणाश्रय) प्राण लिङ्ग का समवाय (योग) अर्थात् सम्बन्ध होने से गुणाश्रय अर्थात् गौण अर्थ के आश्रय से प्राण लिङ्ग से रहित मन्त्रों का स्तावक है। लिङ्ग के समवाय से प्राणभृत् शब्द परत्र अप्राणभृत् में भी व्यवहृत है। जैसे 'छत्री जाते हैं' यह कहने पर एक व्यक्ति के भी छाते से युक्त होने पर एक छत्री से सभी लक्षित होते हैं और ये प्राणभृत् शब्द और सृष्टि शब्द अपने अर्थ को छोड़ते हुए मन्त्रसमुदाय को लक्षित नहीं करे। जिस मन्त्रसमुदाय में सृष्टि और प्राणभृत् शब्द समवेत अर्थात् विद्यमान हैं, वे भी छत्रिन्यायवत् गृहीत होते हैं।[4]

गौतम (300 ई. पू.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

गौतम लक्षणा के लिए उपचार शब्द का प्रयोग करते हैं। उपचार को

---

1 आदित्यो यूपः। (यूप आदित्य है।)
—मीमांसाशाबरभाष्य, भाग-1, पृ. 343

2 अपशवो वाऽन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोः अश्वाः। (गो और अश्व से भिन्न अपशु हैं, गो और अश्व ही पशु हैं।)
—वही, पृ. 344

3 सृष्टीरुपदधाति। (सृष्टियों का उपधान करता है, अर्थात् सृष्टिमन्त्रवाली इष्टिकाओं को रखता है।)
—वही, पृ. 346

4 प्राणभृत उपदधाति। (प्राणभृत् इष्टिकाओं का उपधान करता है।)
वही, पृ. 348

दशधा विभाजित किया गया है।[1] **गौतमसूत्र** में समागत उन दसों प्रकारों को निम्न प्रकार से सोदाहरण वर्णित किया जाता है—

1. **सहचरण**—'यष्टी: प्रवेशय' यहां ब्राह्मणों में यष्टि का आरोप, साहचर्य सम्बन्ध है।

2. **स्थान**—'मञ्चा: क्रोशन्ति' यहां बालकों में शय्या का आरोप, स्थान सम्बन्ध है।

3. **तादर्थ्य**—'वीरणेष्वास्ते' यहां तादर्थ्य सम्बन्ध के द्वारा, तृण में खश का आरोप किया गया है।

4. **वृत्त**—'अयं राजा यम:' राजा से यम के ग्रहण में तात्कर्म्य सम्बन्ध है।

5. **मान**—'प्रस्थ: सक्तु:' सक्तु में प्रस्थ (एक सेर) का आरोप, मान सम्बन्ध से है।

6. **धारण**—'चन्दनं तुला' चन्दन में तुला का आरोप, तद्धार्य सम्बन्ध है।

7. **सामीप्य**—'गङ्गायां घोष:' यहां गङ्गा में तट का आरोप, सामीप्य सम्बन्ध है।

8. **योग**—'कृष्ण: शकट:' यहां तद्गुण शब्द से शकट से, कृष्ण वर्ण बतलाया है।

9. साधन—'अन्नं प्राणा:' यहां अन्न प्राण का आरोप, साधन-सम्बन्ध है।

10. **आधिपत्य**—'अयं कुलस्य राजा' यह वंश का राजा है। यहां कुल-स्वामी में राजा का आरोप, आधिपत्य सम्बन्ध है।

पतञ्जलि (150 ई.पू.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

वैय्याकरणों में सर्वप्रथम **पतञ्जलि** ने **महाभाष्य** में 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र के भाष्य में दो भिन्न पदार्थों में अभेद जब नहीं हो सकता है, तब

---

1 सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचार:। 2. 68

—न्यायसूत्र, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1970 ई., पृ. 285

फिर 'अतस्मिन् स:' अर्थात् जो, जो नहीं है, 'उसमें वह यह है', इस तरह का व्यवहार कैसे होता है ? अर्थात् भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान, अन्य में अन्य का आरोप, यह सब शब्द के गुणों का अर्थ में आरोप और अर्थ के गुणों का शब्द में आरोप, जाति में व्यक्ति का आरोप कैसे होता है ? उसका समाधान करते हुए **पतञ्जलि** ने कहा है कि ऐसे स्थलों पर चार तरह से भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का ताद्रूप्य (अभेद) आरोपित होता है। मुख्य ताद्रूप्य नहीं रहता, यह बात सत्य है। वस्तुत: यह आरोप लक्षणा के कारण ही होता है। **पतञ्जलि** का कथन है कि चार प्रकार से, अन्य में अन्य का ज्ञान अर्थात् लक्षणा होती है। ये चार प्रकार हैं —

1. तत्स्थता 2. तद्धर्मता 3. तत्समीपता 4. तत्साहचर्य[1]।

1. तात्स्थ्य

इसका उदाहरण है—'मञ्चा: हसन्ति' अर्थात् मञ्च हंसते हैं। यहां मञ्चस्थ पुरुषों में मञ्च का ताद्रूप्य आरोपित है। जिन दो पदार्थों में आधाराधेय-भाव सम्बन्ध होता है, उनमें कभी-कभी आधेय को आधार कह दिया जाता है। मञ्च हंस रहा है, यहां मञ्च पर रहने वाले बालकों को ही जो मञ्च से सदा भिन्न हैं, मञ्च कह दिया गया है। इस भेद में अभेद-स्थापन का मूल तात्स्थ्य या आधाराधेय भाव है।[2]

2. ताद्धर्म्य

इसका उदाहरण है—'जटी ब्रह्मदत्त:' अर्थात् जटा वाला ब्रह्मदत्त है। यहां केशरूप मुख्य जटी का ताद्रूप्य केशरूप धर्मवाले ब्रह्मदत्त में आरोपित हुआ है। अर्थात् ब्रह्मदत्त के धर्मों को जटी में देखकर उसे ब्रह्मदत्त ही कह दिया है।[3]

कथं पुनरतस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति ? चतुर्भि: प्रकारैरतस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति।
—व्याकरणमहाभाष्य, भाग-3, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर रोहतक, 1963 ई., पृ. 503

2 तात्स्थ्यात्तावत्—मञ्चा हसन्ति, गिरिर्दह्यते।
—व्याकरणमहाभाष्य, पृ. 503

3 ताद्धर्म्यात्—जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी 'ब्रह्मदत्त' इत्युच्यते।
—व्याकरणमहाभाष्य, पृ. 503

3. तत्सामीप्य

इसका उदाहरण है—'गङ्गायां घोष:' अर्थात् गङ्गा प्रवाह में आभीर-पल्ली है। यहां प्रवाह का ताद्रूप्य तट में आरोपित होता है, अर्थात् सामीप्य के कारण गङ्गातीर को गङ्गा ही कह दिया जाता है।[1]

तत्साहचर्य

इसका उदाहरण है—'कुन्तान् प्रवेशय' अर्थात् कुन्तों को प्रविष्ट कराओ। यहां कुन्तधर पुरुषों में कुन्त-ताद्रूप्य आरोपित है। यहां पर भी साहचर्य के कारण कुन्तधारी व यष्टिधारी को कुन्त एवं यष्टि ही कहा गया है।[2]

भामह (400-600 ई.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

भामह से पूर्व भी काव्यशास्त्रीय विवेचन हुआ था, भामह ने स्वयं इसकी पुष्टि की है,[3] किन्तु आज यह उपलब्ध नहीं होता है। भामह अपनी पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा से परिचित थे। सम्भवत: उस परम्परा में दूसरों के द्वारा विरचित श्लोकों को उदाहरण के रूप में अपने काव्य में उपन्यस्त किया जाना भी मान्य रहा होगा, किन्तु भामह ने अलंकारों के विवेचन के उपक्रम में स्वकीय उदाहरणों को ही स्थान दिया।[4]

काव्यशास्त्रों में शब्द-शक्तियों की विस्तार से चर्चा तो ध्वनि की स्थापना के अनन्तर ही हुई है, किन्तु छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतीयमान या गम्य अर्थ का संकेत भामह के काव्यालंकार में पाया जाता है। भामह ने समासोक्ति अलङ्कार के वर्णन के उपक्रम में अन्य अर्थ की प्रतीति के द्वारा

---

1 तत्सामीप्यात्—गङ्गायां घोष:, कूपे गर्गकुलम्।
—वही, पृ. 503

2 तत्साहचर्यात्—कुन्तान् प्रवेशय, यष्टी: प्रवेशयति।
—वही, पृ. 503

3 इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया,
बहुधिकृती दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च।
प्रथितवचस: सन्तोऽभिज्ञा: प्रमाणमिहापरे,
गुरुतरधियामस्वाराधं मनोऽकृतबुद्धिभि:॥ 5. 69
काव्यालंकार, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सं. 2019, पृ. 142

4 स्वयं कृतैरेव निदर्शनैरियम्, मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृति:। 2. 96
—काव्यालङ्कार, पृ. 66

वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्टतः स्वीकार किया है,[1] जो कि लक्षणा का मूल है। भामह ने प्रतिवस्तूपमालङ्कार का लक्षण करते हुए कहा है कि यथा, इव आदि शब्दों का प्रयोग न हो, तो भी समान वस्तु के विन्यास (कथन) से गुण-साम्य की प्रतीति के आधार पर प्रतिवस्तूपमा होती है।[2]

इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमा अलंकार में गुण-सादृश्य के आधार पर दो भिन्न धर्मों में भी सादृश्य मान लिया जाता है। यहां गौणी लक्षणा के भाव की छाया देखी जा सकती है।

इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार के सन्दर्भ में भामह ने कहा है कि वाच्य-वाचक वृत्ति से अतिरिक्त प्रकार से जहां वाञ्छित अर्थ का विधान किया जाता है, वहां पर्यायोक्त अलङ्कार होता है।[3] इस प्रकार **काव्यालंकार** में वर्णित उक्त अलंकारों के विश्लेषण के माध्यम से यह कहा जा सकता है कि गम्य अथवा प्रतीयमान अर्थ से भामह परिचित ही न थे, अपितु उन्हें यह अर्थ मान्य भी था। **काव्यालंकार** में बहुलांश में अलङ्कारों का, अवशिष्टांश में दोषों का निरूपण किया गया है। इन्होंने अलङ्कार को काव्य का शोभाधायक-तत्त्व माना है।[4]

यद्यपि समासोक्ति, वक्रोक्ति, प्रतिवस्तूपमादि अलङ्कारों में वर्णित 'अनयार्थो विभाव्यते', 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः' इत्यादि पदावली, वाच्य से इतर अर्थ की प्रतीति अर्थात् व्यञ्जना को संकेतित करती है, तथापि ध्वनि की सत्ता में लक्षणा की भी सत्ता स्वयं सिद्ध है। इनका स्वरूप अंकुरितावस्था में ही **काव्यालंकार** में हमें दृष्टिगोचर होता है। **आचार्यभामह** ने लक्षणा के

---

1 यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ 2. 79
—काव्यालङ्कार, पृ. 60

2 समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥ 2. 34
—वही, पृ. 43

3 पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। 3. 8
—वही, पृ. 70

4 रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥ 1. 13
—वही, पृ. 7

लक्षरगा तथा भेदों के विषय में कुछ भी नहीं कहा, यहां तक कि शब्द-शक्ति के विषय में भी पृथक् रूप से चर्चा नहीं की है। जैसा पहिले कहा गया है कि—समासोक्ति, वक्रोक्ति,[1] पर्यायोक्ति अलङ्कारों के वर्णन के माध्यम से वाच्येतर अर्थ की ओर संकेत किया गया है, जिससे व्यञ्जना एवं तन्माध्यमेन लक्षरगा की सत्ता से वे परिचित थे—यह ज्ञात हो जाता है।

दण्डी (660-720 ई.) का लक्षरगा-विषयक विवेचन

यद्यपि **दण्डी** ने भी शब्द-शक्ति के विषय में **भामह** के समान ही पृथक् रूप से चर्चा नहीं की है, किन्तु **काव्यादर्श** में इन्होंने व्यंग्यार्थ का संकेत उदात्तादि गुणों के निरूपणावसर पर किया है।[2] **दण्डी** ने समाधि नामक गुण के वर्णन के उपक्रम में गौणवृत्ति की चर्चा की है। समाधि-गुण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि लोकस्थिति का अनुवर्तन करने वाले लोग जहां दूसरे के धर्म का दूसरे में व्यवहार करते हैं, वहां समाधि नामक गुण होता है।[3] इस पर टीका करते हुये **श्रीप्रेमचन्द्र-तर्कवागीश-भट्टाचार्य** स्पष्ट लिखते हैं कि दूसरे के धर्म का दूसरे में व्यवहार साध्यवसाना गौणी-लक्षरगा द्वारा होता है। समाधि गुरग में उपचार रहता है, जो कि लक्षरगा का मूल है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि समाधि गुण में विषय का उपादान न होने से साध्यवसाना ही होती है, सारोपा नहीं।[4] **दण्डी** ने भी

---

1 तुलनीय—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। 2. 85
काव्यालङ्कार, पृ. 62

2 पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥ 2. 303
—काव्यादर्श, पृ. 242

3 अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ 1. 93
—वही, पृ. 72

4 यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यवसानगौण्या लक्षणया उपचर्यते स वाक्यार्थः समाधिः…… । उपचारश्चात्राहार्याभेदप्रतीतिरूपः स च लक्षणायां प्रयोजनभूतः……लक्षणा चात्र साध्यवसानरूपा सा च विषयस्यानुपादान एव सम्भवति तेन च विषयोपादाने सारोपगौण्यां न समाधेः सम्भवः।
—काव्यादर्श, सटीक, (टीका. प्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्य), शक सं. 1785, (1863 ई.), पृ. 84

भामह के समान पर्यायोक्त के स्वरूप को प्रकारान्तर-कथन के आधार पर आधारित माना है ।[1] गौणी-लक्षणा का मूलस्रोत भी **दण्डी** के उपमा-रूपक अलङ्कार मे भी पाया जाता है । **श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीश** ने अपनी टीका में इस ओर संकेत करते हुए, गुण-सम्बन्ध से चन्द्रादि पर मुखादि का आरोप उपमा-रूपक का मूल माना है । इस आरोप के आधार पर चन्द्रमा से भिन्न होने पर भी मुख चन्द्रमा से अभिन्न मान लिया जाता है, क्योंकि इसमें गौणी-लक्षणा मूल रूप से निहित रहती है ।[2] यद्यपि **दण्डी** के समय में विशेषकर साहित्य में वृत्तियों तथा शब्द-शक्तियों का विवेचन आरम्भ ही नहीं हुआ था, फिर भी **दण्डी** ने अभिधेय लाक्षणिक एवं प्रतीयमान अर्थ का स्पष्ट भेद किया, अतः **दण्डी** ने जो लक्षणा विषयक चर्चा की है, वह प्रतीयमान के माध्यम से की है।

उदारता नामक गुण के वर्णन के अवसर पर **दण्डी** ने कहा है कि व्यक्ति विशेष द्वारा उत्कर्षवान् गुण-प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होने पर उदारता नामक गुण होता है ।[3] **दण्डी** के समाधि गुण का उदाहरण लक्षणा-वृत्ति के अधिक निकट है, यथा—

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः ॥

यहां पर कुमुद मुद रहे हैं (बन्द हो रहे हैं) और कमल उन्मीलित हो (खिल) रहे हैं । यहां (कुमुदों और कमलों में) नेत्र की क्रिया (निमीलन और उन्मीलन) का आरोप होने के कारण उस (नेत्र क्रिया) का बन्द होने के अर्थ में 'निमीलन' और खिलने के अर्थ में 'उन्मीलन' का व्यवहार हुआ है, अतः 'निमीलन' और 'उन्मीलन' का प्रयोग यहां लाक्षणिक अर्थ में है, इस रूप में समाधिगुण लक्षणा-वृत्ति के अधिक निकट है । यही कारण है कि

---

1 इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ 2 295

—काव्यादर्श, पृ. 238

2 काव्यादर्श, सटीक, (टीका. प्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्य), पृ. 147-148

3 उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।.... प्रतीयते व्यञ्जनया बोध्यते ।

—वही, पृ. 72

अग्निपुराणकार ने भी इसे लक्षणा के प्रसंग में स्थान दिया है।[1] धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार दण्डी की उक्त समाधि-कल्पना वामन में वक्रोक्ति-अलङ्कार के रूप में आयी है।[2]

उद्भट (8 वीं शताब्दी) का लक्षणा-विषयक विवेचन

अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य उद्भट ने किंवा लक्षणा-विषयक चर्चा पृथक् रूप से नहीं की है, किन्तु रूपकालङ्कार के वर्णन के उपक्रम में उन्होंने लक्षणा का महत्त्वपूर्ण अस्तित्व माना है तथा इस प्रसंग में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[3]

यहां अज्ञात लेखक द्वारा विरचित विवृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि जहां मुख्यार्थ में बाधा होती है, वहां गुणवृत्तित्व होता है। स्पष्ट है कि यह लक्षणा की प्रक्रिया है।[4] इस प्रकार गुणवृत्ति का आश्रय तभी लिया जाता है, जब यथाश्रुत-सम्बन्ध में बाधा उपस्थित हो जाय, अर्थात् जहां अभिधा-शक्ति से प्राप्त अर्थों का सम्बन्ध न बन सके और यथाश्रुत-सम्बन्ध बाधित होने के कारण जब घटित न हो सके, तब गुण-वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। प्रतिहारेन्दुराज ने स्पष्ट कह दिया है कि यह प्रक्रिया लक्षणा की है।[5]

---

1 अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः॥ 13॥
—वर्मा, रामलाल, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969 ई., पृ. 79

2 काव्यादर्श, सटीक, (टीका. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री), पृ. 7

3 श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥ 11॥
—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ. 268

4 काव्यालङ्कार-सार-संग्रह, (सम्पा. नारायणदास बनहट्टी), प्रथम संस्करण, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1925 ई., पृ. 16, (नोट्स) पर उद्धृत—'गुणवृत्तित्वं हि मुख्यार्थबाधः' (विवृत्ति)।

5 ननु विरुद्धार्थाभिधायिनोः समानाधिकरणयोः शब्दयोर्निरन्तरार्थनिष्ठेन अभिधाव्यापारेण अनुपपद्यमानान्योन्यसमन्वयत्वाद् यद्व्येकस्य लक्षणया गुणवृत्तित्वमभिधीयते।
—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, (व्या. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी), हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, 1966 ई., पृ. 270

उद्भट के अनुसार साक्षात् उस अभिधात्मक शब्द-व्यापार से जब दूसरे पद के साथ सम्बन्ध न हो सके, फलत: गुणबोधक एक पद जहां दूसरे पद से सम्बद्ध हो वहां रूपकता होती है, यथा–

ज्योत्स्नाम्बुनेन्दुकुम्भेन ताराकुसुमशारितम् ।
क्रमशो रात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानमसिच्यत ।।

यहां उदकता एवं ज्योत्स्नात्व धर्म के भिन्नाधिकरण में रहने के कारण अभिधा से अभेद सम्बन्ध सम्भव नहीं है, अत: लक्षणा से ही अम्बु शब्द उदक का बोधक न होकर स्वगत शुक्लता, आह्लादकता, प्रसरणशीलता आदि गुणों के सदृश ज्योत्स्नागत उन्हीं गुणों का बोध करता हुआ ज्योत्स्ना में शक्त हो जाता है।[1] इस प्रकार **उद्भट** कृत उक्त कृति में शब्द-शक्ति का पृथक् विवेचन भले ही न मिले, किन्तु अलङ्कारों के विवेचन के उपक्रम में लक्षणा को उक्त प्रकार से वर्णित किया गया है। **उद्भट** पर टीका लिखते समय **प्रतिहारेन्दुराज** ने यह स्पष्ट किया है कि काव्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ है, जिसे सहृदय ध्वनि नाम देते हैं। उनका कहना है कि **उद्भट** ने ध्वनि का उल्लेख इसलिए नहीं किया है कि ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों में हो जाता है।[2] **प्रतिहारेन्दुराज** के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनके अनुसार **उद्भट** ध्वनि तथा उसके अन्तर्भूत लक्षणा को मानते हैं। **प्रतिहारेन्दुराज** ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि का विवेचन करते समय स्पष्टत: लक्षणा का उल्लेख भी किया है।[3]

अविवक्षितवाच्य-ध्वनि में लक्षणा समाविष्ट रहती है। **अभिनवगुप्त** के गुरु **इन्दुराज** ने ध्वनि को सर्व-प्रथम षडधा विभाजित किया।[4] प्रथम दो

---

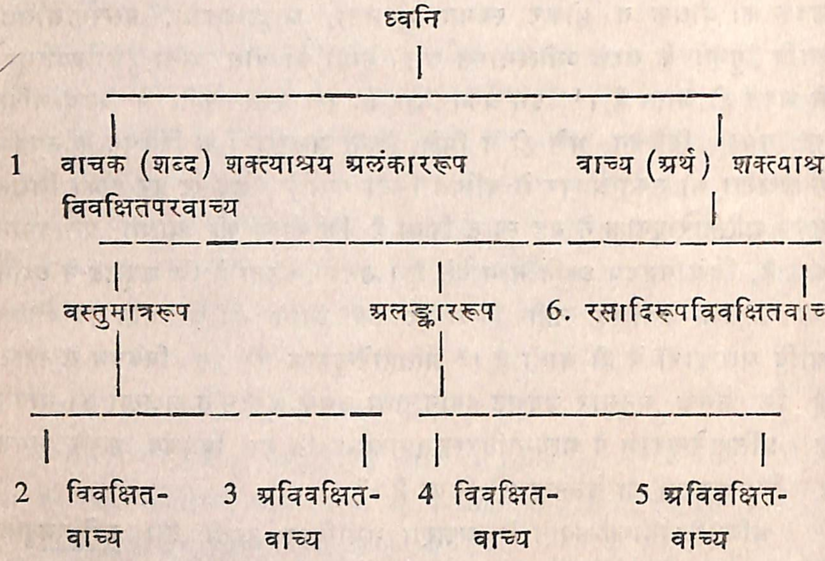
1 काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ. 268

2 ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिन: प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतु: काव्यजीवितभूत: कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित: स कस्मादिह नोपदिष्ट: । उच्यते । एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात् ।
—वही, पृ. 418

3 सुवर्णपुष्पां पृथिवीमित्यादौ तु वाच्यस्याविवक्षा उपमेयस्य बहुलाभत्वस्य तत्सदृशस्य या लक्षणा तस्यामत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमूलत्वात् ।
—वही, पृ. 428

4 व्यञ्जकत्वस्य षट् प्रकारता भवति ।
—वही, पृ. 431

प्रकारों में वाच्य को अविवक्षित माना, शेष चारों में वाच्यार्थ विवक्षित रहता है। विवक्षित वाले भेद को भी स्वतःसम्भवी और कविप्रौढोक्ति भेद से द्विधा विभक्त कर दोनों अर्थात् विवक्षित व अविवक्षित-वाच्य दोनों के दस भेद हो गये। ये भी पद एवं वाक्यगतत्वेन बीस प्रकार की ध्वनि मानते हैं।[1] **काव्यालङ्कार-सार-संग्रह-लघुवृत्ति** के सम्पादक **नारायणदासवनहट्टी** ने **इन्दुराज** की ध्वनि-विषयक मान्यता को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है[2]



यद्यपि **उद्भट**, प्रतीयमान अर्थ को समासोक्त्यादि विभिन्न अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने के लिए भले ही प्रयत्नशील रहे हैं, किन्तु इस बात से इन्कार

---

1 एतेषां च षण्णां भेदानां मध्याद् द्वयोर्भेदयोर्वाच्यस्याविवक्षोक्ता चतुर्षु विवक्षितत्वम्। यत्र च विवक्षितत्वं तत्र वाच्यस्य स्वतः सम्भवित्वात् प्रौढोक्तिमात्रनिष्पादितशरीरत्वाच्च द्वैविध्यम्। अतस्तस्याष्टौ भेदा भवन्ति। एते चाष्टौ भेदा वाच्यस्य यत्राविवक्षा तद्विषयाभ्यां पूर्वोदिताभ्यां द्वाभ्यां भेदाभ्यां संकलिताः सन्तो दश सम्पद्यन्ते। एत एव तु पदवाक्य-प्रकाश्यतया द्वैगुण्यं भजमाना विंशतिर्भवन्ति।

—वही, पृ. 431

2 काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति,(संपा. नारायणदास वनहट्टी), पृ. 174 पर उद्धृत।

नहीं किया जा सकता है, कि वे प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अवश्य स्वीकार करत थे ।[1] इसी प्रकार पर्यायोक्त नामक अलङ्कार में विहित 'अवगम' शब्द का प्रयोग व्यंग्यार्थ का सूचक है ।[2] **लोचन** के अनुसार **उद्भट** ने **भामहविवरण** नाम से **काव्यालङ्कार** पर टीका लिखी थी । उससे भी पता चलता है कि **उद्भट** अभिधा, लक्षणादि वृत्तियों से परिचित थे तथा उन्होंने यह स्वीकार किया कि शब्दों का अभिधान मुख्य अभिधा-व्यापार और गुणवृत्ति है,[3] अतः **भट्टउद्भट** प्रभृति आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं । इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए, अतः लक्षणा-शक्ति से परे व्यञ्जना-शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । ये ध्वनि (व्यञ्जना) को भाक्त अर्थात् लक्षणा-गम्य मानते हैं ।[4]

शङ्कराचार्य (788-820 ई.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

शङ्कराचार्य ने **वाक्यवृत्ति** में मुख्यार्थ के प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित हो जाने पर, मुख्यार्थ के अविनाभूत अर्थान्तर की प्रतीति को लक्षणा माना है ।[5] इस लक्षणा के लक्षण को **धर्मसूरि** ने अव्यापक मानते हुए इसका खण्डन किया है ।[6]

---

1 प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥ 11 ॥ (33)
—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, (व्या. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी), पृ. 334

2 पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥ 6 ॥ (47)
—वही, पृ. 359

3 भामहेनोक्तं—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भट्टो बभाषे, 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति ।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 34

4 चौधरी, सत्यदेव, काव्यशास्त्र के परिदृश्य, अलङ्कार-प्रकाशन, दिल्ली, 1975 ई., पृ. 151

5 मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ 47 ॥
—वाक्यवृत्ति, आनन्दाश्रम-मुद्रणालय, 1915 ई., पृ. 36

6 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध—चतुर्थ अध्याय, लक्षणा-विवेचन, विकासकाल ।

रुद्रट (825-875 ई.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

रुद्रट ने शब्द-शक्तियों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु अर्थालङ्कारों का वर्णन करते समय यह बतलाया है कि वाचक शब्द के अभिधा-युक्त अर्थ चार प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति। यहां 'अभिधा' और 'वाचक' पदों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रुद्रट शब्द-शक्ति के तथ्य से परिचित थे।[1] इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने शब्द-शक्ति के विषय में अपने काव्यालङ्कार में पूर्वाचार्यों के समान ही चर्चा नहीं की, किन्तु भाव नामक अलङ्कार के वर्णन के उपक्रम में ध्वनिवादियों की वस्तुध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य को, ध्वनि-प्रस्थापन से भी पूर्व उपन्यस्त किया है। इन्होंने भाव नामक अलङ्कार की दो प्रकार से व्याख्या की है। प्रथम व्याख्या के अन्तर्गत उन्होंने यह स्वीकार किया कि, जहां किसी अनैकान्तिक हेतु के द्वारा किसी व्यक्ति में विकार (मुखमालिन्यादि) उत्पन्न होता है, तथा वही विकार अपने कार्यकारणभाव और विकारवान् व्यक्ति के आन्तरिक अभिप्राय का सूचक होता है, वहां भाव नामक अलङ्कार होता है।[2]

इसके उदाहरण के रूप में निम्न आर्या उपन्यस्त की है—

> ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
> पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥[3]

नमिसाधु ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यहां मुख की मलिनतारूप विकार (कार्य) तथा उसका कारण वेंत की मञ्जरी का दिखाई पड़ना अप्रतिबद्ध अर्थात् अनियत है, क्योंकि मञ्जरी के दिखाई देने पर सदैव वही विकार नहीं होता है। यही मलिनता बोद्धा को युवक के प्रति तरुणी का राग प्रकाशित करती है। यहां पर निराश तथा लौटते हुए उपपति के हाथ में मञ्जरी देखकर नायिका की मुख-छवि मलिन हो जाती है, जिसे देखकर

---

1 अर्थः पुनरभिधावान्प्रवर्तते तस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥ 7. 1
—काव्यालङ्कार, पृ. 183

2 यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥ 7. 38
—वही, पृ. 206

3 वही, पृ. 207

सहृदय को अभिप्राय की प्रतीति हो जाती है।[1] इससे स्पष्ट है कि चेष्टा विशेष से काव्यगत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर **रुद्रट** भाव नामक अलङ्कार मानते हैं। ध्वनिवादियों ने बाद में इसे वस्तु-ध्वनि माना। द्वितीय प्रकार से भी भाव नामक अलङ्कार का निरूपण करते हुए **रुद्रट** कहते हैं कि—'पदों के उन समस्त गुण-दोष (विधि-निषेध) वाला वाक्य जहां दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वहां भाव नामक अलङ्कार का दूसरा भेद होता है।'[2] इसी का भाव स्पष्ट करते हुए **नमिसाधु** ने अपने टिप्पण में कहा है—वाक्य यदि वाच्यार्थ से भिन्न वक्ता के अभिप्रायरूप अन्यार्थ की प्रतीति कराता है, तो वह भाव अलङ्कार का अन्य प्रकार है।[3] उदाहरणतः—

एकाकिनी यदवला तरुणी तथाहम्,
अस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ![4] ॥ 7. 41

यद्यपि यहां आपाततः निषेध की प्रतीति होती है, परन्तु तरुणी के मूढ आदि पदों पर विचार करने से प्रकृतार्थ निषेध से विलक्षण विधिरूप अर्थ की प्रतीति होती है। भाव के उदाहरण रूप में उपन्यस्त इस श्लोक को **लोचनकार** ने गुणीभूतव्यंग्य के रूप में लिया है।[5] इस प्रकार **रुद्रट** कृत

---

1 अत्र विकारो मुखमालिन्यं तस्य हेतुर्वञ्जुलमञ्जरीदर्शनं तच्चाप्रतिबद्धम्। सर्वदा तद्दर्शने तदभावादिति। तच्च मालिन्यं तरुण्या भावं प्रतिपत्तुः प्रकाशयति।
—काव्यालङ्कार, पृ. 207

2 अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥ 7. 40
—वही, पृ. 208

3 यद्वाक्यं कर्तृ, तदेव पदारूढमेवाभिधेयं वाच्यमभिदधानं प्रतिपादयत्तस्दर्थान्तरं वक्त्रभिप्रायरूपं गमयति, सोऽपरोऽन्यो भावभेदः। कीदृशमर्थान्तरम्। तेन पदारूढेनार्थेनासदृशा विलक्षणा गुणदोषा विधिप्रतिषेधादयो यस्य तत्तथोक्तम्।
—वही, पृ. 208

4 काव्यालङ्कार, पृ. 208

5 ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 134

विवेचन अलङ्कारपरक होते हुए भी ध्वनि के बीजों से अविच्छिन्न होने के कारण तन्माध्यमेन इनकी गणना लक्षणा-समर्थक आचार्यों की सरणि में की जा सकती है, क्योंकि लक्षणा ध्वनि में अन्तर्निहित होती ही है।

वामन (8 वीं श. का अन्त) का लक्षणा-विषयक विवेचन

वामन के समय में लक्षणा का प्रयोग काव्य-जगत् में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था। जैसा कि **वामन** के विवेकी कवि के लिए 'अरोचकी' तथा अविवेकी कवि के लिए 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है, क्योंकि वे दोनों शब्द सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा द्वारा अपना अर्थ देते हैं।[1] **वामन** के अनुसार लक्षणा झटिति अर्थ की प्रतीति का कारण हुआ करती है, अर्थात् लक्षणा होने पर तुरन्त अर्थ की प्रतीति की क्षमता आ जाती है। **वामन** के अनुसार यही लक्षणा का रहस्य है।[2] यद्यपि सर्वप्रथम काव्य की आत्मा के अन्वेषक **वामन**[3] ने परवर्ती आलङ्कारिकों के समान लक्षणा तथा उसके भेदों के विषय में एक ही स्थान पर अलग से चर्चा तो नहीं की है, किन्तु **काव्यालङ्कारसूत्र** के अन्तर्गत प्रथम सूत्र की व्याख्या के उपक्रम में भक्ति शब्द लक्षणा के लिए ही प्रयुक्त किया है।[4] यदि देखा जाय तो **ध्वन्यालोककार** से भी पहिले **वामन** ने ही लक्षणा के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग किया। **वामन** के समय में असभ्य अर्थ में भी लाक्षणिक प्रयोग होते थे। यदि किसी शब्द का प्रमुख अर्थ सभ्य हो तो उसका असभ्य अर्थ लक्षणा द्वारा ही लिया जाता

---

1 इह खलु द्वे कवयः सम्भवन्ति। अरोचकिनः सतृणाभ्यवहरिणश्चेति। अरोचकिसतृष्णाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ। कोऽसावर्थः, विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति। 1. 2. 1

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 13

2 लक्षणायाञ्च झटित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षत इति।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 237

3 रीतिरात्मा काव्यस्य। 1. 2. 6

—वही, पृ. 18

4 काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। 1. 1. 1

—वही, पृ. 5

है।[1] वामन के समय में प्रचुर मात्रा में यत्र-तत्र प्रयुक्त होने वाले लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग काव्य-जगत् में जहां क्षम्य था, वहां अल्पमात्रा में कतिपय जनों द्वारा प्रयुक्त लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करना समीचीन नहीं माना जाता था।[2] यह स्थिति तभी आयी होगी, जब लाक्षणिक प्रयोग व्यवस्थित हो गये होंगे। आलङ्कारिकों ने लाक्षणिक प्रयोगों को उच्चता का मापक माना होगा, साथ ही एक साथ अधिक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी गर्हित माना होगा।[3]

अलङ्कारों के माध्यम से लक्षणा की पुष्टि

वामन अलङ्कारों के माध्यम से भी लक्षणा तथा उसके भेदों के विषय में इङ्गित करते हैं। वक्रोक्ति नामक अलङ्कार के निरूपण के अवसर पर गौणी-लक्षणा तथा अन्य स्थानों पर भी, उक्त लक्षणा के विषय में प्रकारान्तर से कह दिया, किन्तु **वामन** ने जहां—'बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्' कहकर स्पष्ट शब्दों में पूर्व-प्रचलित पञ्चविध लक्षणा का समर्थन किया, वहां सादृश्य-निबन्धना लक्षणा में ही वक्रोक्ति को स्वीकार किया है।

रुद्रट ने वक्रोक्ति को कोई विशेष अलङ्कार न मानकर अलङ्कारों का मूलतत्त्व माना था, उन्होंने श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति भेदद्वय से उसे शब्दालङ्कारों की कोटि में ही रखा। **वामन** ने सादृश्य-लक्षणा, अर्थात् गौणी-लक्षणा को वक्रोक्ति माना। 'असादृश्यनिबन्धना लक्षणा न वक्रोक्तिः' कहकर गौणी को लक्षणा का अपर पर्याय वक्रोक्ति के माध्यम से स्वीकार किया, साथ ही विशेष प्रकार का अलङ्कार माना। इससे स्पष्ट है कि **वामन** को सादृश्य-निबन्धना तथा असादृश्यनिबन्धना नामक लक्षणा के दो भेद मान्य हैं।[4]

---

1 लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम्। तदेवासभ्यार्थान्तरं लाक्षणिकेन असभ्येनार्थेनान्वितं पदं लक्षितम्। यथा—'जन्मभूमिः' इति। तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं न स्वशक्त्या। 2. 1. 17
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 82

2 लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोज्याः। यथा—द्विरेफरोदरशब्दौ भ्रमरचक्रवाकार्थौ लक्षणापरौ। अनतिप्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः। 5. 1. 15
—वही, पृ. 293

3 न तद्बाहुल्यमेकत्र। क्लिष्टता दोषप्रसङ्गात् इति भावः। 5. 1. 16
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 293

4 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 45

रूपकालङ्कार की चर्चा में गौणी का उल्लेख करने के साथ ही यह भी **वामन** ने कहा कि रूपक में गौणी की उपस्थिति के समान ही वक्रोक्ति में भी सादृश्यमूलक लक्षणा की अपरिहार्यता है।[1] जैसे 'मुखं चन्द्र' आदि रूपकालङ्कार में गौण अर्थ का अलङ्कारत्व होता है, उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थ का भी अलङ्कारत्व हो सकता है, इस बात को दिखलाने के लिए सादृश्य से की गई लक्षणा को वक्रोक्ति पद से अभिहित किया गया। वैसे सादृश्यमूलक लक्षणा का अभिप्राय गौणी-लक्षणा से ही है।

अन्य माध्यमों से भी लक्षणा का वर्णन

वामन वैदर्भी रीति में विद्यमान अर्थगुणसम्पद् को भी उपचार या लक्षणा से वैदर्भी नाम से स्वीकार करने हेतु प्रमाण देते हैं। यथा—'मञ्चाः क्रोशन्ति' यहां पर तात्स्थ्य सम्बन्ध से मञ्चस्थ पुरुषों के लिए मञ्च शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है। इसी प्रकार वैदर्भी रीति में स्थित अर्थगुणसम्पत्ति के लिए उपचार अर्थात् लक्षणा से वैदर्भी शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

इसी प्रकार **वामन** नेयार्थ नामक दोष के वर्णनावसर पर कहते हैं कि इस नेयार्थ नामक दोष की उद्भावना तभी होती है, जब लक्षणा की उपस्थिति क्लिष्टता-पूर्वक की गयी हो। कल्पित अर्थ का बोधक पद, नेयार्थ कहलाता है। वाक्य में अश्रुत होने पर भी (अनुमान आदि से) कल्पनीय पदार्थ की कल्पना करने से कल्पितार्थ नेयार्थ कहलाता है।[3]

---

1 यथा च गौणस्यार्थस्यालङ्कारत्वम् तथा लाक्षणिकस्यापीति दर्शयितुमाह—
'सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः'। 3. 4. 8
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 235

2 सापि वैदर्भी तात्स्थ्यात्॥ 1. 2. 22
सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता, तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 33

3 कल्पितार्थं नेयार्थम्। 1. 2. 22
अश्रुतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात् कल्पितार्थं नेयार्थम्।
—वही, पृ. 78
अन्यच्च
रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थत्वम्।
—काव्यालङ्कारदीपिका, पृ. 79 पर उद्धृत।

रूढि एवं प्रयोजनाभाव में की गयी लक्षणा, अर्थात् स्वेच्छापूर्वक की गई लक्षणा, लक्षणा की कोटि में नहीं आती, अपितु नेयार्थ नामक दोष की कोटि में उसे गिना जाता है। **वामन** लक्षणा के निरूढा नामक भेद से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार निरूढा-लक्षणा अभिधा के ही समान है,[1] अतः 'रथाङ्गनामा' आदि पद चक्रवाक पक्षी-रूप अर्थ में रूढ हो जाने से उन्हें दूषित नहीं माना जायेगा।[2] इस प्रकार **वामन** ने, **भामह** एवं **दण्डी** की अपेक्षा अनेक स्थलों पर विस्तार से लक्षणा विषयक चर्चा की है, इसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया है। भले ही **दीक्षित** तथा **विश्वनाथ** के समान लक्षणा के भेदों का विस्तार उन्होंने नहीं किया। **वामन** ने गुणों के माध्यम से भी लक्षणादि का संकेत किया है। **डा० नगेन्द्र** के शब्दों में—'**वामन** के उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के विभिन्न रूपों में लक्षणा तथा व्यञ्जना का चमत्कार है।'[3]

वामनाचार्य ने व्यक्त एवं सूक्ष्मरूपेण अभिधेयार्थ के भेदद्वय की कल्पना की है। व्यक्त—सर्वजनवेद्य, सूक्ष्म—सहृदयसंवेद्य मात्र है। सूक्ष्म भी अर्थ के भेद की दृष्टि से भाव्य और वासनीय है।[4] भाव्य रस की कोटि के अन्तर्गत तथा वासनीय का समावेश अविवक्षितवाच्यध्वनि के अन्तर्गत हो सकता है।

वामनाचार्य कृत लक्षणा का वर्गीकरण

पूर्वोक्त प्रकार से वामन द्वारा वर्णित लक्षणा के वर्गीकरण को **डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी** ने निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है।[5]

---

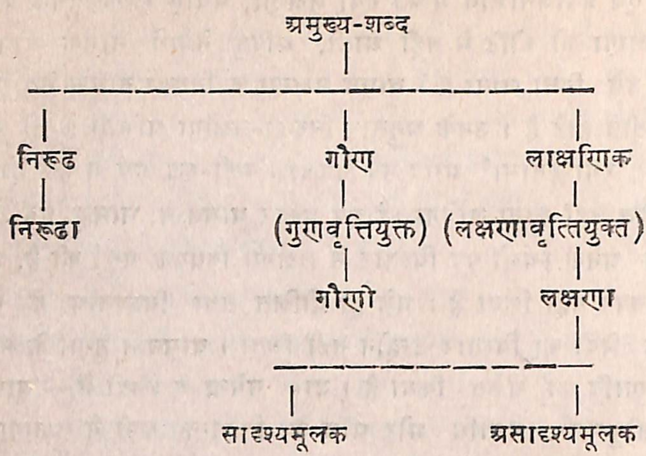
1 निरूढा, लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥
—काव्यालङ्कारदीपिका, पृ. 79 पर उद्धृत

2 ननु चैवं रथाङ्गनामादीनामपि प्रयोगोऽनुपपन्नः। न, तेषां निरूढलक्षणत्वात्। 2. 1. 12
—वही, पृ. 79

3 काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, (संपा. डॉ. नगेन्द्र, भूमिका-अंश), पृ. 46

4 अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च। 3. 2. 9
सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च। 3. 2. 10
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 152

5 लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. 215



अग्निपुराणकार (9वीं श०) का लक्षणा-विषयक विवेचन

लक्षणा के विषय में **अग्निपुराणकार, कुमारिलभट्ट** से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। सर्वप्रथम लक्षणा के लक्षण को ही ले लें। **कुमारिल** ने जो 'अभिधाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' कहकर लक्षणा का लक्षण किया, इन्हीं शब्दों को इन्होंने भी अपनाया, अर्थात् वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा है।[1] इन्होंने उपचार के विषय में कहा है—जब शब्द अपने अर्थ के विषय में स्खलद्गति हुआ, किसी रूढि या प्रयोजनरूप निमित्त से अमुख्य अर्थ का बोधक हो, तब वह औपचारिक कहलाता है।[2] ये भी लक्षणा की प्रतीति ज्ञानस्वरूपा ही मानते हैं, किन्तु जहां **कुमारिल** 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता' कहकर लक्षमाण गुणों के योग से होने वाली गौणी-वृत्ति का लक्षण, लक्षणा के लक्षण के अनन्तर देते हैं, वहां **अग्निपुराणकार** ने गौणी के इस लक्षण का उल्लेख न कर गुण योग मात्र से होने वाली गौणी की अनन्तता के कथन के साथ ही लक्षणा के पञ्चविधत्व का कथन कर लक्षणा के वर्णन को विश्रान्ति दे दी है।[3] **अग्निपुराणकार** ने लक्षणा वर्णन के

---

1 अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ 11 ॥
—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ. 78

2 स्वाभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥ 9 ॥
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी ।
—वही, पृ. 78

3 अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः ॥ 11 ॥
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मताः ।
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया ॥ 12 ॥
—वही, पृ. 79

अनन्तर समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों को वर्णित किया है, इन अलङ्कारों को सामूहिक रूप से ध्वनि नाम से भी अभिहित किया गया है। इस प्रकार विशेष (शैली-विशेष) से कही गई बात को पर्यायोक्त कहते हैं, इन प्रकारों में से एक प्रकार को ध्वनि भी कहा गया है, अथवा इन उपरोक्त अलङ्कारों को (श्रुति के भेदों को) सामूहिक रूप से ध्वनि कहा गया है।[1]

अग्निपुराणकार कृत लक्षणा का वर्गीकरण

यद्यपि अग्निपुराणकार ने स्वतन्त्ररूप से लक्षणा का वर्णन नहीं किया, किन्तु तीन सौ चौतीसवें अध्याय में गुणालङ्कारों के वर्णन के उपक्रम में अभिव्यक्ति नामक अलङ्कार को वर्णित किया है, उनके अनुसार भाव-प्रकटन को अभिव्यक्ति पद से व्यवहृत किया जा सकता है। इसके दो भेद होते हैं—प्रथम को श्रुति (शब्द का स्वार्थ समर्पण), द्वितीय को आक्षेप (ध्वनि) पद से व्यवहृत किया गया है। आक्षेप के भी दो भेद होते हैं—नैमित्तिकी तथा पारिभाषिकी। परिभाषा संकेत को कहते हैं, संकेतित अर्थ को प्रकट करने वाली अभिव्यक्ति पारिभाषिकी कहलाती है। नैमित्तिकी के भी दो भेद किए गए हैं—मुख्या तथा औपचारिकी। यही औपचारिकी ही अन्यत्र लक्षणा पद से अभिहित होती है। उसका स्वरूप भी लक्षणा के समान ही है। जहां किसी कारण-वश अभिधेयार्थ अर्थात् मुख्यार्थ का स्खलन किंवा बाध हो जावे, तत्फल-स्वरूप मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो, वहां औपचारिकी मानी जाती है। इस औपचारिकी के भी दो भेद होते हैं, लाक्षणिकी और गौणी, लाक्षणिकी के भी पांच भेद होते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से अग्निपुराणकार के अनुसार लक्षणा का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है, इन्होंने लाक्षणिकी को पञ्चधा विभाजित किया है।[2]

---

1 पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः॥ 19॥
—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ. 80

2 प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्॥ 7॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी॥ 8॥
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा।

अग्निपुराण के अनुसार लक्षणा का विभाजन निम्न प्रकार से होगा—

- अभिव्यक्ति
  - श्रुति (शाब्दस्वार्थसमर्पण)
    - नैमित्तिकी
      - मुख्या
      - औपचारिकी
        - गौणी
        - लाक्षणिकी के पांच प्रकार
    - पारिभाषिकी
  - आक्षेप (ध्वनि)

अग्निपुराणकार ने लक्षणा के लक्षण से पूर्व लक्षणा के भेदों को गिनाया है, अन्त में लक्षणा का लक्षण किया है। उनके अनुसार औपचारिकी (लक्षणा) की अभिव्यक्ति वहां मानी गयी है, जहां किसी कारण विशेष से अभिधेय (मुख्य) का स्खलन अर्थात् बाध हो जाय, तथा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के वाचक का ग्रहण हो, अर्थात् वाच्यार्थ से अविनाभूत-सम्बन्ध की प्रतीति लक्षणा है। प्रतीत होता है कि उक्त अंश या तो प्रक्षिप्त है, या बाद में प्रकाशन के समय ध्यान न दिये जाने के कारण हस्त-लिखित प्रति में कहीं कोने में किसी विद्वान् द्वारा लिखित टिप्पण रहा हो, मूल ग्रन्थ के साथ छप गया हो ? अन्यथा यह लक्षण अर्वाचीन प्रतीत होता है, साथ ही यह भी विचारणीय है कि आचार्यों ने लक्षणा का लक्षण देने के अनन्तर ही भेदों को वर्णित किया है। भेदों के अनन्तर लक्षणा के लक्षण का दिया जाना प्रक्षिप्तता की ही पुष्टि करता है, जबकि परम्परा ऐसी नहीं रही है।

साभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥ 9 ॥
यया शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिकी ।
सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः ॥ 10 ॥
—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ. 79

आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों ने ध्वनि का वैशिष्ट्य मानते हुए काव्य को व्यंग्य-प्रधान माना है, पर **अग्निपुराणकार** ने शास्त्र में शब्द की प्रधानता स्वीकार करते हुए काव्य को अभिधा-प्रधान माना है।[1] इसी विशेषता के कारण उक्त ग्रन्थ का काव्यशास्त्रीयभाग ध्वनिकार से पूर्व रचा गया हो ऐसी धारणा की पुष्टि करता है। यहां अभिधा को श्रुति नाम से अभिहित किया गया है।

आनन्दवर्धन से पूर्व लक्षणा का विवेचन

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों में लक्षणा का विवेचन परवर्ती आचार्यों के समान समुपलब्ध नहीं होता है। लक्षणा ही नहीं, शक्तियों में से अभिधा को छोड़कर किसी की भी विस्तृत चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। **रुद्रट** ने तो वाचक शब्द की ही चर्चा की है। अलङ्कारशास्त्र के आद्याचार्य **भामह** इस विषय में मौन दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि **दण्डी** ने काव्यादर्श में समाधि नामक गुण-वर्णन के अवसर पर लक्षणा के विषय में तो कहा, किन्तु लक्षणा के सम्बन्धों के विषय में कोई चर्चा नहीं की है। आचार्य **वामन** सादृश्य सम्बन्ध से की गयी लक्षणा को वक्रोक्ति मानते हैं। लक्षणा में अनेक निबन्धनों को स्वीकार करते हुए भी[2] उनका उल्लेख करने में मौन ही दृष्टिगोचर होते हैं। सादृश्य से अतिरिक्त सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति की कोटि में नहीं आती है। इस प्रकार **वामन** ने 'सम्बन्धात्मा' निमित्त को स्वीकार किया है।

उद्भट ने रूपकालङ्कार के वर्णन के अवसर पर गुणवृत्ति के उन्मेष में 'श्रुत्या सम्बन्ध-विरहात्' की भी प्रसङ्गतः चर्चा की है।[3] अर्थात्, मुख्यार्थ का जो सम्बन्ध वह श्रुत होता है, वही अभीष्ट श्रुत-सम्बन्ध

---

1 शास्त्रेषु शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥ 337. 3
—अग्निपुराण, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1966 ई., पृ. 489

2 सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। 4. 3. 8
बहूनि निबन्धनानि लक्षणायाम्।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 235

3 श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥ 1. 11
—काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ. 268

अभिधा-लभ्य अर्थ द्वारा न बन सके, तब गुणवृत्ति का उन्मेष होता है। दूसरे शब्दों में साक्षात् उस अभिधात्मक शब्द-व्यापार से जब दूसरे पद के साथ सम्बन्ध न हो सके, फलतः गुणबोधक एक पद जहां दूसरे पद से सम्बद्ध हो, वहां रूपकता होती है। इस प्रकार से **भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन** आदि आलङ्कारिकों के ग्रन्थों के विवेचन के अनन्तर यह सुनिश्चित हो जाता है कि उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक शक्तियों को अवश्य माना है, सर्वथा निषेध नहीं किया है, भले ही वृत्तियों का विवेचन **आनन्द-वर्धन** के परवर्ती आचार्यों के समान नहीं किया गया। इसका समर्थन **पण्डितराजजगन्नाथ** ने भी किया है। **पण्डितराज** की मान्यता है कि ध्वनिकार **आनन्दवर्धन** से पूर्ववर्ती **भामह** प्रभृति आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य आदि शब्दों को व्यवहृत नहीं किया, इतने मात्र से ही उन्होंने ध्वनि आदि को स्वीकार नहीं किया, ऐसा आधुनिक विद्वानों का कथन असमीचीन है, क्योंकि समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों के वर्णन के माध्यम से गुणीभूत व्यंग्य के कितने ही भेद उन्होंने निरूपित किये हैं। इसके अतिरिक्त व्यंग्य का समस्त प्रपञ्च पर्यायोक्ति अलङ्कार की कुक्षि में निक्षिप्त कर दिया।[1]

आनन्दवर्धनाचार्य (850-875 ई.) का लक्षणा-विषयक विवेचन

ध्वन्यालोक तीन उद्योतों में विभाजित है। लक्षणा विषयक चर्चाएं तीनों उद्योतों में प्रकरणानुसार की गयीं हैं। प्रथम-उद्योत में भाक्तों का खण्डन करते हुए[2] तथा द्वितीय-उद्योत में अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि की चर्चा करते हुए[3] तथा तृतीय-उद्योत में लक्षणा एवं व्यञ्जना के पार्थक्य के निरूपणा-

---

1 ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणी-भूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुत-प्रशंसालङ्कारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपञ्चः पर्यायोक्तिकुक्षौ निक्षिप्तः।

—रसगङ्गाधर, चौ. वि. वाराणसी, 1954 ई., पृ. 370

2 भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

—ध्वन्यालोक, पृ. 29

3 एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनाय इदमुच्यते—

वसर पर लक्षणा विषयक चर्चा की गयी है।[1] आनन्दवर्धन ने यद्यपि मम्मट के समान सभी निमित्तों को स्पष्टतः एक ही स्थल पर गिनाया नहीं है, तथापि मुख्यार्थबाध, प्रयोजन[2], सम्बन्ध[3] व रूढि[4] आदि निमित्तों की चर्चा यत्र-तत्र प्रकरणानुसार की है।[5] ये अभिधा को केवल शक्य अर्थात् मुख्य अर्थ तक सीमित मानते हैं, द्वितीय व्यापार को गुणवृत्ति, भक्ति और लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं,[6] तथापि लक्षणा के लिए ये गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग अधिक करते हैं। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि कारिका भाग में 'लक्षणा' शब्द कहीं भी व्यवहृत नहीं हुआ है, वृत्तिभाग में चार बार प्रयुक्त हुआ है। इन्होंने अन्य आचार्यों के समान लक्षणा का लक्षण भी नहीं किया,

---

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥ 2. 1
ध्वन्यालोक, पृ. 173-174

1 गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति, किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते,......अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति।
—ध्वन्यालोक, पृ. 464, 476

2 मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥ 1. 17
—वही, पृ. 157

3 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति।
—वही, पृ. 471

4 रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि। 1. 16
—वही, पृ. 156

5 भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। 1. 14
—वही, पृ. 149
तुलनीय—भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 5

6 गुणवृत्तिस्तु उपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति।......उपचारमात्रं तु भक्तिः।
—ध्वन्यालोक, पृ. 464, 149

किन्तु ये अमुख्यरूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गु ृत्ति मानते हैं।[1]

आनन्दवर्धन के समय प्रचलित शक्तियां

आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की त्रुटि को पहचाना तथा रस, रीति, अलङ्कार को काव्य का जीवनाधायक-तत्त्व न मानकर काव्य की आत्मा के दर्शन उन्होंने ध्वनि-तत्त्व के रूप में किए तथा इस सिद्धान्त की स्थापना भी की। इसके अतिरिक्त **आनन्दवर्धन** से पूर्व अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियां प्रचलित थीं, किन्तु **आनन्दवर्धन** ने उक्त वृत्तियों से लभ्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ के द्योतक, एक अन्य चतुर्थ—व्यञ्जना-वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुए ध्वनि-तत्त्व का प्रतिष्ठापन किया। **आनन्दवर्धन** ने तात्पर्यशक्ति को अस्वीकार करते हुए केवल अभिधा, गुणवृत्ति और व्यञ्जना नामक तीन शक्तियों को ही स्वीकार किया।

लक्षणा-वृत्ति की चरितार्थता

अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना ये तीनों ही व्यापारात्मक क्रियाएं हैं। अपना-अपना अर्थ बतलाने के बाद विरत हो जाती हैं। 'मुख कमलं' इत्यादि वाक्य में अभिधा, मुख तथा कमल का ज्ञान कराकर विरत हो जाती है। मुख मुख है, कमल कमल है, ऐसा प्रयोग क्यों? दोनों अभिन्न नहीं हो सकते, अत: अभिधा इसका समाधान किए बिना ही विरत हो जाती है, फलत: एक अन्य शक्ति माननी पड़ती है। चाहे उसे गुणवृत्ति कहो, चाहे भक्ति या लक्षणा कहो। यही शक्ति 'मुखं कमलं' का कमल सदृश अर्थ बताने में सफल होती है। इसी प्रकार 'मुखं चन्द्र' में चन्द्रसदृश अर्थ का ज्ञान कराकर लक्षणा-शक्ति भी विरत हो जाती है। अब भी मुख में चन्द्रसदृश आह्लादकता आदि गुणों का बोध होना अवशिष्ट है, जिसके बोध के लिए व्यञ्जना-शक्ति मानी गयी है।

ध्वनि-विरोध तथा लक्षणा-वृत्ति

आचार्यआनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधियों के वर्णन के उपक्रम में जो तीन विधाएं या कल्पनाएं प्रस्तुत कीं, उनमें प्रथम-अभाववाद तथा तृतीय-अलक्षणीयतावाद सम्भावित पक्ष भी हो सकते हैं। द्वितीय भक्ति-वाद जिसके लिए

---

1 यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्ति: प्रसिद्धा।
—ध्वन्यालोक, पृ. 464

वर्तमानकालिक क्रिया प्रयुक्त की गयी है—बुधजनों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह पहले से समाम्नात किया है, दूसरे लोगों ने इसका अभाव कहा, अन्य लोगों ने उसे भाक्त कहा, कुछ लोगों ने उसके तत्त्व को वाणी का अगोचर कहा, अतः सहृदयों के मन की प्रीति के लिए उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं।[1] भाक्तवाद के समर्थक आचार्यों की श्रेणी में **भामह** तथा **उद्भट** आदि का नाम लिया जा सकता है। **आनन्दवर्धन** ने स्वयं इन पर आक्षेप किया है कि अमुख्यवृत्ति के द्वारा काव्य से व्यवहार दिखाते हुए (प्राचीनों ने) ध्वनि-मार्ग को थोड़ा स्पर्श करके भी लक्षित नहीं किया है।[2]

लक्षणा के क्रमिक-विकास में आनन्दवर्धन का योगदान

ध्वनितत्त्व के विकास में वैय्याकरणों का योगदान **आनन्दवर्धन** तथा **मम्मट** ने स्वीकार किया एवं उन्हें सूरि और बुध शब्द से अभिहित किया।[3] **वाक्यपदीय** व्याकरणशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है, जिसके आगम नामक काण्ड में स्फोट का प्रतिपादन किया है। स्फोटवादी आचार्यों की जो 'ध्वनि' थी, वह अनित्य शब्दमात्र तक सीमित थी। उसका व्यञ्जकत्व भी उसी अनित्य शब्द तक सीमित था, उस अनित्य शब्द में व्यञ्जकत्व के अतिरिक्त कोई अन्यवृत्ति, व्यापार या शक्ति उन्होंने नहीं मानी थी, किन्तु **आनन्दवर्धन** अपनी ध्वनि-कल्पना में बहुत आगे बढ़ गये। उन्होंने ध्वनि से—शब्द, वाच्यार्थ,

---

1 काव्यस्यात्माध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्,
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ 1. 1
—ध्वन्यालोक, पृ. 8

2 अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति।
वही, पृ. 34

3 स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। 1. 13
—ध्वन्यालोक, पृ. 102

अन्यच्च
बुधैर्वैय्याकरणैः········ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।
—काव्यप्रकाश, पृ. 28-29

व्यंग्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा इससे युक्त काव्य, इन पांच अर्थों को अपनाया। [1]

भाक्तवाद की उपस्थापना एवं व्याख्या

ध्वन्यालोक में भक्तिवाद की कल्पना इसलिए की गयी है, क्योंकि पूर्वोक्त **भामह** प्रभृति आचार्यों के सिद्धान्तों में ध्वनि समाहित न हो सके। भाक्तपद की व्याख्या **लोचनकार** ने की है। इनके अनुसार प्रसिद्धिवश उत्प्रेक्षित होने वाले को भक्ति कहा जाता है। अभिधेय के द्वारा (तटादि का) सामीप्यादि धर्म (उत्प्रेक्षित होता है) उस (सामीप्यादि निमित्त) से आगत (प्रतीत) लाक्षणिक लक्ष्य-अर्थ भाक्त है। [2]

भाक्तवादियों द्वारा स्वीकृत शक्तियां

लोचन के अनुसार भक्तिवादी अभिधा के अतिरिक्त गुणवृत्ति नामक अमुख्य-व्यापार भी मानते हैं। **उद्भट के भामह-विवरण** से इसकी सम्पुष्टि होती है। अभिधान अर्थ की व्याख्या के प्रकरण में अभिधा तथा गुणवृत्ति को क्रमशः मुख्य और अमुख्य व्यापार रूप में माना गया है। शब्दों का अभिधान अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति है। [3] इसमें गुणवृत्ति का जो स्वरूप **आनन्दवर्धन** ने माना—वह है, परवर्ती **मम्मट** द्वारा प्रस्तुत लक्षणा से बहुत कुछ मिलता-जुलता हुआ, किन्तु सर्वथा उसी रूप में नहीं माना जा सकता है।

आनन्दवर्धन के अनुसार लक्षणा के भेद

ध्वन्यालोक में उपचार या गुणवृत्ति, जिसे भक्ति या परवर्ती आचार्यों ने लक्षणा नाम से भी अभिहित किया, उसके भेदों के वर्गीकरण के विषय में स्पष्ट है कि ध्वनिकार ने सर्वप्रथम निरूढ़ा व प्रयोजनवती दो भेद किए। **आनन्दवर्धन** ने रूढा-लक्षणा का उदाहरण 'लावण्य' आदि शब्दों को दिया

---

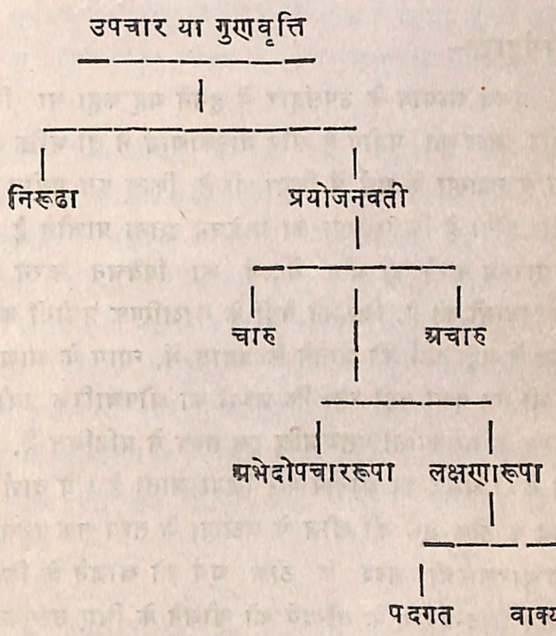
1 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 35-36

2 भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोद्घोष्यत इति भक्तिरिति योगवती समारोपिता गौणी शक्तिः, तस्या आगतस्तज्ज्ञानप्रयोज्यारोपीयविषयताश्रयो भाक्तः।
—ध्वन्यालोक, सटीक,(टीका. बदरीनाथ), चौ. सं. सी. आ. वाराणसी, 1953 ई., पृ. 12

3 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 34

है, वे शब्द ध्वनि के विषय नहीं होते हैं, जो अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में रूढ हो जाते हैं। जैसे 'लावण्य' आदि शब्द।[1]

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य[2] नामक भेदों में प्रयोजनवती लक्षणा के अजहत् तथा जहत्स्वार्था प्रभेद काम करते हैं। इस प्रकार ध्वन्यालोक में प्राप्त लक्षणा भेद, अविवक्षितवाच्य के पदगत एवं वाक्यगत दो अवान्तर भेद और कहे गये हैं। आनन्दवर्धन प्रोक्त लक्षणा के भेदों का रूप निम्न प्रकार से होगा—



डॉ. द्विवेदी, आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत लक्षणा का वर्गीकरण निम्नरूपेण मानते हैं।[3]

---

1 रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ 1. 16
—ध्वन्यालोक, पृ. 156

2 अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥ 2. 1
—वही, पृ. 174

3 द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, पृ. 254

- गुणवृत्ति
  - शुद्धोपचारमूला
    - लक्षणोपचारमूला
  - गौणोपचारमूला
    - वाच्यधर्माश्रिता
    - व्यंग्यार्थाश्रिता

उपसंहार—

प्रथम अध्याय के उपसंहार में हमने यह कहा था कि **ऐतरेयब्राह्मण** में भक्ति शब्द का प्रयोग है और यास्काचार्य ने तो भक्ति शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से लक्षणा के अर्थ में किया भी है, किन्तु इस प्रयोग मात्र से यह सिद्ध नहीं होता है कि लक्षणा का विवेचन इतना प्राचीन है। लक्षणा के विवेचन के प्रारम्भ करने का श्रेय वेदार्थ का विवेचन करने वाले **जैमिनि** और **शबरस्वामी** को है, जिन्होंने वेदों के लाक्षणिक प्रयोगों का वर्गीकरण किया। शब्द के सही अर्थ को जानने के प्रयास में, न्याय के आद्याचार्य **गौतम** की दृष्टि से भी यह बचा नहीं रहा कि शब्दों का औपचारिक प्रयोग होता है। शब्द-शास्त्र के व्याख्याता **पतञ्जलि** इस तथ्य से परिचित हैं, कि भिन्न पदार्थों में भी कभी अभेद का आरोप कर लिया जाता है। ये दार्शनिक और वैय्याकरण शब्द के ठीक अर्थ की खोज में लक्षणा के तथ्य तक पहुंच गये। इसके विपरीत अलङ्कारशास्त्री शब्द के ठीक अर्थ को खोजने के लिये इतने उत्सुक न थे, जितने शब्द-प्रयोग के सौन्दर्य को खोजने के लिए उत्सुक थे। परिणाम यह हुआ कि वे अलङ्कारों के माध्यम से लक्षणा के तथ्य तक पहुंचे।

अलङ्कारशास्त्र के विवेचकों में **भामह** प्रथम हैं, जिन्होंने समासोक्ति अलङ्कार के विवेचन के प्रसंग में वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति का उल्लेख किया है। **दण्डी** ने जो समाधिगुण का निरूपण किया है, उसमें टीकाकार **प्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्य** ने लक्षणा को अन्तर्निहित माना है, किन्तु एक बहुत परवर्ती टीकाकार के प्रमाण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि **दण्डी** लक्षणा का विवेचन कर रहे हैं। **उद्भट** ने गुण-वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या में उनके एक अज्ञात टीकाकार ने मुख्यार्थ बाध शब्द का प्रयोग किया है, यह मुख्यार्थ बाध लक्षणा का मूल है। **प्रतिहारेन्दुराज** ने उद्भट के **काव्यालङ्कार-सार-संग्रह** पर टीका लिखते समय

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उल्लेख किया है और उसका मूल लक्षणा को माना है।

लोचनकार के अनुसार **उद्भट** ध्वनि को लक्षणा में ही अन्तर्भूत करके व्यञ्जना की पृथक् आवश्यकता नहीं मानने वाले आचार्यों में से हैं। इस प्रकार **लोचनकार** के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **उद्भट** ने न केवल लक्षणा का विवेचन ही किया प्रत्युत उसमें ध्वनि के अन्तर्भूत होने की चर्चा भी की है। **रुद्रट** ने भाव अलङ्कार के विवेचन में ही ध्वनि-तत्त्व की ओर संकेत किया है, किन्तु लक्षणा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। लक्षणा का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य **वामन** हैं। उन्होंने लक्षणा के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं तथा लक्षणा के अनेक निबन्धन स्वीकार किये हैं।

पंडितराजजगन्नाथ ने **रसगङ्गाधर** में इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि **आनन्दवर्धन** से पूर्ववर्ती आचार्य भी ध्वनितत्त्व से परिचित थे। **अग्निपुराणकार** ने लक्षणा के तीनों—मुख्यार्थबाध, प्रयोजन तथा रूढि-तत्त्वों की चर्चा की है। उन्होंने रूढि तथा प्रयोजनवती नामक लक्षणा के भेदों के अतिरिक्त लक्षणा के पदगतत्व तथा वाक्यगतत्व की चर्चा भी की है। इस प्रकार लक्षणा सम्बन्धी विवेचन के उद्भव का क्रम काव्यशास्त्रियों में **भामह** से **आनन्दवर्धन** तक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। **आनन्दवर्धन** के परवर्ती आचार्यों में लक्षणा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन पाया जाता है, जिसे लक्षणा के विवेचन का विकासकाल माना जा सकता है। आगामी अध्याय में हम इसकी चर्चा करेंगे।

चतुर्थ अध्याय

लक्षणा का विवेचन : विकासकाल

प्रस्तुत अध्याय में नवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक के आचार्यों के लक्षणा-सम्बन्धी विवेचन के भेदोपभेद पक्ष को छोड़कर शेष पक्षों का विश्लेषण किया जायेगा। लक्षणा-विवेचन के मुख्यतः सात पक्ष प्रसङ्गोपात्त होने के कारण सर्वप्रथम विवेचित किये जा रहे हैं।

1 लक्षणा का लक्षण
2 लक्षणा के निमित्त
3 मुख्यार्थ बाध आदि का विवेचन
4 लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्ध
5 लक्षणा का पदगतत्व अथवा वाक्यगतत्व
6 समास में लक्षणा
7 प्रत्ययों में लक्षणा

1 लक्षणा का लक्षण

अभिनवगुप्त (10-11 वीं श.) ने **आनन्दवर्धन** एवं परवर्ती आचार्य **मम्मट** आदि के समान ही लक्षणा का लक्षण तो नहीं किया, किन्तु लक्षणा और गौणी के लिए 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है, जो भक्ति या लक्षणा का ही नामान्तर है।[1] इन्होंने लक्षणा के बीजों के वर्णन के उपक्रम में ही लक्षणा का लक्षण यत्किञ्चित् परिभाषित कर दिया है।[2] **लोचनटीका** के माध्यम से यह भी स्पष्ट किया कि लक्षणा-शक्ति मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से, अर्थ के प्रतिभासन-बोधन की शक्ति है।[3]

---

1 उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 149

2 मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 31-32

3 मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा शक्तिः।
—वही, पृ. 60

मुकुलभट्ट ने लक्षणा के समस्त प्रपञ्चों को अभिधा में अन्तर्भूत करते हुए भी लक्षणा का लक्षण किया—शक्य अर्थात् अभिधा से प्रतिपाद्य मुख्यार्थ के साथ होने वाले सम्बन्ध-विशेष को, लक्षणा कहा जाता है। उनके अनुसार जिस अर्थ की प्रतीति शब्द-व्यापार से हो, वह मुख्य माना जाता है। इसके विपरीत जो (अर्थ) के द्वारा जाना जाता है, वह लक्षमाण लक्ष्य कहा जाता है।[1] यहां यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन के बाद ध्वनि-विरोधी आचार्यों की एक लहर आती है, इसी उपक्रम में कतिपय आचार्यों ने ध्वनि का विरोध करने हेतु ग्रन्थों की रचना की। उदाहरणत:—

1 कुन्तक कृत वक्रोक्तिजीवित
2 महिमभट्ट कृत व्यक्तिविवेक
3 भट्टनायक कृत (ध्वनिध्वंस) हृदयदर्पण (आज अलभ्य)

इनके समर्थक कतिपय आचार्यों ने भी, इनके विरोधी स्वर में हां मिलाते हुए, स्वनिर्मित ग्रन्थों में, शब्द-शक्ति की चर्चा के प्रसंग में, अभिधातिरिक्त वृत्तियों का विरोध किया। ध्वनि के स्थान पर अन्य वृत्तियों एवं प्रमाणों का आश्रय लेकर उसके अभाव में भी कार्य कर लेने की बात कही। दूसरी ओर ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जो लक्षणा को हृदय से स्वीकार करते हुए भी लक्षणा का विरोध करने के लिए, इसलिए भी बाध्य होते हैं कि यदि लक्षणा स्वीकार की गई तो, लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दो भेदों के कारण ध्वनि की सत्ता को स्वीकार करना अपरिहार्य हो जायेगा, अत: लक्षणा को चाहते हुए भी ध्वनि के विरोध के कारण लक्षणा के विरोध के लिये भी उन्हें बाध्य होना पड़ा।

कुछ आचार्य अभिधातिरिक्त वृत्तियों का, अर्थात् लक्षणा एवं व्यञ्जना (ध्वनि) का विरोध तो नहीं करते, किन्तु इन दोनों वृत्तियों का अभिधा में ही समावेश कर लेने की बात करते हैं। ये व्यापार में विराम न मानकर, सहायकों में परिवर्तन मानते हैं और एक ही अभिधा-व्यापार को अन्तिम अर्थ तक सक्रिय स्वीकार करते हैं।[2]

---

1 शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥ 1 ॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 2

2 वही, (व्या. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भूमिका-भाग), पृ. 22 पर समुद्धृत।

ऐसे आचार्यों में ऐतिहासिक क्रम से मुख्य हैं—**मुकुलभट्ट, भट्टनायक, धनञ्जय, धनिक, प्रतिहारेन्दुराज** आदि। विद्वान् लोग **भोज** को भी ध्वनि-विरोधी आचार्यों की कोटि में ही गिनते हैं। ये लक्षणा-विरोधी आचार्य भी हैं, क्योंकि ये लक्षणा को अभिधा से भिन्न मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इनके अनुसार अभिधा-नामक शक्ति शब्द में रहती हुई, अर्थ का बोध कराती है। उसके व्यापारत्रय हैं—मुख्य, गौण तथा लक्षणा, किन्तु जहां अर्थ का सवाल है, वहां ये तीनों व्यापार जिस अर्थ का बोध कराते हैं, वह **भोज** के अनुसार अभिधेय ही होता है।[1] **क्षेमेन्द्र** तथा **महिमभट्ट** भी उक्त आचार्यों की ही कोटि में आते हैं, जिनकी चर्चा यथास्थान की जायेगी।

लक्षणा के लक्षण में सुधार

पूर्वोक्त प्रकार से विरोधी व समर्थक आचार्यों के बीच विवाद चरम सीमा तक पहुंच जाता है, फलस्वरूप आलङ्कारिकों ने शब्द-शक्ति के विकास के साथ, उसके लक्षण में भी समय-समय पर विकासानुकूल परिवर्तन किए, जिससे लक्षणा के लक्षण में सुधार हुआ।

मम्मट (1050-1100 ई०) के अनुसार लक्षणा का लक्षण

मम्मट ने **काव्यप्रकाश** में मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध एवं रूढि अथवा प्रयोजन में से अन्यतर को अनिवार्य रूप में स्वीकार करते हुए ही, अर्थात् तीनों हेतुओं के रहने पर ही आरोपिता क्रिया को लक्षणा स्वीकार किया है।[2] फलतः वाच्यार्थ के बाध होने पर, लक्ष्यार्थ के उससे सम्बद्ध होने पर, रूढि या प्रयोजन के कारण, जहां अन्य अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ लक्षित हो, वहां आरोपित क्रियारूप लक्षणा होती है। वस्तुतः **मम्मट** का उक्त लक्षण निःसन्देह व्यावहारिक तथा सरलता लिए हुए है, उसमें लक्षणा की तीनों आवश्यकताओं का स्पष्ट निरूपण हुआ है। उनके लक्षणा-लक्षण में आए हुए 'यत्' पद की व्याख्या करके, टीकाकारों ने इस लक्षण को और भी

---

1 शब्दस्यार्थाभिधायिनी शक्तिरभिधा। तया स्वरूप इव अभिधेये प्रवर्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या, गौणी, लक्षणेति तिस्रः।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223

2 मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ 2.9
—काव्यप्रकाश, पृ. 51

अधिक स्पष्टता प्रदान कर दी। इन टीकाकारों में **विश्वनाथ, धर्मसूरि** तथा **गोकुलनाथ उपाध्याय** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[1]

मम्मट के लक्षणा के लक्षण की व्याख्या **काव्यप्रकाश** के प्राचीन टीकाकार **माणिक्यचन्द्र** तथा **सोमेश्वरभट्ट** (12 वीं श.) ने विस्तारपूर्वक की है। यद्यपि दोनों आलङ्कारिकों के समय में लगभग साठ साल का अन्तर रहा है, फिर दोनों व्याख्याएं समान ही दृष्टिगोचर होती हैं। उक्त आचार्यों द्वारा कृत, टीकाद्वय से युक्त **काव्यप्रकाश** के राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के प्रकाशन के अवलोकन से दोनों टीकाओं की समता की पुष्टि होती है।[2] **काव्यप्रकाश** के अन्य टीकाकारों ने भी इस लक्षणा-लक्षण की विस्तृत व्याख्या

---

1 यदित्यस्य यत इति वार्थः, उक्तम्—
मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते। इति दर्पणेऽप्येवम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ उपाध्याय), पृ. 58
अन्यच्च
वाच्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
ययाऽन्यं बोधयेच्छब्दो व्यापृत्या सास्य लक्षणा॥ 2॥
अन्यमर्थम्। अस्य शब्दस्य।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 209
अन्यच्च
मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढेरथ प्रयोजनात्।
ययाऽर्थो लक्ष्यते ह्यन्यः सोच्यते लक्षणा बुधैः॥
—साहित्यबिन्दु, पृ. 44

2 मुख्यार्थस्यानुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधे तेन मुख्यार्थेन सह लक्ष्यार्थस्य योगे सम्बन्धे सादृश्यादौ सति रूढेः प्रयोजनात् पावित्य-शैत्यादिरशब्दान्तरवाच्यात् ताद्रूप्यप्रतीत्यादिरूपादन्योऽर्थो यल्लक्ष्यते प्रतिपाद्यते, यत्साम्यादमुख्यः शब्दव्यापारो लक्ष्यार्थनिष्ठो लक्षणाशक्तिः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, भाग-2, (टीका. माणिक्यचन्द), पृ. 26
तुलनीय—मुख्यस्यार्थस्य अनुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधे तेन मुख्येनार्थेन सह लक्ष्यस्यार्थस्य योगे सम्बन्धे सादृश्यादौ सति रूढेः प्रयोजनाद्वातिपवित्रत्वशी(त)लत्वादेरशब्दान्तरवाच्यात् ताद्रूप्य-प्रतिपत्त्यादिरूपात् अमुख्यः शब्दव्यापारो लक्ष्यार्थविषयो लक्षणाशक्तिः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, भाग-2, (टीका. सोमेश्वरभट्ट), पृ. 26

हेतु अपनी लेखनी चलाई है। इस विषय में इन टीकाकारों के विचारों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।

विश्वनाथ (1300-1380 ई०) ने 'आरोपिता क्रिया' का स्पष्टीकरण **काव्यप्रकाश** की **दर्पण** नामक टीका में किया है, उनके अनुसार स्वाभाविक से इतर अथवा ईश्वर से अनुद्भावित शक्ति ही आरोपिता क्रिया है।[1] **गोपालभट्ट** (1360 ई०) ने 'तद्योगे' का अर्थ **काव्यप्रकाश** की टीका में किया है, इनके अनुसार उस बाधित-मुख्यार्थ के साथ लक्षित होने के लिए अभिलषित अर्थ से सम्बन्ध होने पर (लक्षणा होती है) किया है।[2]

गोविन्दठक्कुर (1490 ई०) ने लक्षणा के लक्षण में परिवर्तन किया है, इन्होंने शक्य से अशक्य की प्रतीति को लक्षणा माना तथा इस लक्षण के निर्माण का श्रेय उन्होंने प्राचीन टीकाकारों को ही दिया है।[3] **गोकुलनाथ उपाध्याय** (18 वीं श.) के अनुसार मुख्यार्थ सम्बन्ध से जन्य प्रवृत्ति-निमित्त-प्रकारिका-स्मृति, लक्षणा रूप में पर्यवसित होती है।[4]

मम्मट ने **काव्यप्रकाश** में लक्षणा-लक्षण के प्रसङ्ग में जिस आरोपिता क्रिया की बात कही थी, पूर्व में वर्णित **आचार्यविश्वनाथ** के अतिरिक्त निम्न आचार्यों ने उसका शब्दत: समर्थन करते हुए विशदीकरण प्रस्तुत किया। यथा—**विस्तारिका** नामक **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **परमानन्दचक्रवर्ती**[5],

---

1 आरोपिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 17

2 तद्योगे तेन बाधितेन मुख्यार्थेन सह लक्षयितुमभिलषितस्यार्थस्य सम्बन्धे।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 48

3 शक्यसम्बन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा इति प्राचीनमतेनैतल्लक्षणम्।
'तद्धेतुः शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति परमार्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 2

4 मुख्यार्थबोधविरोधिना प्रयोगपरम्परागोचरसंस्कारप्रयोजनवत्ताप्रतिसन्धानान्यतरेण च समवहिता मुख्यार्थसम्बन्धजन्या प्रवृत्तिनिमित्तप्रकारिका स्मृतिर्लक्षणा इति पर्यवस्यति।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ), पृ. 58

5 आरोपिता क्रिया लक्षणा, क्रिया शब्दव्यापारः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्दचक्रवर्ती), सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, 1976 ई., पृ. 48

परवर्ती आलङ्कारिक **अजितसेन**[1] (13 वीं श.), **विद्यानाथ**[2] (14 वीं श.) तथा **नञ्जराजयशोभूषणकार नरसिंह** (18 वीं श.) ने भी अर्थ की संगति के लिए तत्सम्बन्धी शक्यार्थ में अनुपपन्नता होने पर आरोपित शब्द-व्यापार को लक्षणा नाम से अभिहित करते हुए, लक्षणा के लक्षण को विशदता प्रदान की ।[3]

हेमचन्द्र (12 वीं श.) को **मम्मट** के परवर्ती आचार्यों में गिना जाता है, किन्तु **मम्मट** द्वारा लक्षणा का सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण किए जाने के बाद भी **हेमचन्द्र** का ध्यान उस लक्षण की ओर नहीं गया, या दृष्टिपथ में ही नहीं आया ? इन्होंने लक्षणा के स्थान पर क्रमशः गौण और लक्ष्य-अर्थ को ही परिभाषित किया। मुख्यार्थ के बाध होने पर किसी निमित्तवश तथा तादृशाख्य प्रतिपादनीय फल के होने पर भेद या अभेद के द्वारा अतथाभूत को तथाभूत मानकर जो अध्यवसित किया जाता है, वह गुणों के कारण होता है, अतः गौण-पदवाच्य होता है ।[4] गङ्गा पद का मुख्यार्थ जो जल-प्रवाह रूप अर्थ उससे सम्बद्ध जो तटादि अर्थ उसके तत्त्वतः अर्थात् अभेदरूप से लक्ष्यमाण होने पर ही वह अर्थ लक्ष्य पदाभिधेय होता है ।[5]

जयदेव (13 वीं श.) वाच्यार्थ के कथन की अविवक्षा में, वक्ता के तात्पर्य की प्रतीति न होने पर, मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्यार्थ की प्रतीति, जहां रूढि या प्रयोजन द्वारा, जिस वृत्ति से होती है, उसे लक्षणा-वृत्ति कहते हैं। यहां पर **जयदेव** ने लक्षणा के लक्षण में एक नूतनता उपस्थित की है। मुख्यार्थ-बाध के स्थान पर मुख्यार्थ की अविवक्षा शब्द का प्रयोग किया है,

---

1 वाच्यार्थघटनेन तत्सम्बन्धिनि समारोपितशब्दव्यापारो लक्षणा ।
—अलङ्कारचिन्तामणि, पृ. 267

2 वाच्यार्थानुपपत्त्या तत्सम्बन्धिन्यारोपितः शब्दव्यापारो लक्षणा ।
—प्रतापरुद्रीय, राजकीय-ग्रन्थमालाधिकारी, बम्बई, 1909 ई., पृ. 44

3 शक्यार्थस्यानुपपत्त्या तत्सम्बन्धिन्यारोपितः शब्दव्यापारो लक्षणा ।
—नञ्जराजयशोभूषण, ओ. रि. इ., बड़ौदा, 1930 ई., पृ. 14-15

4 मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः ।
—काव्यानुशासन, पृ. 182

5 मुख्यार्थसम्बद्धस्तत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः ।
—वही, पृ. 190

जो अधिक व्यावहारिक लगता है।[1] वस्तुतः वक्ता 'गङ्गायां घोषः' शब्द का प्रयोग शीतत्वपावनत्वातिशय की प्रतीति के लिए करता है, यही उसकी विवक्षा है। जब वक्ता लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करता है, तो रूढि या प्रयोजन के कारण ही करता है। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ के कथन के प्रति उसके मन में अविवक्षा ही रहा करती है।

'मुख्यार्थबाधे' कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि वक्ता ने वाक्य का प्रयोग किया, उसमें तत्तत् शब्दों के उच्चारण के अनन्तर दो पदों के सम्बन्धों में बाधा उपस्थित हो गई, अर्थात् अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति हो गई, किन्तु मुख्यार्थ की अविवक्षा कहने से यह स्पष्ट होता है कि वक्ता उक्त पद का प्रयोग जानबूझकर कर रहा है। वस्तुतः उसे वाच्यार्थ के प्रति किञ्चित् भी लगाव नहीं है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी यथार्थतः ऐसी ही मानसिक स्थिति में किया जाता है और वक्ता जानबूझकर करता भी है। ऐसी स्थिति में उसे न मुख्यार्थ का मोह रहता है, न ही उसके मन में ऐसी विवक्षा ही रहती है, क्योंकि शक्त-पद के प्रयोग की अपेक्षा अशक्त-पद के प्रयोग में चमत्काराधिक्य विद्यमान रहने के कारण उनका प्रयोग, विशेष-प्रयोजन के कारण हुआ करता है।[2]

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य (1323-1380 ई.) ने मुख्यार्थ बाध-पुरस्सर अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाले, रूढि अथवा प्रयोजनवश होने वाले, शक्य-सम्बन्ध को लक्षणा माना है।[3]

विजयवर्णी (14 वीं श.) ने, जो लक्षित होता है, उसे लक्षणा माना है। वाच्यार्थ के बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित वाच्यार्थातिरिक्त अन्य अर्थ

---

1 मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वाऽवाचो च रूढितः।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्तो लक्षणा मता॥ 9. 1
—चन्द्रालोक, पृ. 263-266

2 शक्तपदापेक्षयाऽशक्तपदप्रयोगस्य सामान्यतः सविशेषप्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 47

3 मुख्यार्थान्वयबाधे स्यादन्यार्थप्रतिपत्तिकृत्।
लक्षणा शक्यसम्बन्धो रूढितोऽथ प्रयोजनात्॥ 4॥
—काव्यपरीक्षा, मिथिलाविद्यापीठ, बिहार, 1956 ई., पृ. 3

के रूप में जो लक्षित होता है, वही लक्षणा है।[1] **धर्मराजाध्वरीन्द्र** (1506 ई.) ने शक्य के साक्षात् सम्बन्ध को, केवललक्षणा माना है, इन्होंने लक्षणा के प्रारम्भ में ही केवललक्षणा और लक्षितलक्षणा दो भेद किए हैं, लक्षित-लक्षणा में शक्य का परम्परित सम्बन्ध होता है, अतः उसके लिए इन्होंने अलग से लक्षण को निर्मित किया है।[2] **अमरचन्द्रयति**[3] (11 वीं श.) तथा **विद्याधर**[4] (13 वीं श.) ने जहां **मम्मट** के अनुसार लक्षणा का लक्षण किया वहां **प्रभाकरभट्ट**[5] (11 वीं श.) **मङ्खक**[6] (1160 ई.), **शारदातनय**[7] (13 वीं श.) तथा कतिपय अन्य प्राचीन आलङ्कारिकों ने **भर्तृमित्र**, **कुमारिलभट्ट** तथा **अग्निपुराणकार** के अनुसार लक्षणा का लक्षण किया है।

---

1 मुख्यार्थे बाधिते मुख्यसम्बन्ध्यर्थोऽपि लक्ष्यते।
अन्यार्थत्वेन यः सोऽयं लक्षणेत्यभिधीयते॥
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 8

2 शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा। ……यत्र शक्यपरम्परासम्बन्वे-नार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा।
—वेदान्तपरिभाषा, क्षेमराजश्रीकृष्णदास, वैङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1957 ई., पृ. 120

3 मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थासन्नत्वे लक्ष्यतेऽपरः।
रूढे प्रयोजनाद्वाऽर्थो यत्सोक्ता लक्षणा बुधैः॥ 177॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 48

4 मुख्यार्थानुपपत्तौ तद्योगे रूढितोऽथवापि फलात्।
अन्योऽर्थो यदि लक्ष्यो भवति तदा लक्षणाभिमता॥ 5॥
—एकावली, व्यवस्थापक, राजकीय-ग्रन्थमाला, बम्बई, 1903 ई., पृ. 62

5 अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
—रसप्रदीप, पृ. 44

6 अभिधेयाविनाभूतं स्पृशन्ती लक्षणोच्यते।
—साहित्यमीमांसा, पृ. 3

7 स्वाभिधेयाविनाभूतप्रतीते वस्तुनि क्वचित्।
शब्दव्यापारविश्रान्तिहेतुता लक्षणोच्यते॥
—भावप्रकाशन, पृ. 155

इसी प्रकार एक ओर जहां **प्रतापरुद्रीय** के कर्ता **विद्यानाथ** ने स्वकीय-ग्रन्थ में लक्षणा का लक्षण ही नहीं दिया, वहां दूसरी ओर **केशवमिश्र**[1] (16 वीं श.) तथा **कविकर्णपूर**[2] (16 वीं श.) ने **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य** कृत लक्षण को ही अपनाया है।

विश्वनाथ (1300-1380 ई.) ने लक्षणा की परिभाषा **मम्मट** से मिलती-जुलती की है, अन्तर इतना है कि **मम्मट** ने आरोपिताक्रिया को लक्षणा माना है, ये अर्पित-शक्ति को लक्षणा मानते हैं। मुख्य अर्थ के बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन वश उससे (मुख्य अर्थ से) सम्बद्ध अन्य-अर्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह अर्पित-शक्ति लक्षणा है।[3] इन्होंने शक्य-सम्बद्ध अशक्यार्थ-प्रतीति का हेतु लक्षणा माना है। वस्तुतः लक्ष्यार्थ शब्द का वास्तविक अर्थ न होकर आरोपित अर्थ है। दण्डचक्रादि न्याय से लक्षणा तीनों हेतुभूत-तत्त्वों के एक साथ होने पर ही होगी, अतः **प्रदीपकार** ने इन तीनों को लक्षणा का हेतु बताते समय बहुवचन का प्रयोग न कर एकवचन का प्रयोग किया है।[4]

धर्मसूरि(14-15वीं श.)ने लक्षणा के लक्षण करने के साथ उसका सामंजस्य भी बिठाया तथा इसी प्रकरण में वे अन्य आचार्यों की लक्षणा-विषयक त्रुटियों को भी, पाठकों के सामने उपस्थित करने में नहीं चूकते, उन्होंने 'ननु केयं लक्षणा'इस प्रकार प्रश्न-पुरस्सर विषय को उपस्थापित करते हुए प्राचीन दार्शनिकों का खण्डन भी किया है। ये **वाक्यवृत्ति में शङ्कराचार्य** प्रोक्त लक्षणा के लक्षण को अव्यापक इसलिए मानते हैं, क्योंकि उक्त लक्षण, अर्थात् वाच्यार्थ के प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित हो जाने पर, मुख्यार्थ से अविनाभूत अर्थान्तर की प्रतीति ही लक्षणा है,[5] इस मत को स्वीकार करने पर तो

---

1 लक्षणा शक्यसम्बन्धः।
—अलङ्कारशेखर, पृ. 10

2 लक्षणा पुनः—मुख्यार्थबाधे शक्यस्य सम्बन्धे यान्यधीर्भवेत् ॥ 19 ॥
—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 40

3 मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ 2. 5
—साहित्यदर्पण, पृ. 85

4 'तद्धेतुः शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति परमार्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 27

5 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 89

'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि स्थलों में लक्षणा न हो सकेगी।[1]

शङ्कराचार्य के अनन्तर, इन्होंने **वाचस्पतिमिश्र** तथा **शालिकनाथमिश्र** के लक्षणा के लक्षण का खण्डन करते हुये कहा कि, किन्हीं लोगों ने व्याप्ति से दूषित लक्षणा का लक्षण किया है—वाच्यार्थ के बाध के कारण वाक्यार्थ में सम्बन्ध की उपपत्ति न होने पर वाच्यार्थ के सम्बन्ध-वश प्राप्त अर्थ द्वारा जहां मुख्यार्थ की संगति होती है, वहां लक्षणा-वृत्ति मानी जाती है।[2] यदि इसे लक्षणा का लक्षण माना जाय तो 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि स्थल में लक्षणा सम्भव न हो सकेगी, क्योंकि यहां पर समस्त पदों के लक्षक होने के कारण वाच्यार्थ बाधाभाव है।[3]

अप्पयदीक्षित (16 वीं श.) ने मुख्यार्थ के सम्बन्ध के द्वारा शब्द का प्रतिपादक होना लक्षणा माना है।[4] वस्तुतः **दीक्षित** का यह लक्षण नैयायिकों की विवृत्तिमात्र है, तथापि **दीक्षित** ने लक्षणा-विषयक मौलिक विचार प्रकट किए, इस विषय में उनका अपना मत है कि लक्षणा-व्यापार शब्द के उसी अर्थ का बोध करा सकता है, जिसका सम्बन्ध शब्द के मुख्यार्थ के साथ हो, इस प्रकार के लक्ष्यार्थ का बोध कराने की शक्ति अभिधा-व्यापार पर

---

1 मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥
इति लक्षणालक्षणं तदप्यव्यापकम्। कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोति, इत्यत्रैतल्लक्षणस्याव्यापकत्वात्।......न ह्यत्र मानान्तरविरोधः। तदर्थस्य प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 217-218

2 वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणेष्यते॥
—प्रकरणपञ्चिका, पृ. 13

3 कैश्चिदुक्तं लक्षणालक्षणं व्याप्तिदूषितम्, तथाहि—
वाच्यार्थस्य हि वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते॥
इति यल्लक्षणं तदव्यापकम्। नहि 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादावपि तल्लक्षणमस्ति। सर्वेषां पदानां लक्ष्यकत्वेन वाच्यार्थाबाधात्।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 216

4 अथ लक्षणा निर्णीयते, सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 18

ही आश्रित है, अतः मुख्यार्थ सम्बन्ध-वश होने वाली शब्द की प्रतिपादकता ही लक्षणा है। गौणी के विषय में इनका भी यही विचार है, कि गौणी भिन्न वृत्ति नहीं है।

अच्युतराय (16 वीं श.) के अनुसार तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर अर्थारोपपुरस्सर शक्य-सम्बन्ध की बोधिका जो शाब्दी वृत्ति है, वही लक्षणा है।[1]

कणादतर्कवागीश (1560 ई.) के मतानुसार शक्य से अशक्य की उपस्थिति ही लक्षणा नहीं है, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थल में गङ्गा पद के शक्य—जलप्रवाह का ज्ञान होने के अनन्तर उसी शक्य—जलप्रवाह से अशक्य—तीरादि की उपस्थिति होती है, अतः गङ्गा-पद में लक्षणा है, ऐसा कहना चाहिए। शक्य से अशक्य की प्रतीति लक्षणा-जन्य है, वही लक्षणा नहीं है।[2]

विश्वनाथदेव (1592 ई.) ने अपने **साहित्यसुधासिन्धु** में लक्षणा से पूर्व लाक्षणिक शब्द को परिभाषित किया, जिसमें उन्होंने कहा कि जहां मुख्यार्थ के साथ अन्वय अनुपपन्न होने से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, काव्य की सारभूतता को प्राप्त हुआ वह शब्द, लाक्षणिक कहलाता है।[3] इन्होंने लाक्षणिक पद को काव्य का 'सारभूततत्त्व' इसलिए बताया है कि प्रयोजनमूला लक्षणा में उत्कृष्ट प्रकार की व्यञ्जना का समावेश होता है। लाक्षणिक शब्द को परिभाषित कर उन्होंने लक्षणा का लक्षण इस प्रकार से किया है—जहां तात्पर्य के विषय में और अन्वय में मुख्यार्थ का बाध होता है, वहां

---

1 अर्थारोपेण या शाब्दी शक्यसम्बन्धबोधिका।
तात्पर्यानुपपत्त्यैव वृत्तिः सा लक्षणोच्यते ॥ 2. 59
—साहित्यसार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1906 ई., पृ. 39

2 'शक्यादशक्योपस्थितिर्हि लक्षणा जन्या' न तु सैव लक्षणा इति। (टीका. लक्षणा-जन्या लक्षणाज्ञानजन्येत्यर्थः। तत्र लक्षणां विना वृत्यन्तरेण अशक्योपस्थितेरसम्भवात् लक्षणैव तादृशार्थोपस्थितिर्जनकेति भावः)।
—भाषारत्न, कलकत्ता-संस्कृत-साहित्यपरिषद्-भवन, कलकत्ता, 1936 ई., पृ. 216

3 मुख्यार्थान्वयाद् यत्र लक्षणा समुपास्यते।
स लाक्षणिकः शब्दः काव्यसर्वस्वतां गतः ॥ 2. 13
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 37

लक्षणा कही गई है, अर्थात् लक्षणा होती है।[1]

राजचूडामणिदीक्षित (17 वीं श.) ने अभिप्रेत अन्वय के न बन पाने के कारण शक्य से भिन्न अशक्य अर्थ का ज्ञान कराने वाले शब्द-व्यापार को लक्षणा कहा है।[2] **नरेन्द्रप्रभसूरि** (17 वीं श.) ने **अलङ्कारमहोदधि** में रूपकालङ्कार के सन्दर्भ में उपचार के विषय में कहा है कि, किसी प्रकार मुख्यार्थ का अनुपयोग होने पर मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्यार्थ में वाच्यार्थ के धर्मों का आरोप किया जाए, वहां उपचार का वैचित्र्य देखने में आता है। अन्य में अन्य का आरोप उपचार कहलाता है, यही उपचार—लक्षणा नामक शब्द का व्यापारविशेष कहा जाता है।[3] **गोकुलनाथ** (1650-1740 ई.) का कथन है कि वाक्यार्थ में वाच्यार्थ के बाध होने पर वाच्यार्थ के सम्बन्धवश प्राप्त अन्वित अर्थ को लक्षणा कहा जाता है।[4]

मौनिश्रीकृष्णभट्ट (1628-1658) ने उक्त लक्षण में किंचित् परिवर्तन-पुरस्सर लक्षणा की परिभाषा की है। ये 'स्वशक्यसम्बन्ध' को लक्षणा मानते हैं। 'स्व' का अभिप्राय लाक्षणिक पद से है।[5]

विश्वनाथन्यायपञ्चानन (1634 ई.) ने उक्त लक्षणा के लक्षण में

---

1 यत्र मुख्यार्थबाधः स्यात्तात्पर्यविषयान्वये, लक्षणा कथिता ॥ 2. 14
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 38

2 तात्पर्यविषयीभूतार्थान्वयानुपपत्तितः।
शक्यभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारो लक्षणोच्यते ॥
—काव्यदर्पण, पृ. 49

3 कथञ्चिल्लब्धबाधस्य तत्प्रत्यासत्तिशालिनी।
मुख्यस्यार्थस्य सामान्यमन्यार्थेऽतिशयाय यत् ॥ 21 ॥
शब्दे नारोप्यते सेयमुपचारविचित्रता।
रूपकादीनलङ्कारान् या प्रसूते रसोत्तरान् ॥ 22 ॥
—अलङ्कारमहोदधि, पृ. 32

4 वाच्यार्थस्य (च) वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥ इति।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 2

5 स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा। स्वं लाक्षणिकं पदम्, तस्य यच्छक्यम्, तत्सम्बन्धो लक्षणेत्यर्थः।
—वृत्तिदीपिका, पृ. 10

तात्पर्यानुपपत्ति को और अधिक जोड़ दिया है। ये तात्पर्यानुपपत्ति-पुरस्सर शक्य के सम्बन्ध को लक्षणा मानते हैं। शक्ति अर्थात् शक्तिगम्य अर्थ 'गङ्गायां घोष:' इत्यादि पद में शक्य—पय: प्रवाह-विशेषरूप-अर्थ, उसका लक्ष्यार्थ—तटादि के साथ जो सम्बन्ध, वही लक्षणा है।[1] इन्होंने बीज सहित लक्षणा का लक्षण किया तथा लक्षणा में तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है। प्रतीत होता है, कि इनके समय तक लक्षणा बीज-विषयक विवाद उग्र रूप धारण कर चुका होगा? अत: इन्हें उक्त प्रकार से लक्षणा का लक्षण करने को बाध्य होना पड़ा। **खण्डदेव** (1657 ई.) ने लक्षणा के लक्षण में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त शक्य-पद के स्थान पर वाच्य-पद का प्रयोग किया है तथा उन्होंने उक्त पद से पूर्व 'स्व' पद को और जोड़ दिया है। इस प्रकार ये स्ववाच्यसम्बन्धत्व को लक्षणा मानते हैं।[2]

पण्डितराजजगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रयुक्त लक्षणा के लक्षण को ही अपनाया है। दूसरे शब्दों में **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य, केशवमिश्र** तथा **कविकर्णपूर** की पदावली को ही इन्होंने अपनाया है। जिस किसी पद के शक्यार्थ (अभिधेयार्थ) का, जिस किसी पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसको लक्षणा कहते हैं।[3] ये लक्षणा के लक्षण के विषय में नैयायिकों के अनुगामी प्रतीत होते हैं, अत: निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है।

प्राचीन विद्वान् वाच्यार्थ के सम्बन्ध द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की स्मृति को लक्षणा मानते हैं, किन्तु आधुनिक विद्वानों को उक्त लक्षण अमान्य है। इसका कारण यह है कि अर्थ की स्मृति होने में, जिसका ज्ञान कारण-रूप हो, वह पदार्थ शब्द की वृत्ति किंवा आधुनिक शब्दों में शक्ति कहलाता है, वह वस्तु स्मृति-रूप नहीं, अपितु सम्बन्ध-रूप है, क्योंकि पूर्वोक्त स्मृति (ज्ञान) का ज्ञान लक्ष्यार्थ के बोध का कारण नहीं है, अत: उसे ही

---

1 लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित:।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 21

2 स्ववाच्यसम्बन्धवत्वं लक्षणा।
मीमांसाकौस्तुभ, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1924 ई., पृ. 278

3 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'।
—रसगङ्गाधर, पृ. 149
अन्यच्च
—रसचन्द्रिका, पृ. 42

लक्षणा मानना उचित है, न कि उसकी स्मृति को। इस प्रकार नवीन विद्वान् वाच्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा मानने लगे हैं। इसी लक्षण को **रस-गङ्गाधरकार** ने भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। **नागेश** (1700 ई.) ने स्वयं लक्षणा का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं किया। नैयायिक एवं मीमांसक प्रभृति आचार्यों के मतों की ही उपस्थापना कर उनका परीक्षण किया।[1]

आशाधरभट्ट (18 वीं श.) ने उक्त लक्षण को प्रकारान्तर से किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार शक्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाली, अतएव शक्य-सम्बन्ध-सहकारिणी-वृत्ति ही लक्षणा है।[2]

कोविदानन्द की स्वोपज्ञ टीका में **आशाधरभट्ट** ने लक्षणा का लक्षण नहीं किया, किन्तु किस अवस्था में लक्षणा का व्यापार अर्थ की प्रतीति कराता है, उसे स्पष्ट करते हुए लक्षणा-व्यापार की अवस्था में शब्द-संकेत की जो स्थिति बतलाई है, वह इस प्रकार है—शक्यार्थ(मुख्यार्थ) का बाध होने पर योग, अर्थात् सम्बन्ध विशेष की सहायता से लक्षणा व्यापार, अर्थ की प्रतीति कराता है। इस व्यापार की स्थिति में शब्द-संकेत में संकोच, प्रसार अथवा त्याग हो जाता है।[3]

रामकर्ण आसोपा (20 वीं श.) **मुरारिदान** कृत **यशवन्तयशोभूषण** के

---

1 अत्र तार्किकाः—स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा।

—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 39

अन्यच्च

परे तु आरोपितशक्यतावच्छेदकरूपेण शक्त्यैव तत् पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धान्यव्यक्तिबोधे, व्यक्तिविशेषबोधे वा लक्षणेति व्यवहारः।

—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 112

2 शक्यसम्बन्धसहकारिणी वृत्तिर्लक्षणा। सा च शब्दव्यापारत्वाच्छब्दनिष्ठा मुख्यार्थबाधे सति तत्सम्बन्धिनमर्थं विषयीकरोति।

—त्रिवेणिका, पृ. 18

3 शक्यार्थस्य संकेतितार्थस्य बाधे प्रवृत्तानुपयोगे सति सङ्कोचो न्यूनत्वं प्रसारश्चाधिकत्वं प्लुतिरुल्लघनं तत्त्यागेनान्यार्थाश्रयणमित्यर्थः। योग-सम्भवे सम्बन्धसत्वे न तु सम्बन्ध एव लक्षणेति भावः।

—कोविदानन्द, पृ. 15

संस्कृत अनुवादक पं० रामकर्ण आसोपा के अनुसार बाधित वाच्यार्थ का अन्यार्थ के साथ सम्बन्ध ही लक्षणा है ।[1]

ऐतिहासिक क्रम से विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों के अनुसार लक्षणा की परिभाषा को वर्णित कर लक्षणा के लिए वाञ्छित निमित्तों की भी चर्चा प्रकरणानुसार किया जाना नितान्त आवश्यक है, अतः इसे भी विभिन्न आचार्यों के मतानुसार वर्णित किया जाता है ।

2 लक्षणा के निमित्त

लक्षणा के लिए जिन निमित्तों की चर्चा की गयी है, अधिकतर आचार्यों ने उनकी संख्या तीन मानी है ।

अभिनवगुप्त (11 वीं श.) ने भाक्तवाद के निराकरणावसर पर भक्ति शब्द की अनेक महत्त्वपूर्ण व्युत्पत्तियाँ की हैं तथा इसी प्रकरण में इन्होंने निमित्तत्रयों की भी चर्चा की है । मुख्य अर्थ का भङ्ग 'भक्ति' है । इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उपचार का बीज है ।[2] **मम्मट** ने सर्वप्रथम लक्षणा के स्पष्ट एवं प्राञ्जल जिन निमित्तत्रयों की चर्चा की है, वे हैं—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ-सम्बन्ध तथा रूढि या प्रयोजन में अन्यतर किसी भी एक का होना ।[3] **मम्मट** के अनन्तर कतिपय आलङ्कारिकों ने इन हेतुओं को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है । कुछ आलङ्कारिक रूढि को छोड़कर अन्य सभी हेतुओं को मानते हैं । कुछ विद्वान् मुख्यार्थबाध या तद्योग को लक्षणा का हेतु मानते हैं, कुछ तद्योग को ही हेतु मानते हैं । कतिपय आचार्य ऐसे हैं, जो मुख्यार्थबाध को भी हेतु रूप में मानने के लिए

---

1 वाच्यार्थबाधोऽन्यार्थेन तत्सम्बन्धः प्रजोजनम् ।
बाधितार्थस्य कथने सामग्रीयं नराधिप ॥ 2 ॥
शक्ति सा लक्षणाऽन्यार्थलक्षणा मुनिभिर्मता ।
अत्रास्ति मदिरान्यायो यशवन्तनरेश्वर ॥ 3 ॥
—यशवन्तयशोभूषण, (संस्कृत अनु. रामकर्ण आसोपा), मारवाड़ स्टेट, जोधपुर, 1964 ई., पृ. 68

2 मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति ।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 32

3 मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् । 2. 9
—काव्यप्रकाश, पृ. 51

तैयार नहीं हैं। इस प्रकार आलङ्कारिकों में लक्षणा के लिए अपेक्षित हेतुओं के विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता है, जिसे निम्न प्रकार से विवेचित किया जाता है।

मम्मट के समर्थक आचार्य

मम्मट के समर्थक आचार्यों में **जयदेव**[1], **विद्याधर**[2], **अमरचन्द्रयति**[3], **विश्वनाथ**[4], **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य**[5], **धर्मसूरि**[6], **भावदेव**[7] आदि आते हैं। जिन आचार्यों ने मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा प्रयोजन को तो लक्षणा का हेतु माना, किन्तु रूढि को नहीं माना, उनमें **आचार्यहेमचन्द्र** प्रमुख हैं, इन्होंने तृतीय हेतु के अन्तर्गत वाञ्छित रूढि-हेतु को इसलिए अस्वीकार किया, क्योंकि ये रूढा लक्षणा को नहीं मानते हैं। रूढि लक्षणा इनकी दृष्टि में

---

1 मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वोऽवाचो च रूढितः।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्तो लक्षणा मताः॥ 9. 1
—चन्द्रालोक, पृ. 263-266

2 मुख्यार्थानुपपत्तौ तद्योगे रूढितोऽथवापि फलात्।
अन्योऽर्थो यदि लक्ष्यो भवति तदा लक्षणाभिमता॥ 5 ॥
—एकावली, पृ. 62

3 मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थासन्नत्वे लक्ष्यते परः।
रूढे प्रयोजनाद्वाऽर्थो........................ ॥ 177 ॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 48

4 मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ........................ ॥ 2. 5
—साहित्यदर्पण, पृ. 85

5 मुख्यार्थान्वयबाधे स्यादन्यार्थप्रतिपत्तिकृत्।
लक्षणा शक्यसम्बन्धो रूढितोऽथ प्रयोजनात्॥ 1. 4
—काव्यपरीक्षा, पृ. 3

6 वाच्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
ययान्यं बोधयेच्छब्दो व्यापृतया सास्य लक्षणा॥ 3. 2
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 209

7 अघटनेतोऽनुपयोगान्मुख्यार्थे बाधिते तदासत्त्या।
योऽन्यार्थागमो रूढेः प्रयोजनाद् वेति लक्षणा सोक्ता॥ 7 ॥
—अलङ्कारसार, पृ. 344

अभिधा के समान ही है। इस प्रकार वे लक्षणा के लक्षण में हेतुत्रय के साथ अन्यतर रूप में रूढि को स्थान नहीं देते हैं। इस प्रकार **हेमचन्द्र** ने मुख्यार्थ-बाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों हेतुओं को माना है, इन्होंने तद्योग की जगह निमित्त शब्द को व्यवहृत किया है।[1]

मुरारीदान कृत **यशवन्तयशोभूषण** के संस्कृत-अनुवादक **पं. रामकर्ण आसोपा** ने **हेमचन्द्र** का ही अनुसरण किया है।[2] वैसे भी जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था के अतिरिक्त लक्षणा के तृतीय भेद को स्वीकार नहीं करते। यहां उल्लेखनीय है कि केवल **हेमचन्द्र** आदि परवर्ती आचार्य ही ऐसे नहीं हुए हैं, जिन्होंने रूढि-हेतु को अस्वीकार किया हो, **मम्मट** के पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रन्थों में भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जहां रूढि का कोई सुस्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। बाद वाले आचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने रूढि की अस्वीकृति के कारणों का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया। इस प्रकार इन दोनों विधाओं के आचार्यों में **शङ्कराचार्य**[3], **वाचस्पतिमिश्र**[4], **शालिकनाथ**[5], **नरेन्द्रप्रभसूरि**[6], **विजयवर्णी**[7], **राजचूडामणि**[8], **आशाधरभट्ट**[9], **गोकुलनाथ उपाध्याय**[10] आदि परिगणित किए जा सकते हैं।

---

1 मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः।
—काव्यानुशासन, पृ. 182

2 रूढालक्षणाङ्गीकारस्त्वर्वाचीनानां महाप्रमादः।
—यशवन्तयशोभूषण, पृ. 73

3 मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ 47 ॥
—वाक्यवृत्ति, पृ. 130

4 तथा आह कश्चित्—वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणेष्यते ॥
—तत्त्वबिन्दु, पृ. 30

5 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 117

6 कथञ्चिल्लब्धबाधस्य तत्प्रत्यासत्तिशालिनि।
मुख्यस्यार्थस्य सामान्यमन्यार्थेऽतिशयाय यत् ॥ 21 ॥
—अलङ्कारमहोदधि, पृ. 32

7 मुख्यार्थे बाधिते मुख्यसम्बन्ध्यर्थोऽपि लक्ष्यते।

प्रसङ्गतः यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ आचार्य मुख्यार्थबाध का स्पष्टतः उल्लेख नहीं करते हैं और मुख्यार्थबाध के बिना भी लक्षणा का समर्थन करते हैं। यह मान्यता **अप्पयदीक्षित** कृत **वृत्तिवार्तिक**[1] में तथा **आशाधरभट्ट** कृत **त्रिवेणिका**[2] की स्वोपज्ञटीका में आलङ्कारिकों के मत के विवेचनावसर पर दृष्टिगोचर होती है। **अप्पयदीक्षित** ने तो लक्षणा की परिभाषा में मुख्यार्थबाध का निवेश न करके मुख्यार्थ-सम्बन्ध पर ही बल दिया है, किन्तु पूर्वोक्त अपवाद-स्थलों को छोड़कर सर्वत्र मुख्यार्थबाध-पुरस्सर ही लक्षणा की स्थिति मानी गयी है, अतः मुख्यार्थबाध का उल्लेख न होने पर भी मुख्यार्थबाध का अध्याहार तो करना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना मुख्यार्थबाध के लक्षणा हो ही नहीं सकती है। इसी प्रकार **आशाधरभट्ट** ने द्वितीय हेतु मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध को तद्योग शब्द से व्यक्त न कर प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। **भट्ट** ने लक्षणा के लक्षण के उपक्रम में कहा है कि लक्षणा शक्यार्थ की सहकारिणी वृत्ति है। इसी की व्याख्या

अन्यार्थत्वेन यः सोऽयं लक्षणेत्यभिधीयते ॥ 2. 13
शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 8

8 तात्पर्यविषयीभूतार्थान्वयानुपपत्तितः ।
शक्यभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारो लक्षणोच्यते ॥
—काव्यदर्पण, पृ. 49

9 शक्यसम्बन्धसहकारिणी वृत्तिर्लक्षणा ।
—त्रिवेणिका, पृ. 18

10 वाच्यार्थस्य[च]वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः ।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ।। इति ।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 2

1 अथ लक्षणा निर्णीयते । सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम् ।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 15

2 शक्यसम्बन्धो लक्षणेति तार्किकाः । शक्यसम्बन्धेनाशक्यार्थप्रतिपादकत्वं (दिका) लक्षणेत्यालङ्कारिकाः । मुख्यार्थबाधमन्तरेणापि लक्षणा युक्ता । यथाहुः—आलङ्कारिकाः—
'मुख्यार्थबाधाभावेऽपि तात्पर्यानुपपत्तितः ।
यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ लक्षणाङ्गीकृताऽखिलैः' ।। इति ।
—त्रिवेणिका, सटीक, (टीका. आशाधरभट्ट), पृ. 18

करते हुए उन्होंने मुख्यार्थबाध एवं तद्योग सम्बन्ध को स्पष्ट किया है।[1] इसी प्रकार मुख्यार्थबाध एवं तद्योग, अर्थात् मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को अव्यक्त रूप में लक्षणा के लक्षण के मध्य ही समाहित करने वाले आचार्यों में प्रमुख हैं—**मङ्खक**[2], **प्रभाकरभट्ट**[3], **केशवमिश्र**[4], **अप्पयदीक्षित**[5], **मौनिश्रीकृष्णभट्ट**[6], **पण्डितराजजगन्नाथ**[7], **विश्वेश्वर**[8] आदि।

3 मुख्यार्थबाध आदि का विवेचन

विभिन्न आचार्यों द्वारा मान्य, लक्षणा के हेतुओं की चर्चा के अनन्तर अब प्रकरण-प्राप्त लक्षणा के हेतुओं में साधकतम प्रथम हेतु मुख्यार्थबाध की विवेचना की जाती है।

मुख्यार्थबाध का अभिप्राय

अभिनवगुप्त (11 वीं श.) का यह मत है कि बाध अर्थात् विरोध का अभिप्राय यहां स्वकीय पदगत न होकर परस्पर सम्बद्ध एक दूसरे का विरोध मानना होगा, इस प्रकार परस्पर विरोध होने का अभिप्राय होगा, दोनों पदार्थों का सम्बन्ध होने में विरोध। वैसे मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा की कल्पना होती है और बाध, विरोध की ही प्रतीति है। यहां पदार्थों का अपने आप में विरोध नहीं है। यदि परस्पर विरोध है, तो वह विरोध अन्वय में प्रतीत होना चाहिए।[9]

---

1 शक्यसम्बन्धसहकारिणीवृत्तिर्लक्षणा।
·······मुख्यार्थबाधे सति तत्सम्बन्धिनमर्थं विषयीकरोति।
—त्रिवेणिका, पृ. 18

2 साहित्यमीमांसा, पृ. 9

3 रसप्रदीप, पृ. 10

4 अलङ्कारशेखर, पृ. 9

5 वृत्तिदीपिका, पृ. 10

6 वृत्तिवार्तिक, पृ. 18

7 रसगङ्गाधर, पृ. 149

8 रसचन्द्रिका, पृ. 42

9 तथाहि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 55-56

चण्डीदास (1180 ई.) आदि कतिपय आचार्यों में मुख्यार्थबाध का अर्थ अन्वयानुपपत्ति किया है।[1] विश्वनाथ के अनुसार, लक्षणा-शक्ति शब्द की आरोपिता-शक्ति है, स्वाभाविकी नहीं, न ही ईश्वर द्वारा उद्भावित है।[2] किसी शब्द पर इस शक्ति का आरोप उस समय किया जाता है, जब मुख्यार्थ सङ्गत न हो रहा हो, ऐसी मम्मट की मान्यता है, जैसा कि उन्होंने लक्षणा के लक्षण में कहा है। इस प्रकार लक्षणा का कारण मुख्यार्थबाध बतलाया गया है, इस मुख्यार्थबाध की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है। कुछ आचार्यों ने इसके स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है तथा कुछ अन्य आचार्यों का मत है, कि केवल अन्वयानुपपत्ति अथवा केवल तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज न मानकर दोनों को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिए। इस मत के समर्थक आचार्य अधिक संख्या में नहीं हैं, तथापि अन्वयानुपपत्ति, तात्पर्यानुपपत्ति, वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति आदि के समर्थक आचार्यों की मान्यताएं निम्न प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती हैं—

अन्वयानुपपत्ति

कुछ आचार्यों का कथन है कि 'गङ्गायां घोष:' इस प्रयोग में गङ्गा-प्रवाह में घोष का अन्वय ही ठीक नहीं बनता है, अत: यहां अन्वय के अनुपपन्न होने के कारण गङ्गा पद लक्षणा से तटरूप अर्थ का बोधक होता है। उक्त वाक्य में अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ गङ्गा-प्रवाह के साथ घर के अन्वय की उपपत्ति न होने के कारण इसे अन्वयानुपपत्ति कहते हैं। अन्वयानुपपत्ति का स्पष्ट अर्थ है, अन्वय (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण कर्ता, कर्म और क्रियादि का रूप-सम्बन्ध) का असङ्गत हो जाना, सम्बन्ध न बन सकना। जैसे पहिले बताया गया है कि 'गङ्गायां घोष:' जैसे वाक्यों में अन्वयानुपपत्ति पायी जाती है। गङ्गा-प्रवाह और आभीर-गृह में आधाराधेयभाव-सम्बन्ध की अनुपपत्ति है। इस सम्बन्ध के बनने में बाधा उपस्थित हो रही है। इसी कारण मुख्यार्थ का बाध होने पर, लक्षणा से गङ्गा

---

1 बाधोऽन्वयानुपपत्ति:।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), जयकृष्णदास गुप्ता, विद्याविलास प्रेस, बनारस, 1933 ई., पृ. 41

2 यदिति ययेत्यर्थेऽव्ययम्। आरोपिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता, वा क्रिया शक्ति:।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 17

शब्द का अर्थ जब तट हो जाता है, तब कहीं जाकर गङ्गा पद की घोषाधिकरणता बन पाती है। ऐसे बाधित स्थलों पर ही कुछ आचार्यों ने लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति को माना है।

अन्वयानुपपत्ति के समर्थक आचार्य

परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत मुख्यार्थबाध के स्थान पर पूर्ववर्ती मीमांसकों ने इसी अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है। जिनमें **वाचस्पतिमिश्र, मधुसूदनसरस्वती, गागाभट्ट, आपदेव** आदि प्रमुख हैं। **वाचस्पतिमिश्र** (850 ई.) का **तत्त्वबिन्दु** इसका प्रमाण है[1], उनका कथन है कि तात्पर्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों एवं रुचियों के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करता है. अतः तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज कैसे माना जा सकता है? **मधुसूदनसरस्वती** (16 वीं श.) ने **वेदान्तकल्पलतिका** में अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना है।[2] **गागाभट्ट** (17 वीं श.) ने भी तात्पर्यानुपपत्ति के विरोध में एक नया तर्क उपस्थित करते हुए कहा है कि वेद में तात्पर्यविषयाभाव होने के कारण शक्यार्थान्वयानुपपति, अर्थात् अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाय।[3] **आपदेव** तथा **अनन्तदेव**(18 वीं श.) विरचित **मीमांसान्यायप्रकाश** में अन्वयानुपपत्ति का ही समर्थन किया गया है। [4]

तात्पर्यान्वयानुपपत्ति

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत मुख्यार्थबाध के स्थान पर प्राचीन

---

1 तस्मादनेकान्तं तात्पर्यं न बीजं सामर्थ्यसाधने (शक्तिसाधने)।
—तत्त्वबिन्दु, पृ 29

2 'गङ्गायां घोषः',………अत्र चोद्देश्यान्वयानुपपत्तेर्बीजम्।
—वेदान्तकल्पलतिका, ओ. रि. इ., पूना, 1862 ई., पृ. 75

3 लक्षणाबीजं शक्यार्थान्वयानुपपत्तिः, न तु तात्पर्यानुपपत्तिः। वेदे तदसम्भवात्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 58

4 एवञ्च 'सोमेन यजेत' इत्यत्र न मत्वर्थलक्षणा। यदि ह्यत्र विशिष्टविधानं स्यात्तदाऽन्वयानुपपत्त्या मत्वर्थलक्षणा स्यात्।………यदा तु भावनायां धात्वर्थस्य करणत्वेनान्वयस्तदाऽन्वयानुपपत्त्या साङ्गीकर्तव्या।
—मीमांसान्यायप्रकाश, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1919 ई., पृ. 69-70

नैयायिकों ने अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार किया, किन्तु परवर्ती नैयायिकों में **विश्वनाथन्यायपञ्चानन** आदि ने अन्वयानुपपत्ति व तात्पर्यान्वयानुपपत्ति दोनों को लक्षणा का बीज माना है।[1] नवीन आचार्यों की मान्यता यही है कि 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' के अनुसार इसी तात्पर्यान्वयानुपपत्ति के भीतर अन्वयानुपपत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है। केवल अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे वाक्यों में लक्षणा न हो सकेगी, क्योंकि कौओं से दधि-रक्षण का अन्वय तो हो ही जाता है, किन्तु यहां काक समुदाय अर्थ ही लेना समीचीन न होगा, वैसे भी यहां पर वक्ता का तात्पर्य दध्युपघातक प्राणिमात्र में है, अतः सर्वत्र केवल तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने से ही काम चल जाता है, ऐसी तात्पर्यार्थ समर्थक आचार्यों की मान्यता है।

तात्पर्यानुपपत्ति के समर्थक आचार्य

अन्वयानुपपत्ति के विरोध में तात्पर्यानुपपत्ति के समर्थक आचार्यों का तर्क है—यदि अन्वयानुपपत्ति, अर्थात् वाक्यार्थ की संगति न हो सकना ही लक्षणा का बीज, किंवा मूल हेतु स्वीकार किया जायेगा, तो उस स्थिति में वाक्यगत अनेक पदों में से किसी भी एक के मुख्य अर्थ से भिन्न लक्ष्य अर्थ को स्वीकार करके अन्वय सिद्ध हो जाने पर वाक्यार्थ की विश्रान्ति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। उदाहरणार्थ—'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गा पद से तट रूप लक्ष्यार्थ को स्वीकार करके वाक्यार्थ की विश्रान्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसी स्थिति में वक्ता के तात्पर्य का बोध न हो सकने के कारण विश्रान्ति नहीं होती है।

एक अन्य विचारधारा के समर्थक आचार्य—**श्रीमधुसूदन शास्त्री** ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है कि 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' गीता के इस श्लोक में जैसे 'घोष' पद का अर्थ ध्वनि है, उसी तरह 'गङ्गायां घोषः' इसमें भी 'घोष पद का अर्थ ध्वनि ले लिया जा सकता है, क्योंकि जल में कल-कल होना तो स्वाभाविक है, यहां भी वाक्यार्थ की विश्रान्ति हो जानी चाहिए, किन्तु वक्ता के तात्पर्य का बोध न हो सकने के

---

1 लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः। गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 21

कारण ऐसा नहीं होता है, अतः उक्त स्थल पर लक्षणा की सिद्धि के लिए अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार करना चाहिए।[1]

तृतीय तर्क के अनुसार—यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना गया तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि स्थलों में लक्षणा कैसे होगी ? इनका अभिप्राय यह है कि यदि अन्वय-अनुपपत्ति अर्थात् असंगति को ही लक्षणा का बीज माना जाय तो, उक्त वाक्य में सब पदार्थों का अन्वय संगत होने के कारण, किसी भी प्रकार की अन्वय-सम्बन्धी अनुपपत्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, अतः लक्षणा भी नहीं हो सकती है।

लक्षणा तो दधि की रक्षा करने में ही हो सकती है, किन्तु तात्पर्य की संगति दधि को अभक्ष्य बना देने वाले श्वान आदि अर्थ को लिए बिना नहीं बन सकती है, अतः यहां काक पद की दध्युपघातकत्व में लक्षणा करनी होगी, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता है कि कौओं से दधि की रक्षा की जाय और कुत्ते आदि से न की जाय। निश्चितरूपेण सकल-दध्युपघातक प्राणिमात्र से दधि की रक्षा करना वक्ता का अभिप्राय है, अतः तात्पर्य की संगति दधि को अभक्ष्य बना देने वाले कुत्ता आदि अर्थ को लिए बिना नहीं बन सकती है। ऐसे स्थलों में दोष से बचने के लिए तात्पर्य की असंगति, अर्थात् तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का मूल कारण, अर्थात् बीज मानना चाहिए।

जयदेव (13 वीं श.) कृत **चन्द्रालोक** के टीकाकार **नन्दकिशोर शर्मा** ने इसका समर्थन किया है।[2] **धर्मराजाध्वरीन्द्र** (1560 ई.) ने लक्षणा का बीज तात्पर्यानुपपत्ति को माना तथा इसका समर्थन करते हुए 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहां अन्वयानुपपत्ति का अभाव मानते हुए 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि

---

1 शास्त्री, मधुसूदन, साहित्यशास्त्रीय-तत्त्वों का आधुनिक-समालोचनात्मक अध्ययन, चौ. वि., वाराणसी, 1968 ई., पृ. 220

2 अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिश्चेति द्वौ लक्षणावकाशहेतू प्राचीना मन्यन्ते। तन्न। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। तात्पर्यानुपपत्तेरेव च कार्यसिद्धेः।

—चन्द्रालोक, पृ. 268

वाक्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति की सत्ता स्वीकार की है।[1]

विश्वनाथन्यायपंचानन (1634 ई.) ने तात्पर्यानुपपत्ति के समर्थन में 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' के साथ ही एक नया उदाहरण 'यष्टीः प्रवेशय' देते हुए कहा है कि यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज माना जाय तो 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यादि स्थल में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि यदि लाठियों का प्रवेश के साथ अन्वयानुपपत्ति नहीं है, अर्थात् केवल लाठियों का भी प्रवेश में अन्वय हो सकता है, परन्तु कहने वाले ने भोजन-तात्पर्य से यष्टियों के प्रवेश की आज्ञा की है एवं केवल लाठियों के प्रवेश से भोजनरूप तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से यष्टि पद की यष्टि-धर में लक्षणा करनी चाहिए, अर्थात् वक्ता अपने भृत्य को कहता है कि लाठी वाले साधुओं को भोजन करने के लिए गृह के भीतर ले जाओ। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में भी काक पद का सकल-दध्युपघातक में लक्षणा है, क्योंकि अभक्ष्य बना देने वाले समग्र प्राणियों से ही दधि की रक्षा करना वक्ता का तात्पर्य है, अतः तात्पर्यान्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानना चाहिए।[2]

मौनिश्रीकृष्णभट्ट (17 वीं श.) ने भी तात्पर्यान्वयानुपपत्ति को ही अंगीकार किया है। उनकी मान्यता है कि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानने पर कतिपय स्थलों पर लक्षणा न हो सकेगी। वैसे भी अन्वय में न शक्ति है और न लक्षणा ही है, इस कथन के साथ इन्होंने अन्वयानुपपत्ति का

---

1 लक्षणाबीजं तु तात्पर्यान्वयानुपपत्तिरेव न तु अन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात् 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।

—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 124

2 यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यत्र लक्षणा न स्यात्। यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्। तेन यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा। एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा-सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्य-विषयत्वात्।

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 22

घोर विरोध किया है।[1] **जगदीशतर्कालङ्कार**[2] (1653 ई.), **अन्नंभट्ट**[3] (17 वीं श.) आदि नैयायिक उक्त मत का पूर्ण समर्थन करते हैं। **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **महेश्वरन्यायालङ्कार**[4] (1640 ई.) व **अच्युतराय**[5] (1831 ई.) ने भी इस मत का समर्थन किया है।

वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति के समर्थक आचार्य

कुछ आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जो न तो अन्वयानुपपत्ति का समर्थन करते हैं, न तात्पर्यान्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानने को तैयार हैं, इस प्रकार की विचारधारा वाले आचार्यों में **चित्सुखाचार्य** और **धर्मसूरि** प्रमुख हैं।

चित्सुखाचार्य (13 वीं श.) ने तात्पर्यानुपपत्ति का अपरपर्याय अर्थात् वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है, अन्वयानुपपत्ति को नहीं। इनके अनुसार पदों के पदार्थस्वरूपमात्र-परक मानने पर जो वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति होती है, वही लक्षणा की नियामिका है। यह लक्षणा का निर्दुष्ट लक्षण है, क्योंकि लौकिक, वैदिक सभी लक्षणाओं में घटित हो जाता है। उदाहरणत:—'तीन पुरुष सुवर्णमय पुष्पवाली पृथिवी का संचयन करते हैं।' शूर, विद्वान् और सेवक आदि लौकिक वाक्यों में पदार्थों का अन्वय

---

1 'घटमानय' इत्यादौ घटकर्मत्वयोराधेयत्वरूपसंसर्गे तात्पर्यसत्वाल्लक्षणात्वं स्यात्। न चेष्टापत्ति:। 'अन्वये न शक्तिर्न वा लक्षणेति' सिद्धान्त-व्याघातात्।

—वृत्तिदीपिका, पृ. 10

2 अन्वयानुपपत्तिज्ञानस्य लक्षणाबीजत्वं हि न।

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 146

3 तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणा बीजम्।

—तर्कसंग्रहदीपिका, पृ. 192

4 तन्मतद्वयमुपेक्ष्य तात्पर्यात्मिकामेव लक्षणां तद्ग्राहककथनेन पर्यायेणाह—'मुख्यार्थबाधे'।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), शिवनाथ गांगुली मेट्रोपोलिंग प्रिंटिंग तथा पब्लिशिंग हाउस, लिमिटेड, कलकत्ता, 1936 ई., पृ. 46

5 अर्थारोपेण या शाब्दी शक्यसम्बन्धबोधिका।
तात्पर्यानुपपत्त्यैव वृत्ति: सा लक्षणोच्यते ॥ 2. 59

—साहित्यसार, पृ. 39

उपपन्न होने पर भी निष्प्रयोजन अर्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं है, अतः वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति से प्रतीयमान वाक्यार्थ का परित्याग करके केवल सूरादि सम्पत्ति के हेतु होते हैं, इतना अर्थ यहां माना जाता है।[1] वेद में भी 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु ही शीघ्रगामी देव है, इत्यादि स्थलों पर वाच्यार्थ का अन्वय सम्भव होने पर भी 'किमर्थोऽयम्' इस प्रकार की कैमर्थक्य आकांक्षा के वश से देवता प्राशस्त्य के द्वारा कर्मप्राशस्त्य में लक्षणा ही मानी जाती है, अतः वाक्यप्रामाण्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का निमित्त है, यह हमारा निश्चय है।[2]

धर्मसूरि (13 वीं श.) ने **चित्सुखाचार्य** का समर्थन करते हुए व उनके ही शब्दों में वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना है।[3] **पण्डितराजजगन्नाथ** (1620-1665 ई.) ने भी नव्य-नैयायिकों की तात्पर्यानुपपत्ति को अपना कर, **मम्मट** के मुख्यार्थबाध को न्याय की तात्पर्यानुपपत्ति के रूप में स्वीकार कर उसे लक्षणा का बीज माना है।[4]

---

1 तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणं लक्षणायाः, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणायां व्यापकत्वात्। तथाहि 'गङ्गायां घोषः' प्रतिवसति, आदित्यो यूपः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वतीत्यादावस्तिपदार्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः।·······सुवर्णपुष्पां पृथ्वीमित्यादौ पदार्थानामन्वयसम्भवेऽपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः, प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्वं सम्पदो हेतुरिति ध्वनिना सूच्यते।
—तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 263

2 तथा च वेदे 'वायुर्वैक्षेपिष्ठ' इत्यादौ सम्भवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थक्यवशेन देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मणः प्राशस्त्यं लक्ष्यते, तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति निश्चिनुमः।
—वही, पृ. 263-264

3 तस्मान्मुख्यार्थपरिग्रहे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्—
उक्तं हि वाक्यप्रामाण्यभङ्गः स्यात् स्वाभिधेयपरे पदे।
लक्षणा तत्र विज्ञेया वाक्ये वैदिकलौकिके॥ इति।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 219

4 तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्, किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रति-

गोकुलनाथ उपाध्याय (1650-1740 ई.) ने **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक कृति में लक्षणा के अनेक बीज उपस्थापित किए हैं। यही एक मात्र आचार्य हुए हैं, जिन्होंने लक्षणा के बीजों के ऊपर विस्तार से विचार किया है, साथ ही अनेक ज्ञाताज्ञात आचार्यों द्वारा मान्यता-प्राप्त बीजों की ओर विद्वानों का ध्यान भी आकर्षित किया है। सर्वप्रथम लक्षणा के लक्षण करने के उपक्रम में 'सम्बन्धानुपपत्तित:' कथन के माध्यम से मुख्यार्थ बाध को लक्षणा का बीज माना है, क्योंकि मुख्यार्थ के बाध होने पर वाच्यार्थ के सम्बन्ध द्वारा, अर्थात् लक्ष्यार्थ के स्मृति में ही मुख्यार्थ का उपयोग, अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है।[1] इन्होंने निराकांक्षवादियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ लोग निराकांक्षत्व को ही लक्षणा का बीज मानते हैं। आकांक्षा विरहवादियों के मतानुसार कहीं-कहीं वाच्यार्थ की वाक्यार्थ बुद्धि के प्रति अयोग्यता पायी जाती है। यथा—'वदनं वदनं तस्या' इत्यादि स्थलों में पाया जाने वाला आकांक्षा विरह ही लक्षणा का बीज है।[2]

नागेश (18 वीं श.) ने **परमलघुमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा** तथा **वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** में अन्वय की असंगति हो जाने पर तत्संगति के लिए प्रतिसन्धान, अर्थात् यत्नान्वेषण को ही लक्षणा का बीज मानने वाले **शम्भुभट्ट**[3] आदि का विरोध करते हुए कहा है कि वस्तुत: तात्पर्य की

योगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्, मुख्यार्थान्वया-नुपपत्त: तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्।

—रसगङ्गाधर, पृ. 149-150

1 सम्बन्धानुपपत्तिरिति हेतु: तत्सम्बन्धत्रणप्राप्तावन्वेति। तथा च बल-वच्छाब्दबोधसामग्रीविघटकतया मुख्यार्थबाधस्य लक्ष्यार्थस्मृतावुपयोग इति मुख्यार्थबाधो लक्षणाबीजमित्युच्यते।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 2

2 केचित्तु निराकांक्षत्वं लक्षणाबीजम्, तच्च क्वचिद् विषयवाच्यस्य वाक्यार्थबुद्धि प्रत्यस्वरूपयोग्यत्वात्। यथा—'वदनं वदनं तस्या मुखम-मखं भाति चान्यासाम्', ……इत्यत्र पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयानु-भावकत्वलक्षणाकांक्षाविरह एव लक्षणा बीजम्।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 2-3

3 वस्तुतस्तु यत्नत्वमेव शक्यतावच्छेदकम्।

—भाट्टदीपिकाटीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1922 ई., पृ. 136

अनुपपत्ति होने पर तत्संगति के लिए प्रतिसन्धान या यत्नान्वेषण ही लक्षणा का बीज है, अन्यथा 'गङ्गायां घोष:' तथा 'गङ्गायां पापी गच्छति' इत्यादि स्थलों में क्रमश: घोषादि पदों में ही मकरादि की लक्षणा से तथा गङ्गापद के नरक में लक्षणा होने से भी अन्वयानुपपत्ति का परिहार हो सकता है, किन्तु शीतत्वपावनत्वातिशय के प्रयोजन की प्रतीति, जो वक्ता का अभिप्राय है, वह गङ्गापद से गङ्गातट में लक्षणा मानने से ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार गङ्गापद के नरक में लक्षणा होने से भी अन्वयानुपपत्ति का परिहार हो सकता है, किन्तु पूर्वजन्म में पाप किया हुआ पुरुष पापों से मुक्त होने के लिए गङ्गा में नहाने जाता है, इस तात्पर्य से पापी पद के ही पूर्वजन्मार्जित पापवाला पुरुष में लक्षणा मानी जाती है, न कि गङ्गापद के नरक में। इसी प्रकार 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' यहां पर 'नक्षत्र देखकर बोलना छोड़ दे' इस मौन व्रतप्रकरण वाक्य में किसी प्रकार की अन्वयानुपपत्ति नहीं है, किन्तु 'दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं रात्रौ नैव च नैव च' के अभिप्राय को दृष्टिगत कर सन्ध्या समय के बाद रात्रि में बोलना मना है, इस तात्पर्य में नक्षत्र-दर्शनकाल में लक्षणा मानी जाती है, अत: अन्वयानुपपत्ति-प्रतिसन्धान लक्षणा में बीज नहीं माना जा सकता है, किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति-प्रतिसन्धान ही लक्षणा में बीज वास्तविक है, अत: दोनों को लक्षणा का बीज मानना अवास्तविक है।[1]

वस्तुत: **नागेश** का तर्क ठीक है। यदि अन्वयानुपपत्ति, अर्थात् वाक्यार्थ में अन्वय या संगति का न बना सकना ही लक्षणा का बीज किंवा मूल हेतु स्वीकार किया जायेगा, तो उस स्थिति में वाक्यगत अनेक पदों में से किसी भी एक के मुख्य अर्थ से भिन्न लक्ष्य-अर्थ स्वीकार करके, अन्वय सिद्ध हो जाने पर वाक्यार्थ की विश्रान्ति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है।

---

1 अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव लक्षणाबीजम्। तत्खण्डयन्नाह—वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा 'गङ्गायां घोष:' इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्यथानुपपत्ति परिहारात्। 'गङ्गायां पापी गच्छतीत्यादौ' गङ्गापदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च, अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोष:। नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेद् इत्यत्रान्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात्। एकानुगमकस्वीकारेण निर्वाहेऽनेकानुगमकस्वीकारे गौरवात्।
—परमलघुमञ्जूषा, सटीक, (टीका. अलखदेब शर्मा), पृ. 45
अन्यच्च
—वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 27

उदाहरणार्थ— 'गङ्गायां घोष:' वाक्य में गङ्गा पद से तटरूप-लक्ष्यार्थ को स्वीकार करके वाक्यार्थ की विश्रान्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसी स्थिति में वक्ता के तात्पर्य का बोध नहीं हो सकने के कारण विश्रान्ति नहीं होती है, अत: अन्वयानुपपत्ति-प्रतिसन्धान लक्षणा में बीज नहीं माना जा सकता है, किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति-प्रतिसन्धान ही लक्षणा का वस्तुत: वास्तविक बीज है। **काव्यप्रकाश** के **प्रभाटीकाकार वैद्यनाथतत्सत्**[1] तथा **वामन**[2] (19 वीं श.) एवं **विस्तारिकाव्याख्याकार परमानन्दचक्रवर्ती**[3] ने उक्त कथन का समर्थन किया है। **भीमसेनदीक्षित** (1719 ई.) ने भी **काव्यप्रकाश** की **(सुधासागरी)** टीका में इस मान्यता का समर्थन किया है।[4]

इस प्रकार कतिपय आचार्यों के अनुसार अनाकांक्षत्व, अर्थात् आकांक्षाराहित्य ही लक्षणा का बीज बन जाता है, इस मत के प्रमुख समर्थक **आचार्य गोकुलनाथ उपाध्याय** हैं[5]। कहीं अविनाभाव बोधक-सामग्री के बिना

---

1 'मुख्यार्थबाधश्च शक्यतावच्छेदकरूपेण तात्पर्यविषयान्वयबाध:' इति प्रभायां व्याख्यातम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन), उद्धृत, पृ. 41

2 एतेन तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्, नत्वन्वयानुपपत्तिरिति सूचितम्। ....वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव लक्षणाबीजम्। अन्यथा 'गङ्गायां घोष:' इत्यत्र घोषपदे एव मकरादिलक्षणापत्ति:। तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। 'गङ्गायां पापी गच्छति' इत्यादौ गङ्गादिपदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च।

—वही, पृ. 41-42

3 अन्वयानुपपत्त्या न सर्वत्र कार्यसिद्धि:, अत: तात्पर्यानुपपत्ति: लक्षणायां संयोजनीयम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्दचक्रवर्ती), पृ. 48

4 कुशं लातीति यौगिकार्थो मुख्य:, दक्षान्वये तात्पर्यमिति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), चौ. सं. सी. आ, वाराणसी, 1927 ई., पृ. 65

5 क्वचिच्च मानान्तरलभ्येऽर्थे सिद्धे: प्रतिबन्धिकाया: सत्त्वादनाकांक्षत्वं लक्षणाबीजम्। यथा—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इत्यत्र रामोऽस्मीति वाक्यमनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्य(च)कमिति। परपदं....... दुखानुभवितरि लाक्षणिकम्।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 4

अन्यच्च

शाब्दबोध के प्रति प्रतिरोध ही लक्षणा का बीज है।[1] कहीं लक्ष्यार्थ में तात्पर्य-ग्रह से मुख्यार्थ का प्रतिबोध ही लक्षणा का बीज है।[2]

तात्पर्यानुपपत्ति एवं अन्वयानुपपत्ति के समर्थक आचार्य

पूर्व-वर्णित आचार्यों के अतिरिक्त कुछ आचार्य ऐसे भी हैं, जो दोनों ही प्रकार की अनुपपत्तियों को लक्षणा का बीज मानते हैं, इस प्रकार के आचार्यों में **केशवमिश्र**[3] (16 वीं श.) तथा **राजचड़ामणिदीक्षित**[4] (17 वीं श.) का नाम लिया जा सकता है। तात्पर्यानुपपत्ति के विषय में **श्रीकालिकाप्रसाद शुक्ल** का मत है कि मूल अलङ्कार ग्रन्थों में तात्पर्यानुपपत्ति आदि जो लक्षणा के बीज माने गये हैं, का प्रायः अभाव मिलता है, अर्थात् उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि **प्रदीप** आदि टीकाओं के पर्यालोचन से विदित होता है कि तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा के बीज-रूप में अलङ्कारशास्त्रियों को अभिप्रेत है।[5] **साहित्यदर्पण** के **लोचनटीका** के सम्पादक **श्रीदेवीदत्त कौशिक** ने भी

क्वचित्तु शब्दलभ्येऽर्थे निराकांक्षत्वं लक्षणाबीजम्। यथा—चैत्र ! त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
....'त्वामस्मि' इति वाक्यं न मुख्यार्थं बोधयति।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 4

1 क्वचिदविनाभावविबोधसामग्रीविरहाच्छाब्दप्रतिरोधो लक्षणाबीजम्। यथा—'गङ्गायां घोषमत्स्यादि'........इति वाक्यं गङ्गापदजन्यतटोपस्थितेः पूर्वं गङ्गापूरे मत्स्यान्वयबुद्धिमपि न जनयितुमीष्टे। मिलितयोस्तयोः सामग्र्योरुभयसमूहावलम्बनशाब्दबोधं प्रत्येव प्रयोजकत्वात्।
—वही, पृ. 4

2 क्वचित्तु लक्ष्यार्थे तात्पर्यग्रहेण मुख्यार्थबाधप्रतिबोधो लक्षणाबीजम्। ....यथा च—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र स्वबुद्धिपरमिदं वचनमिति तात्पर्यग्रहान्मुख्यार्थेन दध्युपघातकप्राणिनो लक्ष्यन्ते।
—वही, पृ. 5

3 सा तात्पर्यानुपपत्त्या मुख्यार्थानुपपत्त्या वा प्रवर्तते।
—अलङ्कारशेखर, पृ. 9

4 तात्पर्यविषयीभूतार्थान्वयानुपपत्तितः।
शक्यभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारो लक्षणोच्यते॥
—काव्यदर्पण, पृ. 49

5 यद्यप्यलङ्कारग्रन्थेषु मूले लक्षणाया बीजत्वेन तात्पर्यानुपपत्त्यादेः प्रायेणोल्लेखो नास्ति तथापि प्रदीपादिटीकापर्यालोचनेन तात्पर्यानुपपत्तेरेव

शुक्लजी का ही समर्थन किया है,[1] किन्तु उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अलङ्कारशास्त्रियों ने उक्त बीजों के विषय में मौन धारण नहीं कर रखा था, भले ही ये आचार्य संख्या में कम होने के साथ ही दर्पणकार-विश्वनाथ से परिवर्ती रहे हों।

वेद में तथा अर्थवाद वाक्यों में लक्षणा का अभाव

कतिपय मीमांसक वेद में तथा अर्थवाद वाक्यों में लक्षणा की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते हैं। **खण्डदेव** (1657 ई.) ने अर्थवाद वाक्यों में लक्षणा के द्वारा अर्थ-प्रतीति न होने के कारण पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार की अनुपपत्तियों का निराकरण किया है।[2] **धर्मराजाध्वरीन्द्र** (1660 ई.) ने कहा—जिस तात्पर्य का ज्ञान लोक में प्रकरणादि के अनुसार होता है, उस तात्पर्य का ज्ञान वेद में मीमांसा-परिशोधित न्याय से ही हो जाता है।[3] **शालिकनाथ** (18 वीं श.) का मत है कि लक्षणा का क्षेत्र लोक एवं लौकिक साहित्य है। वेद में लक्षणा का निबन्धन नहीं होता है, क्योंकि वेद में स्वाभाविक-कार्यपरत्व का अपलाप किया जाना शक्य नहीं है,[4] किन्तु इसके विपरीत **लघुमञ्जूषा** के टीकाकार ने अपौरुषेय वेदवाक्यों में लक्षणा

बीजत्वस्यालङ्कारशास्त्राभिप्रेतत्वात्।

—त्रिवेणिका, (सम्पा. कालिकाप्रसाद शुक्ल, भूमिका-भाग), पृ. 20

1 काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति को विवाद का विषय नहीं माना है।

—साहित्यदर्पण, (सम्पा. देवीदत्त कौशिक), पृ. 88

2 श्रुतार्थप्रतिपादनेनैवोपपत्तौ अन्वयानुपपत्त्यभावेन तदसम्भवात्, न च तात्पर्यानुपपत्त्या तत्कल्पनम्, तात्पर्यग्राहकाभावेन तस्या अप्यसम्भवात्।

—भाट्टदीपिका, पृ. 10

3 तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते, लोके तु प्रकरणादिना। तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थतयानुवादकत्वम्, वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्।

—वेदान्तपरिभाषा, चौ. सं. सी. आ., बनारस, 1954 ई., पृ. 131

4 वेदे तु लक्षणानिबन्धनं किञ्चित् नास्तीति। स्वाभाविककार्यपरत्वं नापहतुं शक्यते।

—प्रकरणपञ्चिका, पृ. 93

की सिद्धि के लिए अन्वयतात्पर्यान्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है।[1] धर्मसूरि (13 वीं-14 वीं श.) ने तो वैदिक एवं लौकिक उभयविध वाक्यों में लक्षणा की स्थिति स्वीकार की है।[2]

इस प्रकार लक्षणा का बीज मानने वाले आचार्यों को मुख्यत: तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो वे आचार्य हैं, जो अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, दूसरे वे हैं, जो तात्पर्यान्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, तीसरे वे आचार्य हैं, जो दोनों ही प्रकार की अनुपपत्तियों को लक्षणा के लिए सामान्यरूप से आवश्यक मानते हैं। ऐसी स्थिति में कौनसा मत समीचीन है? तात्पर्यानुपपत्ति-समर्थक आचार्यों का कथन है कि यदि इससे सर्वत्र लक्षणा की सिद्धि हो जाती है, तो अन्वयानुपपत्ति को भी अतिरिक्तरूपेण लक्षणा का बीज मानने में कौनसा लाघव है? इस विषय में **नागेश** ने **प्रदीपोद्योत** में कहा है कि इसे मानने में सर्वत्र निर्वाह हो जाता है, तथा किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती है। ऐसा मानने में लाघव भी है, अत: तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है।[3] वस्तुत: लौकिक साहित्य में भी तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है।

4 लक्षणा के प्रयोजक-सम्बन्ध

लक्षणा के निमित्तत्रय के विवेचन के पश्चात् उसके सामीप्यादि

---

1 वस्तुतस्तु वेदस्यापौरुषेयत्वे 'यजमान: प्रस्तर:' 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादौ तात्पर्याऽनुपपत्तेरप्यसम्भवेनान्वयतात्पर्यान्यतरानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजत्वमुचितम्।
—वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा (टीका. सभापतिशर्मा उपाध्याय), चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1963 ई., पृ. 96

2 वाक्यप्रामाण्यभङ्ग: स्यात् स्वाभिधेयपरे पदे।
लक्षणा तत्र विज्ञेया वाक्ये वैदिकलौकिके॥
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 219

3 यष्टी: प्रवेशयेत्याद्यनुरोधात्तात्पर्यविषयार्थान्वयानुपपत्तिरेव तद्बीजम्।
लक्षणाबीजत्वं च लक्षणाजन्यशाब्दबोधे लक्षणाया जननीये सहकारित्वम्।
एवञ्च लाघवात् तात्पर्याद्यनुपपत्तिरेव तद्बीजमस्तु।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. नागेश), पृ. 233
अन्यच्च
नागेशमते तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. हरिशङ्कर शर्मा, मैथिल), चौ. सं. सं., वाराणसी, वि. सं. 2035, पृ. 14

प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा की जाती है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि दार्शनिकों तथा वैयाकरणों ने प्रयोजक-सम्बन्ध-विषयक जो विचारणा प्रस्तुत की, वह तृतीय-अध्याय (लक्षणा का विवेचन : उद्भवकाल) में संकेतित की जा चुकी है। यहां विकास-काल के आचार्यों के विचार ही प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिनमें सर्वप्रथम **मुकुलभट्ट** आते हैं।

मुकुलभट्ट (10 वीं श.) की **अभिधावृत्तिमातृका** में जिन प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा की गई है, वे हैं—अभिधेय (मुख्य अर्थ) के साथ संयोग-सम्बन्ध, सामीप्य-सम्बन्ध, समवाय–सम्बन्ध, विपरीतता-सम्बन्ध तथा क्रिया-योग-सम्बन्ध।[1] विद्वानों का कथन है कि **मुकुलभट्ट** से पूर्व भर्तृमित्र के समय में ही इन प्रयोजक सम्बन्धों की चर्चा हो चुकी थी और वहीं से भट्ट ने इन्हें ग्रहण किया।[2] भट्ट की इस कारिका को प्रायः इसी रूप में अन्य परवर्ती आचार्यों ने भी ग्रहण कर, अपनी-अपनी कृतियों में उपन्यस्त किया है।[3]

---

1 अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 50

2 भर्तृमित्र ने 20 अध्यायात्मक मीमांसा-शास्त्र की व्याख्या की है। भर्तृमित्र का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून 6-7 वीं शताब्दी पूर्व होना चाहिए।
—मीमांसाशाबरभाष्य, भाग-1, (व्या. युधिष्ठिर मीमांसक), 1977 ई., पृ. 33-34

3 अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ 11॥
—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ. 78-79

अन्यच्च

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 43

अन्यच्च

—शब्दव्यापारविचार, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1974 ई., पृ. 30

अन्यच्च

भोज (10 वीं श.) ने लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों को सामीप्यलक्षणा, साहचर्यलक्षणा, सहचरितलक्षणा, हेतुलक्षणा, तादर्थ्यलक्षणा, परिमाणलक्षणा भेद से षड्धा विभाजित्त किया है।[1] **मम्मट** (11 वीं श.) ने लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों के सादृश्य एवं कार्यकारणभावादि सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा को द्विधा विभाजित किया है। इसी आधार पर लक्षणा के गौणी और शुद्धा मुख्यत: दो भेद माने गए हैं, गौणी-लक्षणा सादृश्य-सम्बन्ध पर और शुद्धा-लक्षणा सादृश्येतर-सम्बन्धों पर आधारित रहती है। इसे स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम **मम्मट** ने कार्यकारणभाव-सम्बन्ध को लिया है। यथा—

कार्यकारणभाव-सम्बन्ध

इसका उदाहरण देते हुए **मम्मट** ने 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इन वाक्यों को उपन्यस्त किया है, जो क्रमशः शुद्धा-सारोपा तथा शुद्धा-साध्यवसाना के उदाहरण माने गए हैं।[2]

तादर्थ्य-सम्बन्ध

इस सम्बन्ध से भी शुद्धा-लक्षणा होती है, जहां अन्य के लिए अन्यवाचक शब्द का प्रयोग किया जाय उसे तादर्थ्य कहते हैं। यथा—इन्द्र के लिए बनाई गई स्थूणा भी इन्द्र ही कही जाती है।[3]

स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध

इस सम्बन्ध से शब्द-विशेष का अन्य अर्थ में प्रयोग होता है। यथा—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् वैपरीत्यतः।
क्रियायोगाच्च तामाहुः प्रत्यासत्तिं चतुर्विधाम् ॥ 23 ॥
—अलङ्कारमहोदधि, पृ. 33

1 तत्र लक्षणा षोढा सामीप्यलक्षणा, साहचर्यलक्षणा, सहचरितलक्षणा, हेतुलक्षणा, तादर्थ्यलक्षणा, परिमाणलक्षणा च।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 233

2 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरम्।
—काव्यप्रकाश, पृ. 65

3 क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः, यथा—इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः।
—वही, पृ. 66

राजा का विशेष कृपा-पात्र व्यक्ति 'राजा' नाम से सम्बोधित होता है ।[1]

अवयव-अवयविभाव-सम्बन्ध

इस सम्बन्ध में लक्षणा निर्णीत की जाती है । यथा—हाथ के अग्रभाग के लिए भी 'हस्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।[2]

तात्कर्म्य-सम्बन्ध

कहीं इस सम्बन्ध से भी अन्य के लिए अन्य का प्रयोग किया जात है । यथा—बढ़ई का काम करने वाले ब्राह्मण को भी बढ़ई कह दिया जाता है ।[3] **शब्दव्यापारविचार** में **मम्मट** ने उक्त सम्बन्धों को ज्यों का त्यों दुहराया है ।[4]

हेमचन्द्र (12 वीं श.) ने **काव्यानुशासन** में **मम्मट** प्रोक्त सम्बन्धों में वृद्धि भी की है । यथा—मानमेयभाव-सम्बन्ध, संयोग-सम्बन्ध, वैपरीत्य-सम्बन्ध ।[5]

पार्थसारथिमिश्र (12 वीं श.) ने गौणी-वृत्ति विषयक प्रयोजक-सम्बन्धों-को लक्ष्यकर कारिका उपन्यस्त की है, उनके अनुसार तत्सिद्धि आदि छः सम्बन्धों से गौणी वृत्ति होती है । प्रतीत होता है, यहां पर **पार्थसारथि**, **जैमिनि** से प्रभावित हैं ।[6] **जयदेव** (13 वीं श.) ने लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों को आभिमुख्य, सन्निधान, आकारप्रतीति, कार्यकारणभाव, वाच्यवाचकभाव,

---

1 क्वचित् स्वस्वाभिभावात्, यथा—राजकीयः पुरुषो 'राजा' ।
—काव्यप्रकाश, पृ. 66

2 क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा—अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे 'हस्तः' ।
—वही, पृ. 66

3 क्वचित्तात्कर्म्यात्, यथा—अतक्षा 'तक्षा' ।
—वही, पृ. 66

4 शब्दव्यापारविचार, पृ. 14

5 मानमेयभावे आढ़को व्रीहिः, संयोगे—रक्तद्रव्यसंयोगाद् रक्तः पटः, तात्कर्म्ये—अतक्षा तक्षा, वैपरीत्ये अभद्रमुखे भद्रमुखः ।
—काव्यानुशासन, पृ. 188

6 तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसालिङ्गभूमभिः ।
षड्भिः सर्वत्र शब्दानां गौणी वृत्तिः प्रकीर्तिता ।।
—शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1915 ई , पृ. 90

सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियान्वय-नामक अनेक लक्षणा-प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा की है।[1] **शारदातनय** (13 वीं श.) ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित षड्विध लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों का निरूपण जयदेव के समान ही पद्यबद्ध रूप में किया है।[2] **धर्मसूरि** (15 वीं श.) ने लक्षणा को उपचार नाम से अभिहित किया है तथा लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों को पञ्चधा विभाजित किया है।[3] **पण्डितराजजगन्नाथ** (1620-1665 ई.) ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा है, उन्होंने 'रूपक-स्थल में' लक्षणा होती है, ताद्रूप्यप्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है, यह प्राचीनों का सिद्धान्त है, कह कर प्राचीन सिद्धान्त का समर्थन करते हुये, **महाभाष्यकार** के 'पुंयोगा-दाख्यायाम्' इस सूत्र की ओर निर्देश करते हुए यत्किञ्चित् उल्लेख मात्र कर दिया है।[4] **नागेश** (17 वीं श.) ने उक्त सम्बन्धों को ताटस्थ्य, ताद्धर्म्य

---

1 आभिमुख्यात् सन्निधानात्तथाऽऽकारप्रतीतितः ॥ 8 ॥
कार्यकारणभावात्सा वाच्यवाचकभावतः ।
इत्येवमादेः सम्बन्धात् किञ्चान्यस्मात् चतुष्टयम् ॥ 9 ॥
सादृश्यात् समवायात् सा वैपरीत्यात् क्रियान्वयात् ।
—चन्द्रालोक, पृ. 278-281

2 तादर्थ्यादुपचाराख्या लक्षणा क्वापि दृश्यते ।
इन्द्रार्थे स्थूण इन्द्रोऽयमित्यादौ सा विलोक्यते ॥ 209 ॥
क्वचित्स्वस्वामिभावेन लक्षणापि भवेद्यथा ।
राजकीयः स पुरुषः इत्यादौ दृश्यते स्फुटम् ॥ 210 ॥
हस्त इत्यपि यथैव कराग्रं लक्ष्ययत्यथ न वक्ति करं तम् ।
अवयवावयविभावनिबन्धा लक्षणाऽपि च तथैव सुधीभिः ॥ 211 ॥
स(अ)तक्षाऽतक्षदित्यत्र तात्कर्म्यात्क्वापि लक्षणा ।
एवं षोढा समुद्दिष्टा लक्षणा लक्ष्यवेदिभिः ॥ 213 ॥
—भावप्रकाशन, पृ. 166

3 उपचारश्च कार्यकारणभाव-तादर्थ्य-स्वस्वामिभाव-अवयवावयविभाव-तात्कर्म्यरूपनिमित्तानां पाञ्चविध्येन पञ्चधा भवति ।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 269

4 ताद्रूप्यप्रत्ययो लक्षणायाः फलमिति प्राचां समयः । महाभाष्यादि-ग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च ।
— रसगङ्गाधर, पृ. 189

तत्सामीप्य, तत्साहचर्य और तादर्थ्य भेद से पञ्चधा विभाजित किया है,[1] उन्होंने भी **महाभाष्यकार** का अनुगमन करते हुए लक्षणा को श्लोकबद्ध रूप में उपन्यस्त कर उनके शब्दों को ही दोहरा दिया है।

आशाधरभट्ट (18 वीं श.) का लक्षणा के प्रसङ्ग में सबसे बड़ा योगदान लक्षणा-प्रयोजक सम्बन्धों का निरूपण है। यद्यपि इस विषय में विस्तार से चर्चा **भट्ट** कृत **त्रिवेणिका** में ही की गई है। **भट्ट** की **कोविदानन्द** नामक अन्य कृति श्लोक-बद्ध है, अतः उक्त विषयक चर्चा कतिपय श्लोकों में ही समाप्त कर दी गई है। **कोविदानन्द** के अनुसार यह लक्षणा व्यापार, शब्द में उसी प्रकार समवाय-सम्बन्ध से नित्य रहता है, जिस प्रकार अवयव में अवयवी रहता है, अथवा द्रव्य में गुण, क्रिया, सामान्य (जाति) अथवा विशेष रहा करता है। जिन शब्दों में समवाय-सम्बन्ध से लक्षणा विद्यमान प्रतीत होती है, उन शब्दों को लाक्षणिक-शब्द कहा जाता है अथवा लक्षणा के मूल में जिन सम्बन्धों की चर्चा की गई है, उन सम्बन्धों में से समवाय-सम्बन्ध तथा नित्य-सम्बन्ध है।

यह अवयव अवयवी, गुण और द्रव्य, क्रिया और द्रव्य-सामान्य (जाति) और जातिमान् तथा विशेष और विशिष्ट (नित्य-द्रव्यों) में रहा करता है।[2] इसके विपरीत संयोग-सम्बन्ध-क्रिया द्वारा उत्पन्न वह सम्बन्ध है, जिसके कारण दो द्रव्य मिले हुए हैं, इस प्रकार का बोध होता है। 'स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध' भी 'स्व' (सेवक) में स्वामी के सम्बन्ध से विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न

---

1 सा च लक्षणा तात्स्थ्यादिनिमित्तका। तदाह—
तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च।
तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः॥ इति।
तात्स्थ्याद्यथा—मञ्चा हसन्ति। ग्रामः पलायितः। गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्याद्यथा—सिंहो माणवकः। गौर्वाहीकः। आदित्यो यूपः। तत्सामीप्याद्यथा—गङ्गायां घोषः। तत्साहचर्याद्यथा—यष्टीः प्रवेशय। तादर्थ्याद्यथा—इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 43
अन्यच्च
—वैय्याकरणमहाभाष्य, पृ. 503

2 स नित्यः समवायाख्यः सहजोऽवयवादिषु।
गुणः क्रिया च सामान्यं विशेषोऽवयवादयः॥ 23॥
—कोविदानन्द, पृ. 21

करने वाला सम्बन्ध है।[1] त्रिवेणिका में लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों का लक्षण-पुरस्सर संयोग, समवाय, विशिष्टबुद्धियोग्य भेद से त्रिधा विभाजन न्यायशास्त्रानुमत सम्बन्धों के अनुसार किया गया है। यहां पर सम्बन्ध का तात्पर्य सम्बन्धबुद्धि के उत्पादक से है, क्योंकि सम्बन्ध का लक्षण करते हुए कहा गया है—'सम्बद्धबुद्धिजनक: सम्बन्ध:'[2] संयोग-सम्बन्ध का बोध सदा दो द्रव्यों में ही संयुक्त-बुद्धि उत्पन्न करता है। संयोग एक गुण है, वैशेषिकों के अनुसार वह केवल द्रव्य में ही रह सकता है।[3] भट्ट ने उक्त संयोग-सम्बन्ध को व्याप्यव्यापकभाव-सम्बन्ध, सामीप्य-सम्बन्ध, धार्यधारकभाव-सम्बन्ध, साहचर्य-सम्बन्ध, आधाराधेयभाव-सम्बन्ध के भेद से पञ्चधा विभक्त किया है। यथा—

व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध—'आत्मानमलङ्करोति' (आत्मा को अलंकृत करता है) इस वाक्य में जीव-रूप चेतन द्रव्य के वाचक आत्म-शब्द से जीव-सयुक्त शरीर-विशेष-अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। यहां शरीर और आत्मा के बीच में व्याप्यव्यापकभावरूप-संयोग विद्यमान है।[4]

सामीप्य-सम्बन्ध—'वटे गाव: सुशेरते' (वट में गायें सुखपूर्वक सोती हैं) यहां पर वट शब्द से 'वटसंयुक्त भूतल' अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और यहां संयोग-सामीप्य-रूप होता है। कुछ वैय्याकरणों के अनुसार इस वाक्य में सामीप्य-अर्थ की प्रतीति वट शब्द में विद्यमान

---

1 सयोगो युक्तधीहेतुर्द्रव्ययो: क्रियया कृत:।
विशिष्टबुद्धिजनक: स्वस्वामित्वादिकोऽपर:॥ 24॥
—कोविदानन्द, पृ. 21

2 सम्बद्धबुद्धिजनक: सम्बन्ध:।.........स च त्रिविध:—संयोग:, समवायो, विशिष्टबुद्धियोग्यश्च।
—त्रिवेणिका, पृ. 25

3 तत्र द्रव्ययोरेव संयुक्तत्वबुद्धिहेतु: संयोगो गुणविशेष:।
—वही, पृ. 25

4 'आत्मानमलङ्करोति' अत्रात्मशब्देन तत्संयोगि शरीरं लक्ष्यते, व्याप्य-व्यापकभाव: सम्बन्धोऽयम्।
—वही, पृ. 25

अधिकरण विभक्ति द्वारा होती है, यहां पर सामीप्य-सम्बन्ध है ।[1]

धार्यधारकभाव-सम्बन्ध—'घण्टापथः' यहां पर घण्टा-शब्द से घण्टा-युक्त गज लक्षित होते हैं। यहां घण्टा शब्द में गज अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और यहां घण्टा और गज में धार्यधारकभावरूप संयोग-विशेष-सम्बन्ध, लक्षणा का प्रयोजन होता है ।[2]

साहचर्य सम्बन्ध—'ते हया वासुदेवस्य' (वे वासुदेव के घोड़े हैं) यहां तत् शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होने के कारण घोड़े के परस्पर साहचर्य सम्बन्ध को प्रकट करता है ।[3]

आधाराधेयभाव-सम्बन्ध—'गरुडेन निषादग्रामो भक्षितः' (गरुड ने निषादों के ग्राम को खा लिया) यहां ग्राम और ग्रामवासी के बीच में आधार-आधेय-भाव-सम्बन्ध रहता है, अतः ग्राम शब्द से निषादों के ग्राम में रहने वाले लोग लक्षणा द्वारा प्रतीत होते हैं ।[4] लक्षणा-प्रयोजक-सम्बन्धों के अन्तर्गत समवाय-सम्बन्ध को पञ्चधा विभाजित किया गया है। यथा—(1) अवयव-अवयविभाव (2) गुण-गुणिभाव (3) क्रिया-क्रियावद्भाव (4) जाति-व्यक्तिभाव (5) विशेष-नित्य-द्रव्यभाव। इस प्रकार के नित्य-सम्बन्ध को ही समवाय-सम्बन्ध नाम से अभिहित किया जाता है ।[5]

अवयवावयविभाव-सम्बन्ध—'शाखामृगो वनमृगः' इस वाक्य में

---

1 'वटे गावः सुशेरते' अत्र वटशब्देन तत्संयोगि भूतलं लक्ष्यते। अत्र सामीप्यं सम्बन्धः। केचित्तु सामीप्यं सप्तम्यर्थ इत्याहुः।
—त्रिवेणिका, पृ. 25

2 'घण्टापथः' अत्र घण्टाशब्देन तदुपलक्षिता गजा लक्ष्यन्ते। अत्र धार्यधारक-भावः सम्बन्धः।
—वही, पृ. 25-26

3 'ते हया वासुदेवस्य' इति बहुत्वश्रवणात्। साहचर्यञ्च सम्बन्धः।
—वही, पृ. 26

4 'गरुडेन निषादग्रामो भक्षितः' अत्र ग्रामशब्देन तद्वासिनो जना लक्ष्यन्ते।
—वही, पृ. 26

5 नित्यसम्बन्धः समवायः। स पञ्चविधः—अवयवावयविभावः, गुणगुणि-भावः, क्रियाक्रियावद्भावः, जातिव्यक्तिभावः, विशेषनित्यद्रव्यभावश्चेति।
—वही, पृ. 27

शाखा शब्द से लक्षणा द्वारा वृक्ष अर्थ बोधित होता है। शाखा शब्द का वाच्यार्थ तरु का अवयव विशेष है, किन्तु लक्षणा से वह सम्पूर्ण अवयवी तरु का बोध कराता है, अतः यहां पर अवयवावयविभाव-सम्बन्ध है।[1]

गुणगुणीभाव-सम्बन्ध—'सुरभिषु फलेषु मानसम्' वाक्य में सुरभिशब्द, जो सुगन्धवाचक है, से आश्रयभूत फल अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। यहां पर सुगन्ध गुण है और फल गुणी, इस प्रकार दोनों में गुणगुणीभाव-सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'शर्कराम् आस्वादयति' इस वाक्य में द्रव्य-वाचक शर्करा शब्द से शर्करा में विद्यमान माधुर्य गुण की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। गुण-गुणीभाव-सम्बन्ध, यहां लक्षणा का हेतु स्वीकार किया गया है।[2]

क्रियाक्रियावद्भाव-सम्बन्ध—'पश्य मृगो धावति' (देखो मृग दौड़ रहा है) यहां पर 'धावति' क्रिया पद के कारण धावन-क्रिया-विशिष्ट मृग की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है, क्योंकि क्रिया का देखा जाना सम्भव नहीं है, जैसा कि 'क्रिया नमेयमत्यन्तादृष्टा', (पा. म. भा. 1. 3. 11) क्रिया पद से विशिष्ट द्रव्य की प्रतीति के कारण इस प्रकार के स्थलों में क्रिया-क्रियावद्-भाव-सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार भट्ट ने 'भेर्यः श्रूयन्ते' आदि उदाहरण भी दिये हैं।[3]

जातिव्यक्तिभाव-सम्बन्ध—'क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्याम्' (हाथों से क्षत्रिय जाति उत्पन्न हुई) यहां पर जातिवाचक क्षत्र पद से उनके

---

1 क्रमेणोदाहरणानि—'शाखामृगो वनमृगः' इह शाखाशब्देन तरुर्लक्ष्यते, अवयवावयविभावसम्बन्धात्।
—त्रिवेणिका, पृ. 26-27

2 'सुरभिषु फलेषु मानसम्' अत्र सुगन्धगुणवाचिना सुरभिशब्देन तदाश्रयीभूतफलानि लक्ष्यन्ते, गुणगुणीभावोऽत्र सम्बन्धः।.....'शर्करामास्वादयति' अत्र शर्कराशब्देन तद्गतमाधुर्यगुणो लक्ष्यते, गुणगुणीभावश्च सम्बन्धः।
—वही, पृ. 27

3 'पश्य मृगो धावति' इति (इत्यत्र) क्रियापदेन क्रियाविशिष्टो मृगो लक्ष्यते। 'क्रिया नामेयमत्यन्तापरदृष्टा' इति भाष्यकारोक्त्या तद्दर्शनासम्भवात्। क्रियाक्रियावद्भावश्च सम्बन्धः।
—वही, पृ. 27

आश्रयभूत व्यक्तियों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। यहां पर जाति-व्यक्तिभाव-सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है।[1]

भट्ट ने जाति-व्यक्तिभाव-सम्बन्ध को सामान्य-विशेष-भाव-सम्बन्ध नाम से भी अभिहित किया है। इसका उदाहरण देते हैं—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' कभी भी ब्राह्मण को न मारे, इत्यादि वाक्यों में **आशाधरभट्ट** के अनुसार ब्राह्मण इत्यादि शब्द व्यक्तिवाचक हैं, किन्तु इनके द्वारा उनमें विद्यमान जाति का लक्षणा द्वारा बोध होता है। ऐसे स्थलों पर जाति-रूप अर्थ की प्रतीति न मानने पर ब्राह्मणत्व-जाति-विशिष्ट समस्त व्यक्तियों को अवध्य न माना जा सकेगा, अतः यहां जाति की प्रतीति स्वीकार करनी चाहिए। यहां जाति-व्यक्तिभाव-सम्बन्ध है, इसे ही सामान्य-विशेषभाव-सम्बन्ध भी कहा जाता है।[2]

वस्तुतः 'ब्राह्मणं न हन्यात्' वाक्य में ब्राह्मण-पद जाति-वाचक है, क्योंकि नित्य है, अतः उसका हनन सम्भव नहीं है, इस प्रकार प्रस्तुत-वाक्य में मुख्य-अर्थ का बाध होने पर जाति-व्यक्ति भाव-सम्बन्ध के कारण, व्यक्ति अर्थ की प्रतीति होकर वाक्यार्थ का बोध होता है, न कि व्यक्ति से जाति का बोध होता है, अतः **आशाधरभट्ट** का 'इह व्यक्ति-परेण ब्राह्मणशब्देन तत्समवेता जातिः लक्ष्यते' यह कथन चिन्त्य है।[3]

विशेषनित्यद्रव्यभाव-सम्बन्ध—'स एव कालेन दुरत्ययेन' यहां पर 'कालेन' पद के द्वारा भाव-प्रधान का निर्देश किया जाता है, जिससे नित्यद्रव्य-काल का बोध लक्षणा के द्वारा होता है। यहां विशेष-नित्य-द्रव्य-भाव-सम्बन्ध है, ऐसा न्याय-शास्त्र के विद्वान् स्वीकार करते हैं।

---

1 'क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्याम्' अत्र क्षत्रजातिशब्देन तदाश्रयीभूता व्यक्तयो लक्ष्यन्ते। जातिव्यक्तिभावश्च सम्बन्धः।

—त्रिवेणिका, पृ. 28

2 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' अत्र व्यक्तिपरेण ब्राह्मणशब्देन तत्समवेता जातिर्लक्ष्यते। अन्यथा सर्वेषां ब्राह्मणानामवध्यत्वं न स्यात्। सम्बन्धस्तूक्त एव। सामान्यविशेषभावोऽप्येवमेव।

—वही, पृ. 28

3 वृत्तिसमुच्चय, (व्या. ब्रह्ममित्र अवस्थी), इन्दु-प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली, 1978 ई., पृ. 65

वस्तुतः काल पद अभिधा-वृत्ति से नित्यद्रव्य को बतला रहा है,[1] अतः यहां विशेष-द्रव्य तथा नित्य-द्रव्य-भाव-सम्बन्ध है ।

लक्षणा-प्रयोजक-सम्बन्ध के तृतीय भेद विशिष्ट-बुद्धि-योग्य की व्याख्या करते हुए भट्ट ने कहा है कि, जिस हेतु के कारण यह इससे विशिष्ट है, इत्याकारक बुद्धि उत्पन्न होती है, वह विशिष्ट-बुद्धि-जनक है । वह अनेक प्रकार का हो सकता है ।[2] उक्त विशिष्ट-बुद्धिजनक लक्षणा-प्रयोजक-सम्बन्ध को भी भट्ट ने पञ्चधा विभाजित किया है ।

जन्यजनकभाव सम्बन्ध—'मुनयो विदुः' (मुनियों ने जाना) यहां 'विद्' धातु के लिट् लकार प्रथम-पुरुष बहुवचन के प्रयोग के कारण मुनियों द्वारा निर्मित-ग्रन्थ लक्षणा द्वारा प्रतीत होते हैं । 'ॐ' यह एकाक्षरात्मक ब्रह्म है, यहां पर ब्रह्म शब्द से ब्रह्म-वाचक अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है ।[3]

विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध—इसके उदाहरण के रूप में 'काकः काकः पिकः पिकः' (कौआ कौआ है, कोयल कोयल है), काक और पिक शब्दों के माध्यम से विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध के द्वारा काक और पिक क्रमशः निन्द्य, तथा स्तुत्य अर्थ में लक्षित होते हैं । इसी प्रकार 'रामस्य गात्रमसि' इत्यादि वचन **उत्तररामचरित** में राम द्वारा उक्त है, इसी कारण राम-पद-वाच्य शरीर से गात्र (बाहु) की सम्बद्धता की प्रतीति स्वतः हो सकती है, फिर भी अनावश्यक होते हुए भी, किए गए राम पद के प्रयोग से, रामगत कुछ वैशिष्ट्य की, लक्षणा द्वारा

---

1 विशेषनित्यद्रव्यभावो यथा—'स एव कालेन दुरत्ययेन ते' अत्र कालेनेति भावप्रधाननिर्देशः, तेन नित्यद्रव्यस्य कालस्य कालत्वे विशेषेणोक्तः सम्बन्ध इति तार्किकाः ।

—त्रिवेणिका, पृ. 28

2 यद्वशात् 'अयमनेन विशिष्टः' इति बुद्धिरुत्पद्यते, स विशिष्टबुद्धिजनकः । स नानाविधः ।

—वही, पृ. 28

3 जन्यजनकभावो यथा—'मुनयो विदुः' अत्र विदुरित्यनेन तत्कृता ग्रन्था लक्ष्यन्ते । 'ओऽम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म' अत्र ब्रह्मशब्देन ब्रह्मवाचकमित्यर्थो लक्ष्यते ।

—वही, पृ. 28

प्रतीति होती है। यहां भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध रहता है।[1]

वर्ण्यवर्णकभाव-सम्बन्ध—'हरिवंश: श्रूयते' (हरिवंश सुना जाता है) 'रघुवंश: पठ्यते' (रघुवंश पढ़ा जाता है) उक्त वाक्य में हरिवंश व रघुवंश के द्वारा हरि व रघु के वंश के वर्णनपरक ग्रन्थ-विशेष की लक्षणया प्रतीति होती है, अत: यहां वर्ण्यवर्णकभाव-सम्बन्ध है। 'कुमारकिरातनैषधा: पठनीया:' यहां पर **कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, नैषधीयचरित** को पढना चाहिए। उक्त वाक्य में भी वर्ण्य, कुमार आदि नाम से, तद्वर्णनात्मक ग्रन्थ लक्षित होते हैं।[2]

उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध—इसका उदाहरण देते हुए **भट्ट** ने समीप शब्द की व्याख्या की है। 'समीपं गत:' यहां समीप का अर्थ है—'संगता आपोऽस्मिन्निति' अर्थात् जहां जल सुलभ हो, इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस वाक्य में प्रयुक्त समीप शब्द सुलभ जल-स्थान वाचक है, ऐसे स्थान को उपमान मानकर सादृश्य के कारण लक्षणा से सभी पार्श्ववर्ती प्रदेशों को समीप कहा जाने लगा। वैय्याकरण होने के नाते **भट्ट** ने समीप शब्द की सिद्धि सूत्र-निर्देश-पुरस्सर की है।[3] **भट्ट** ने उक्त प्रकार से लक्षणा के प्रयोजक-सम्बन्धों को वर्णन करने के अनन्तर अन्त में कहा है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के (संयोग, समवाय एवं विशिष्ट-बुद्धि-योग्य-अर्थात् विशेषण-विशेष्यभाव) साक्षात् सम्बन्धों के रहने पर ही लक्षणा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष-

---

1 'काक: काक: पिक: पिक:' अत्र काकपिकशब्दाभ्यामुक्तसम्बन्धेन निन्द्यस्तुत्यौ लक्ष्येते। .... एवं 'रामस्य गात्रमसि' इत्यादौ व्यर्थपदं कञ्चिदर्थं गमयति। तत्र विशेषणविशेष्यभाव: सम्बन्ध:।

—त्रिवेणिका, पृ. 29

2 'हरिवंश: श्रूयते', 'रघुवंश: पठ्यते' इत्यादौ हरिवंशरघुवंशशब्दाभ्यां तत्प्रतिपादकग्रन्थयोर्लक्षणा। वर्ण्यवर्णकभावश्च सम्बन्ध:। 'कुमारकिरातनैषधा पठनीया:' अत्रापि वर्ण्यनामभिस्तद्वर्णका ग्रन्था लक्ष्यन्ते।

—वही, पृ. 29

3 'समीपं गत:' सङ्गता आपोऽस्मिन्निति समीपम्। 'द्व्यन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यकारस्येकार:। सुलभजलस्थानं वाच्यम्। तत्सादृश्यात् पार्श्ववर्तिनि प्रदेशे लक्षणा।

—त्रिवेणिका, पृ. 29-30

प्रमाण से संयोग और समवाय सम्बन्धों की समष्टि से संयुक्त-समवाय आदि सम्बन्ध हुआ करते हैं, उसी प्रकार लक्षितलक्षणा इत्यादि में परम्परा सम्बन्ध का भी उपयोग देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—भ्रमर आदि शब्दों में 'रेफद्वय' को देखकर पद में रेफ-सम्बन्ध के आधार पर लक्षित-लक्षणा द्वारा 'द्विरेफ' पद से षट्पद पिण्ड का बोध होता है।[1]

5 लक्षणा का पदगतत्व अथवा वाक्यगतत्व

लक्षणा के लक्षण एवं निमित्तत्रयादि तथा प्रयोजक-सम्बन्धों के विषय में विस्तार से वर्णन करने के अनन्तर यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि लक्षणा पदगत होती है अथवा वाक्यगत ? इस विषय में मीमांसकों, नैयायिकों, वेदान्तियों तथा आलङ्कारिकों ने चर्चा की है। मीमांसक, लक्षणा को पद के साथ, वाक्य की भी वृत्ति मानते हैं। नैयायिक, लक्षणा को केवल पद की वृत्ति मानते हैं। वेदान्तियों के मत में नैयायिकों की तरह लक्षणा केवल पदमात्र की वृत्ति नहीं है, उनके अनुसार वाक्य में लक्षणा हो सकती है और वाक्य भी लाक्षणिक हो सकता है। आलङ्कारिकों में भी इस विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ आलङ्कारिक लक्षणा को एकमात्र पद की ही वृत्ति मानते हैं, कुछ आचार्य लक्षणा को पद की तथा वाक्य की वृत्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। सर्वप्रथम मीमांसकों की विचारधारा को यहां उपन्यस्त किया जा रहा है।

मीमांसकों की मान्यता

गागाभट्ट (1657 ई.) ने भाट्टचिन्तामणि में लक्षणा को वाक्य-शक्ति के रूप में माना है।[2]

शम्भुभट्ट (1557 ई.) ने भाट्टदीपिका की टीका में एक स्थल पर

---

1 अत्र त्रिविधे साक्षात्सम्बन्धे सत्येव लक्षणेति न नियमः, प्रत्यक्षे संयुक्त-समवायादिवत् परम्परासम्बन्धस्यापि लक्षितलक्षणादावुपयोगदर्शनात् । तथा च लक्षितेन लक्षणया गृहीतेन भ्रमरादिशब्देन द्विरेफादेः षट्पद-पिण्डादौ लक्षणा लक्षितलक्षणेत्युच्यते ।
—वही, पृ. 30

2 वाक्यार्थे लक्षणेति सिद्धान्तः ।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 59

वाक्यलक्षणा का समर्थन किया है तथा वाक्य में लक्षणा मानने में ही लाघव स्वीकार किया है, क्योंकि पद में लक्षणा मानने पर वाक्यलक्षणा स्थलों पर इतरपदों की वैयर्थ्यापत्ति हो जाने से लक्षणा न हो सकेगी, अतः समूहावलम्बनात्मक स्थलों पर वाच्यार्थ-सम्बन्धमात्र से लक्षणा को अङ्गीकार करते हुए वाक्य में लक्षणा मानना अयुक्त न होगा।[1]

जगदीशतर्कालङ्कार (1653 ई.) ने मीमांसक होने के नाते मीमांसकों की मान्यताओं के अनुसार वाक्य में लक्षणा मानी है, उनके मतानुसार वाक्य भी पद के समान लक्षक हो सकता है। अन्यथा 'चित्रगु' समुदाय द्वारा लक्षणा से चित्र-विचित्र गायों के स्वामियों का बोध कैसे होगा? और कैसे 'गभीरायां नद्यां घोषः' में गम्भीर नदी में घोष है, इसका बोध हो सकेगा। यदि पद में ही लक्षणा मानें तो यहां लक्षणा न हो सकेगी, क्योंकि गम्भीर पद में यदि तीर की लक्षणा करते हैं, तो तीर नदी तो नहीं, अतः तीर का नदीतीर के साथ अन्वय न होने से गम्भीर पद अनन्वित रह जायेगा। यदि तीर में लक्षणा करते हैं, तो तीर गम्भीर नहीं है, अतः तीर का गम्भीर के साथ अन्वय नहीं होने से गम्भीर पद अनन्वित रह जायेगा। यदि दोनों पदों में, गम्भीर पद की गम्भीर तीर में, नदी पद की नदी तीर में लक्षणा मानते हैं, तो तब भी गहरी नदी के तीर पर घोष है, यह प्रतीति होगी, अतः वाक्य में लक्षणा मानना आवश्यक है।[2]

---

1 अत एव इयं वाक्ये लक्षणा, नैकस्मिन् पदे, इतरपदानां वैयर्थ्यापत्तेः, तेषां तात्पर्यग्राहकत्वे त्र विनिगमनाविरहात्, ... अतः पदसमूहावलम्बनात्मकवाक्य एव लक्षणा।...... तथापि स्वार्थसम्बन्धमात्रेणैवेह लक्षणास्वरूपाङ्गीकारेण वाक्ये लक्षणोपादानं नायुक्तम्, अनुभवस्यैव प्रमाणत्वादिति ध्येयम्।

—भाट्टदीपिका, सटीक, (टीका. शम्भुभट्ट), पृ. 25

2 ननु वाक्यमपि लक्षकं भवत्येव, कथमन्यथा चित्रगुसमुदायस्य लक्षणाया चित्रगोस्वामिनां बोधः? कथं वा 'गभीरायां नद्यां घोषः' इत्यादौ गभीरनदीतीरस्य? न हि तत्र नदीपदं तीरलक्षकं, गभीरायामित्यस्यानन्वयापत्तेः, न हि तीरं गभीरं, नापि गम्भीरपदं, तथा नद्यामित्यस्य ानन्वयापत्तेः, न हि तीरं नदी, तस्माद्वाक्यमेव तत्र गभीरनदीतीरलक्षकमिति मीमांसकाः।

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 140

नैयायिकों की मान्यता

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार-विश्वनाथ ने वाक्यलक्षरणा का खण्डन करते हुए कहा कि— वाक्य में तो शक्ति नहीं है, इसमें शक्यसम्बन्धरूपा लक्षरणा भी नहीं हो सकती। जहां 'गभीरायां नद्यां घोष:' ऐसा कहा, वहां नदीतीर में लक्षरणा और गम्भीर पदार्थ का नदी के साथ अभेदेन अन्वय होने से 'गम्भीराभिन्ननदीतीरे घोष:' यह बोध होता है।[1]

वाक्य-लक्षरणा के विषय में मीमांसकों ने जो 'गभीरायां नद्यां घोष:' में तर्क प्रस्तुत करते हुए वाक्य-लक्षरणा का समर्थन किया है, नैयायिक इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि यहां पर नदी-पद ही विशिष्ट नदी के तीर का लक्षक है और गम्भीर-पद तात्पर्यग्राहक है, अत: वाक्य-निष्ठा लक्षरणा नहीं होती है। वाक्यों में शक्ति नहीं रहती है, अत: नैयायिकों के अनुसार बहुव्रीहि, तत्पुरुष, समाहार-द्वन्द्व और अव्ययीभाव-समास में लक्षरणा होती है तथा द्वन्द्व और कर्मधारय-समास में लक्षरणा नहीं होती है।[2]

वस्तुत: नैयायिकों की मान्यता के अनुमार लक्षरणा पद की शक्ति है, वाक्य की नहीं। उनके अनुसार अभिधा-शक्ति के समान ही लक्षरणा भी पद की शक्ति है। जैसे—अभिधा पद में रहती है, वैसे ही लक्षरणा भी पद में रहती है, क्योंकि शक्य-सम्बन्ध ही लक्षरणा है।

वेदान्तियों की मान्यता

धर्मराजाध्वरीन्द्र (1655 ई.) ने **वेदान्तपरिभाषा** में पदार्थ एवं वाक्यार्थ

---

1 वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षरणापि नास्ति। यत्र तु गभीरायां नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षरणा। गभीर-पदार्थस्य नद्या सहाभेदेनान्वय:। क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 25

2 मीमांसका: समुदाये शक्तिमङ्गीकृत्य वाक्यनिष्ठां लक्षरणामामनन्ति। नैयायिकाश्च 'गभीरायां नद्यां घोष:' इत्यादौ नदीपदमेव विशिष्टनदीतीरे लाक्षरिणकं गभीरपदं च तात्पर्यग्राहकमिति नात्र वाक्यनिष्ठा लक्षरणा, वाक्ये शक्तेरभावात्, एवमेव बहुव्रीहितत्पुरुषसमाहारद्वन्द्वाव्ययीभावसमासेषु लक्षरणा, द्वन्द्वकर्मधारयसमासयोश्च नास्ति लक्षरणा इति प्रतिपादयन्ति।
—चन्द्रालोक, सटीक, (टीका. नन्दकिशोर शर्मा), पृ. 288

दोनों स्थलों पर लक्षणा स्वीकार की है, इन्होंने विपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत— शक्तिवाला पद ही होता है, इससे उसके अर्थ का नाम शक्य है, किन्तु वाक्यार्थ के अशक्य होने के कारण वाक्यार्थ-सम्बन्धरूपा-लक्षणा भी कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होंने कहा कि पद के स्वनिष्ठ-शक्ति के द्वारा जो पदार्थ ज्ञापित होता है, उस पदार्थ के सम्बन्ध का ही नाम लक्षणा है और शक्तिवृत्ति-बोध्य जैसे पद का अर्थ है, वैसे ही वाक्य का अर्थ भी है, अतः वाक्य में लक्षणा मानने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।[1] इस प्रकार 'गभीरायां नद्यां घोषः' में 'गभीरायां' तथा 'नद्यां' इन दोनों ही समुदित पदों की गङ्गातीर में लक्षणा हुई है। वैसे भी पद से स्वनिष्ठ के द्वारा जो पदार्थ ज्ञापित होता है, उस पदार्थ के सम्बन्ध का ही नाम लक्षणा है और शक्ति-वृत्ति से बोध्य जैसे पद का अर्थ है, वैसे ही वाक्य का अर्थ है, अतः वाक्य में लक्षणा मानने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।[2]

आलङ्कारिकों की मान्यता

जैसा पहले कहा गया है कि पदगत एवं वाक्यगत-लक्षणा के विषय में आलङ्कारिकों में मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। **मम्मट** के अनुसार 'आपने हमारे साथ बड़ी भलाई की, उसका वर्णन कहां तक करें। आपने सज्जनता की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। मित्रवर! ऐसी सज्जनता सदा करते रहें। आप सैकड़ों वर्षों तक सुखी रहें।'[3] इस पद्य में विपरीत लक्षणा है, पद्य में

---

1 ननु वाक्यार्थस्य अशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ? उच्यते। शक्त्या यत्पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा, शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थस्तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः।
—वेदान्तपरिभाषा, सटिप्पण, (टि. त्र्यम्बकरामशास्त्री), पृ. 125

2 तथा च शक्त्या साक्षाज्ज्ञाप्यस्तु पदार्थ एव, परन्तु तज्ज्ञानद्वारा वाक्यार्थोऽपि ज्ञाप्यत एवेति परम्परया ज्ञाप्यस्तु वाक्यार्थोऽपि भवति, अतः पदार्थस्येव वाक्यार्थस्यापि शक्तिज्ञाप्यत्वरूपशक्यत्वात् तत्सम्बन्धरूपा-लक्षणा सम्भवत्येवेति। न काचिदनुपपत्तिः।
—वेदान्तपरिभाषा, सटिप्पण, (टि. त्र्यम्बकरामशास्त्री, टिप्पण के रूप में उद्धृत), पृ. 125

3 उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥
—काव्यप्रकाश, पृ. 92

तत्तत् पद से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। उपकृतं, सुजनता, सखे, सुखितं, इन पदों में क्रमशः विपरीत-लक्षणा से अपकार आदि की प्रतीति होती है। **मम्मट** यहां पर पदों में लक्षणा मानते हैं। **प्रदीपकार-गोविन्दठक्कुर** का भी यही मत है।[1]

अप्पयदीक्षित (16 वीं श.) ने **वृत्तिवार्तिक** में इसे पदगत-लक्षणा का उदाहरण माना है, उनके अनुसार जहल्लक्षणा का भेद है—विपरीतलक्षणा, इसमें लाक्षणिक पद न केवल अपने मुख्य अर्थ को त्यागता है, अपितु मुख्य अर्थ से विपरीत अर्थ की भी प्रतीति कराता है। यहां उपकृत आदि पद स्वार्थ का परित्याग करके प्रकरणतः विरोधादि सम्बन्ध से उपकृत आदि पद विरुद्ध-अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यहां अपना साधुत्व-प्रदर्शन करना ही प्रयोजन है।[2]

विश्वेश्वर (18 वीं श.) ने अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य के उदाहरण के रूप में जो श्लोक उपन्यस्त किया है, वह पदगत लक्षणा का है, उसमें आया हुआ पतिव्रता पद तद्‌विरुद्ध असतीत्व को लक्षित करता है। 'तुम्हारे द्वारा मेरे दोषों को प्रकट करने के अनन्तर भी मैंने तुम्हारे दोषों को प्रकट नहीं किया है।' यहाँ स्वसाधुत्व प्रकट करना व्यंग्य है।[3]

---

1 अत्रापकारिण्यन्वयायोग्यैरपकारादिपदैः स्वार्थविपरीतं लक्ष्यते।……… त्वयैवमपकारेऽपि क्रियमाणे मया प्रियमेवोच्यत इति स्वसाधुत्वं व्यंग्यम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1912 ई., पृ. 96

2 व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणाप्रभेद एव,यथा–'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' ………अत्रापकारिण्यन्वयायोग्ये 'उपकृता'दिपदैः स्वार्थविरुद्धं लक्ष्यते। 'त्वयापकारे क्रियमाणेऽपि मयैवं प्रियमेवोच्यते' इति स्वसाधुत्वद्योतनं फलम्।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 20

3 अत्यन्ततिरस्कृतवाच्या, यथा—श्राम असत्यः स्म वयं पतिव्रतेन तव मलिनितं गोत्रम्। ………अत्र पतिव्रतापदं तद्विरुद्धमसतीत्वं लक्षयति। त्वया मम दोषोद्भावनेऽपि मया तव दोषो नोदभाव्यत इति स्वसाधुत्वं व्यंग्यम्।
—रसचन्द्रिका, पृ. 54

वाक्यगत लक्षणा के समर्थक आलङ्कारिक

विश्वनाथ (1300-1380 ई.) के अनुसार 'उपकृतं' इत्यादि पद्य, पद-गत-लक्षणा के नहीं हैं, उन्होंने उक्त पद्य वाक्यगत-लक्षणा का उदाहरण माना है। उनके समर्थक **आचार्य-अनन्तदास** ने भी इसे पदगत-लक्षणा का उदाहरण न मानकर वाक्यगत-लक्षणा का ही उदाहरण माना है। **विश्वनाथ** ने **साहित्यदर्पण** के द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा के चालीस भेदों को वर्णित कर तथा पदगत एवं वाक्यगतरूपेण उन समस्त लक्षणा के भेदों को द्विधा विभाजित कर वाक्यगत भेदों के उदाहरण के रूप में 'उपकृतं' आदि श्लोक को उपन्यस्त किया है।[1] **विश्वनाथ** के पुत्र **अनन्तदास** ने भी **साहित्यदर्पण** की **लोचन** नामक टीका में अनेक पदों के लक्षक होने के कारण उक्त पद्य में वाक्यगत लक्षणा का ही समर्थन किया है।[2]

नरसिंह (18 वीं श.) ने भी लक्षणा को पद-गत तथा वाक्य-गत भेद से दो प्रकार का माना है। उनके अनुसार अर्थान्तिरसंक्रमित-वाच्य व अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य भी पद-गत एवं वाक्य-गत भेद से दो प्रकार का होता है।[3]

6 समास में लक्षणा

कतिपय आचार्यों ने समास में लक्षणा होती है या नहीं, इस विषय में भी चर्चा की है, जिसे संक्षिप्तरूपेण उपन्यस्त किया जाता है।

अव्ययीभाव-समास में लक्षणा

अच्युतराय के अनुसार 'उपकुम्भम्' इत्यादि अव्ययीभाव समास-स्थल में लक्षणा होती है।[4]

---

1 पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा। वाक्यगतत्वे, यथा—'उपकृतं बहु तत्र' इति।

—साहित्यदर्पण, पृ. 120

2 तस्मात् एवमुक्तप्रकारेण 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यत्र बहुपदनिष्ठत्वाभि-प्रायेण वाक्यगतत्वम्।

—साहित्यदर्पण, सटीक, (टीका. अनन्तदास), पृ. 121

3 एतौ द्वौ पदगतौ। वाक्यगतावपि द्वौ भवतः। अत एव लक्षणामूलाश्च-त्वारो ध्वनयः। तत्र वाक्यगतार्थान्तिरसंक्रमितो, यथा—पश्येमं पद्मपत्राक्षि दृश्यतेऽयं त्वया पुरः। ········वाक्यगतात्यन्ततिरस्कृतो, यथा—नतानुकूलः किल नञ्जभूपः।

—नञ्जराजयशोभूषण, पृ. 25

4 तथैवास्त्वव्ययीभावेऽप्युपकुम्भमिति ह्यसौ ॥ 87 ॥

—साहित्यसार, पृ. 49

तत्पुरुष समास में लक्षणा

नैयायिकों के अनुसार तत्पुरुष-समास में लक्षणा होती है। यथा—राज-पुरुष पद में राजपदार्थ का स्वत्वसम्बन्ध से पुरुष में अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि निपातातिरिक्त-नामार्थ का निपातातिरिक्त-नामार्थ के साथ साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न है, ऐसा न मानने से 'राजा पुरुष' यहां पर स्वत्वसम्बन्धेन 'राजविशिष्टः पुरुषः' यह बोध होने लगेगा।[1] इन्हीं के मत को समर्थित करते हुए **अच्युतराय** ने भी तत्पुरुष-समास के उदाहरण राज-पूरुष में, पूर्वपद में तथा अर्धपिप्पली आदि स्थलों में उत्तरपद में लक्षणा मानी है।[2]

दीनबन्धु झा ने अपनी **समासशक्तिदीपिका** नामक कृति में, समास में लक्षणा-विषय पर विस्तार के साथ विवेचन किया है। उन्होंने तत्पुरुष-समास में लक्षणा-विषयक चर्चा करते हुए, अन्यों के मतों को भी उपस्थित किया है। यथा—वैय्याकरणों के अनुसार राजपुरुष इत्यादि समास में योग-नामक अवयवशक्ति से स्वस्वामिभावादि-सम्बन्ध द्वारा राजविशिष्ट पुरुष इत्याकारक ज्ञान हो जाता है।

तार्किकों के अनुसार 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः' यह अभेदान्वयबोध षष्ठी तत्पुरुष-समास में, पूर्व पद में, स्वत्व आदि सम्बन्ध के द्वारा लक्षणा से होता है। वैय्याकरणों का नैयायिकों के विरोध में यह कहना है कि ऐसा मानने पर कि राजपुरुष का समास-विग्रह-वाक्य 'राज्ञः पुरुषः' में भी लक्षणा मान्य होगी, क्योंकि समस्त-पद और विग्रह-वाक्य का एक ही अर्थ होता है, यह सब मानते हैं।[3] **जगदीशभट्टाचार्य** ने 'राज्ञः पुरुषः' में राजपुरुष के मुख्यार्थ के

---

1 तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा। तथाहि—राजपुरुष इत्यादौ राजपदार्थेन पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोध-स्याव्युत्पन्नत्वात्। अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि तथान्वयबोधः स्यात्।

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 27

2 तथा तत्पुरुषे राजपुरुषोऽस्तीत्युदाहृतौ।
लक्षणा राजसम्बन्धिन्येव पूर्वपदे मता ॥ 86 ॥
अप्यर्धपिप्पलीत्यादौ ज्ञेयोत्तरपदेऽपि सा।

—साहित्यसार, पृ. 49

3 राज्ञः पुरुष इत्यादिवाक्यानां राजपुरुष इत्यादिसमासविग्रहत्वं न स्यात्,

साथ अभेद बाधित होने के कारण राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा मानी है।[1]

यदि राजपुरुष का विग्रह राज-सम्बन्धी पुरुष माना जाये, तो 'राज्ञः पुरुषः' वाक्य का अर्थ राज-पुरुष समास का अर्थ नहीं होगा। यदि राज-पुरुष शब्द का विग्रह होता तो 'षष्ठी' इस सूत्र के पृथक् बनाने का कोई प्रयोजन न था, क्योंकि राजपुरुष का समास 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र से हो जाता है।[2] इस प्रकार यदि 'राज्ञः पुरुषः' विग्रह वाक्य में लक्षणा नहीं, तो राजपुरुष इस समस्त पद में लक्षणा मानने का कोई प्रयोजन नहीं। यदि पृथक्-पृथक् पद में लक्षणा मानी जाय तो 'चित्रगु' इत्यादि अन्य-पदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि-समास में चित्रगवी के स्वामी का बोध नहीं हो सकेगा।[3]

नञ्-समास में लक्षणा

जगदीशभट्टाचार्य ने नञ्-तत्पुरुष समास में भी लक्षणा मानी है। 'अघटं भूतलम्' इत्यादि स्थल में घट भिन्न में लक्षणा मानी है।[4]

कर्मधारय-समास में लक्षणा की असत्ता

नैयायिकों के अनुसार, कर्मधारय-समास में 'नीलोत्पलम्' इत्यादि कर्म-

---

विषमाऽर्थबोधकत्वात्, समानार्थाऽवबोधकवाक्यार्थस्यैव विग्रहत्वात्।

—झा, दीनबन्धु, समासशक्तिदीपिका, कामेश्वरसिंह-दरभङ्गा-संस्कृत-विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार, वि. सं. 2033, पृ. 5

1 वस्तुतस्तु विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धस्य अभेदबोधकत्वव्युत्पत्तेः मुख्यार्थराजाभेदस्य बाधेन राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा।

—तर्कामृत, पृ. 61

2 अपि च 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' मित्यनेनैव नीलोत्पलमित्यादाविव समाससिद्ध्या षष्ठीति सूत्रप्रणयनमप्रयोजनं स्यात्, अतः पूर्वपदं सम्बन्धिलाक्षणिकमिति न वाच्यम्।

—समासशक्तिदीपिका, पृ. 7

3 चित्रग्वादौ शक्त्यभावे न स्यादन्यपदार्थधीः।
लक्षणाऽऽश्रयणं तत्र निर्वाहाय न जायते ॥ 7 ॥

—वही, पृ. 7

4 'अघटं भूतलम्' इत्यादौ घटभिन्ने लक्षणा।

—तर्कामृत, पृ. 61

धारय-स्थल में, नील पदार्थ का उत्पल-पदार्थ में अभेद-प्रकारक सम्बन्ध है, अत: यहां लक्षणा नहीं होती ।[1]

द्वन्द्व-समास में लक्षणा

'धवखदिरौ छिन्धि' इत्यादि इतरेतरयोग-द्वन्द्व-स्थल में द्वितीया विभक्ति के द्विवचनार्थ द्वित्वप्रकार से धव तथा खदिर दोनों का बोध होता हैं, इसलिए द्वन्द्व में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं । **विश्वनाथन्यायपञ्चानन** का समर्थन **जगदीशतर्कालङ्कार** ने भी किया है और कहा है कि द्वन्द्व व कर्मधारय से अतिरिक्त समास-स्थलों में सर्वत्र यथायोग्य तत्तदर्थ में लक्षणा होती है ।[2] इसी का समर्थन **अच्युतराय** ने भी किया और कहा कि, यदि समाहार का अनुभव होता है, तो 'अहिनकुलं पश्य' इत्यादि स्थल में परपद में लक्षणा हो सकती है ।[3]

एकशेष-समास में लक्षणा

नैयायिकों के अनुसार 'पितरौ', 'श्वसुरौ' इत्यादि एकशेष-स्थल में पितृ-पद की स्वजनक—माता-पिता दोनों में लक्षणा है । इसी प्रकार श्वसुर पद की स्त्री के जनक—माता-पिता दोनों में लक्षणा है ।[4]

---

1 कर्मधारयस्थले तु, नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पल-पदार्थे प्रकार: । तत्र च न लक्षणा ।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 32

2 द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवश्च खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बुध्यते, तत्र न लक्षणा न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यम् ।
—वही, पृ. 28
अन्यच्च
तथा च द्वन्द्वकर्मधारयान्यसमासे सर्वत्र तत्तदर्थे लक्षणा ।
—तर्कामृत, पृ. 61

3 समाहाराभिधे द्वन्द्वे समाहारोऽनुभूयते ।
तदाहिनकुलं पश्येत्यादौ परपदेऽस्तु सा ॥ 88 ॥
—साहित्यसार, पृ. 49

4 पितरौ श्वसुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्यो:, श्वसुरपदे स्त्रीजनक-दम्पत्योर्लक्षणा । एवमन्यत्रापि ।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 32

बहुव्रीहि-समास में लक्षणा

नैयायिकों के अनुसार 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' की तरह ही 'चित्रगुः' आदि पदों में लक्षणा होती है। उनके अनुसार उक्त पद में यदि एकदेशान्वय-स्वीकार करते हो, तो गोपद का गोस्वामी में लक्षणा होने से, चित्र का गौ के साथ अभेदान्वय चित्राभिन्नगोस्वामी ऐसा बोध होता है। यदि एकदेशान्वय नहीं स्वीकार करते हैं, तो गोपद का चित्रगोस्वामी में लक्षणा है तथा चित्र-पद तात्पर्य-ग्राहक है।[1] इसका समर्थन **अच्युतराय** ने भी किया है।[2]

तात्पर्य यह है कि **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** और **साहित्यसार** बहुव्रीहि समास के सन्दर्भ में दो विकल्प स्वीकार करते हैं। प्रथम विकल्प के अन्तर्गत चित्रगु पद का अर्थ इस प्रकार होगा, गो पद का लक्षणा से अर्थ होगा गोस्वामी तथा चित्र का उससे अभेदान्वय होगा, जैसे—'चैत्रस्य गुरुकुलम्' में चैत्र का अन्वय केवल गुरु पद से है, यह एकदेशान्वय का पक्ष है। दूसरे पक्ष में यदि यह स्वीकार न किया जाय, तो गोपद का लाक्षणिक अर्थ चित्रगो-स्वामी माना जायेगा तथा चित्र पद को तात्पर्य-ग्राहक मान लिया जायेगा।

बहुव्रीहि-समास में उत्तर पद को लाक्षणिक मानने वाले नैयायिकों का खण्डन करते हुए, **दीनबन्धु झा** ने कहा है कि 'पीताम्बरः' 'चित्रगुः' इत्यादि

अन्यच्च
पितरौ श्वसुरौ चेति सा पित्रादिपदेष्विति।
—साहित्यसार, पृ. 49

1 बहुव्रीहावप्येवम्। तत्र हि चित्रगुपदादौ यदैकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा, गवि चित्राभेदान्वयः, यदि तत्रैकदेशान्वयो न स्वीक्रियते, तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा, चित्रपदं तात्पर्य-ग्राहकम्।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 26

2 समस्तकोटावथ ता बहुव्रीहौ तु चित्रगुः।
इत्यादौ यद्येकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा ॥ 83 ॥
लक्षणा गोपदस्यास्ति गोमत्येवान्वयो गवि।
ज्ञेयश्चित्रपदार्थस्येत्येवं तत्र व्यवस्थितिः ॥ 84 ॥
नैव स्वीक्रियतेऽसौ चेत्तदा सा चित्रगोमति।
तात्पर्यग्राहकं चित्रपदमित्येष निर्णयः ॥ 85 ॥
—साहित्यसार, पृ. 48-49

समस्त पदों में अम्बर तथा गु-पदादि का वाचकत्व से विहीन होने के कारण यहां पर शक्य-सम्बन्ध-रूपा लक्षणा का होना सम्भव नहीं है।[1] इस विषय में दीनबन्धु झा ने विस्तार से विचार किया है, नैयायिकों व आलङ्कारिकों की मान्यताओं के अतिरिक्त इन्होंने वैय्याकरणों की विचारधारा को भी उपन्यस्त किया है। समस्त पदों में लक्षणा सम्पूर्ण-अवयवी में रहती है या भिन्न-भिन्न अवयवभूत-पदों में ? वैय्याकरणों के अनुसार सम्पूर्ण समस्त-पद में लक्षणा रहती है।[2]

7 प्रत्ययों में लक्षणा

जगदीशभट्टाचार्य ने 'सन्', 'तुमुन्' तथा 'शतृ' आदि प्रत्ययों में भी लक्षणा मानी है। उनकी मान्यता है कि 'सन्' प्रत्यय का अर्थ है कि कर्ता की इच्छा, अतः 'सन्' के आगे आने वाले आख्यात की आश्रयत्वरूप अर्थ में लक्षणा की जाती है, क्योंकि सविषयक-अर्थ वाले धातुओं से होने वाले आख्यात का आश्रयत्व लक्षक होना 'घटं जानाति' इत्यादि स्थल में कल्पित है।[3]

इसी प्रकार 'तुमुन्' का अर्थ इच्छावान् है। 'भोक्तुं व्रजति' का अर्थ हुआ 'भोजनेच्छावान् व्रजति', अतः 'भोक्तुमिच्छति' इत्यादि स्थल में 'तुमुन्' प्रत्यय कर्ता अर्थ में लाक्षणिक है।[4]

---

1 पीताम्बरश्चित्रगुश्चेदित्यादौ नाऽस्ति वाचकम्।
तदा विभाव्यतां तत्र लक्षणाऽवसरः कुतः ॥ 17 ॥
बहुव्रीहावुत्तरपदं लाक्षणिकमिति यन्नैयायिका आहुस्तत्रोच्यते—पीताम्बरश्चित्रगुरित्यादौ लक्षणा दुर्लभा, अम्बरशब्दस्य गुपदादेर्वा अवाचकत्वेन तत्र शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाया असम्भवात्, अम्बरशब्दस्य गोपदादेर्वा वाचकत्वेनाऽभिमतस्याऽसत्त्वात् च।
—समासशक्तिदीपिका, पृ. 16

2 ते ह्यवयववर्तिन्या शक्त्या लक्षणया वा निर्वाहविरहमाकलय्य सर्वस्मिन् समासे शक्तिमभ्युपयन्ति।
—वही, पृ. 4

3 सनः कर्तुरिच्छा अर्थः, सन्नुत्तराख्यातस्याश्रयत्वे लक्षणा, सविषयकार्थकप्रकृतिकाख्यातस्य आश्रयत्वे लक्षणायां 'घटं जानाति' इत्यादौ क्लृप्त्वात्।
—तर्कामृत, पृ. 57

4 इच्छावान् तुमुनोऽर्थः। भोक्तुं व्रजतीत्यस्य भोजनेच्छावान् व्रजतीत्यर्थः। 'भोक्तुमिच्छति' इत्यत्र तु कर्तरि लक्षणा।
—वही, पृ. 59

'शतृ', 'शानच्' प्रत्ययों के योग में भी लक्षणा होती है। प्रकृतिभूतधात्वर्थ-कर्ता, 'शतृ' और 'शानच्' का अर्थ होता है, कर्म प्रत्यय-स्थल में धात्वर्थजन्य फलवानुकर्म, 'शानच्' का अर्थ होता है। शत्रादि प्रत्ययों का कर्ता अर्थ है। सविषयकार्थक प्रकृतिक (ज्ञा, इष्) धातुओं के शत्रादि के आश्रयत्व में लक्षणा होती है।[1]

उपसंहार

आनन्दवर्धन ने अमुख्य-रूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गुण-वृत्ति कहा था। लक्षणा के लिए उन्होंने भक्ति शब्द का प्रयोग किया और भक्ति को उपचार माना है। **ध्वन्यालोक** के टीकाकार **अभिनवगुप्त** इसका अर्थ अतिशयित-व्यवहार अर्थ करते हैं। **आनन्दवर्धन** जहां लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा से भिन्न व्यापार को कारण मानकर उसे गुणवृत्ति नाम देते हैं, वहां उन्हीं के समकालिक दार्शनिक **वाचस्पतिमिश्र** के अनुसार—जब मुख्यार्थ का सम्बन्ध वाक्यार्थ में अनुपपन्न हो जाता है, तब मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ से अन्वय जहां संगत हो जाता है, वहां लक्षणा होती है।

मम्मटाचार्य ने मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन में अन्यतर को लक्षणा का कारण माना है। **मम्मट** आरोपिता क्रिया, अर्थात् शब्द-व्यापार को लक्षणा मानते हैं, इस विचारधारा का पल्लवन **परमानन्द-चक्रवर्ती** प्रभृति टीकाकारों के अतिरिक्त **अजितसेन**, **विद्यानाथ**, **नरसिंह** आदि आलङ्कारिकों ने भी किया है।

मम्मट-प्रदत्त उक्त लक्षण के सन्दर्भ में **हेमचन्द्र** ने अपने **काव्यानुशासन** में हेतुओं में वैकल्पिक तृतीय हेतु रूढि को इसलिए नहीं माना है, क्योंकि उन्हें रूढा, लक्षणा के रूप में अङ्गीकार नहीं है। वे रूढा को अभिधावत् ही मानते हैं। तद्योग की जगह ये निमित्त शब्द का प्रयोग करते हैं। **जयदेव** मुख्यार्थबाध के स्थान पर मुख्यार्थ की अविवक्षा शब्द को व्यवहृत करते हैं, जो अधिक व्यावहारिक एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः वक्ता 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य का प्रयोग शीतत्वपावनत्वातिशय की प्रतीति के लिए करता है, यही उसकी विवक्षा भी है। जब वक्ता लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करता है तो रूढि या प्रयोजन के कारण ही करता है। ऐसी स्थिति

---

1 प्रकृतधात्वर्थकर्त्ता शतृशानचोः, धात्वर्थजन्यफलवान् कर्म शानचोऽर्थः। शत्रादीनां कर्त्ता वाच्यः, सविषयकार्थकप्रकृतिकानाम् आश्रयत्वे लक्षणा।
—वही, पृ. 59

में वक्ता के मन में वाच्यार्थ के कथन के प्रति अविवक्षा ही रहती है। 'मुख्यार्थबाधे' कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि वक्ता ने वाक्य का प्रयोग किया, उसमें तत्तत् शब्दों के उच्चारण के अनन्तर दो पदों के सम्बन्धों में बाधा उपस्थित हुई, अर्थात् अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति हो गयी, किन्तु मुख्यार्थ की अविवक्षा कहने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वक्ता उस पद का प्रयोग जानबूझकर कर रहा है। वस्तुतः उसे वाच्यार्थ से किञ्चित् भी लगाव नहीं है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने लक्षणा का लक्षण करते हुए हेतुत्रय की चर्चा नहीं की है, वे लक्षणा को दो प्रकार से विभाजित करते हैं, जिसमें केवल तद्योग, अर्थात् सम्बन्ध की चर्चा करते हुए पाये जाते हैं। **अच्युतराय** के अनुसार तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर अर्थानुरोधपुरस्सर शक्य-सम्बन्ध की बोधिका जो शाब्दी-वृत्ति है, वही लक्षणा है। **तर्कवागीशभट्टाचार्य** ने शक्य से अशक्य की उपस्थिति को लक्षणा माना है। **अमरचन्द्रयति** तथा **विश्वनाथ**-कृत परिभाषा, **मम्मट**-कृत लक्षण से मिलती है। **अप्पयदीक्षित** का लक्षणा-विषयक लक्षण तो नैयायिकों की विवृत्तिमात्र है, किन्तु **दीक्षित** ने लक्षणा-विषयक कुछ अन्य विचार प्रस्तुत किए हैं, जो मौलिक कहे जा सकते हैं। लक्षणा के भेदों के वर्णन में **दीक्षित** का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इन्होंने वेदान्तियों के जहदजहल्लक्षणा नामक भेद को आत्मसात् कर लिया। इनके अनुसार लक्षणा-व्यापार शब्द के उसी अर्थ का बोध करा सकता है, जिसका संबंध, शब्द के मुख्यार्थ के साथ हो, शब्द के लक्ष्यार्थ का बोध कराने की शक्ति अभिधा-व्यापार पर भी आश्रित है। इस प्रकार मुख्यार्थ-सम्बन्धवश होने वाली शब्द की प्रतिपादकता ही लक्षणा है। गौणी इन्हें भिन्न-वृत्ति के रूप में स्वीकार्य नहीं है।

विश्वनाथदेव ने प्रकारान्तर से लक्षणा का लक्षण किया है, उनके अनुसार जहां तात्पर्य के विषय में और अन्वय की उपपत्ति में मुख्यार्थ का बाध होता है, वहां लक्षणा होती है। **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने लक्षणा के लिए उपचार शब्द का प्रयोग किया तथा कहा कि किसी प्रकार से मुख्यार्थ का अनुपयोग होने पर मुख्यार्थ से सम्बद्ध-अन्यार्थ में वाच्यार्थ के धर्मों का आरोप किया जाय, वहां उपचार का वैचित्र्य देखने में आता है। अन्य में अन्य का आरोप उपचार कहलाता है। यही उपचार, लक्षणा नामक शब्द का व्यापार-विशेष कहलाता है।

गोकुलनाथ-उपाध्याय की मान्यता के अनुसार जहां वाच्यार्थ के बाध होने पर तात्पर्य के द्वारा मुख्यार्थ से अमुख्यार्थ का स्मरण होता है, वहां

लक्षणा मानी जाती है। तात्पर्यानुपपत्ति के समर्थक **आचार्यविश्वनाथ-न्याय-पञ्चानन** तात्पर्यानुपपत्ति-पुरस्सर शक्य के सम्बन्ध को लक्षणा मानते हैं। लगता है कि उनके समय तक लक्षणा के बीज के विषय में विवाद उग्र-रूप धारण कर चुका होगा, अतः उन्हें उक्त प्रकार से लक्षणा का लक्षण करना पड़ा। **पण्डितराजजगन्नाथ** ने लक्षणा का लक्षण करते हुए **श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य, केशवमिश्र** और **कविकर्णपूर** की ही पदावली को दुहराया है।

लक्षणा में **मम्मट** ने जिन हेतुओं को माना है, उसका समर्थन **जयदेव, विद्याधर, अमरचन्द्रयति, विश्वनाथ, श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य, भावदेवसूरि** आदि ने भी किया। प्रयोजनत्रयों में रूढि को अभिधागम्य मानते हुए उसे अङ्गीकार न करने वाले आचार्यों में **जयदेव** मुख्यरूपेण उल्लेखनीय हैं। वैसे लक्षणा के दो भेद ही स्वीकार करने के कारण **रामकर्ण-आसोपा** को भी इसी कोटि में गिना जा सकता है। **वाचस्पतिमिश्र, शालिकनाथमिश्र** कतिपय **मम्मट**-पूर्ववर्ती आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने मुख्यार्थबाध तथा प्रयोजन को ही प्राधान्य दिया है। इसी प्रकार की विचारधारा रखने वाले आचार्यों में **मम्मट**-परवर्ती **आचार्य-नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयवर्णी, राजचूड़ामणिदीक्षित, आशाधरभट्ट, गोकुलनाथ**-उपाध्याय आदि मुख्यरूपेण उल्लेखनीय हैं।

आचार्यों में एक वर्ग ऐसा भी है, जो लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थ-बाध तथा तद्योग शब्द का स्पष्टतः उल्लेख नहीं करता है, फिर भी मुख्यार्थ-बाध के बिना लक्षणा सम्भव नहीं है, वैसे मुख्यार्थ-बाध के बिना लक्षणा का समर्थन **अप्पयदीक्षित**-कृत **वृत्तिवार्तिक** तथा **आशाधरभट्ट**-कृत **त्रिवेणिका** की स्वोपज्ञ-टीका में आलङ्कारिकों के मतों को अभिव्यक्त करने के माध्यम से किया गया है।

मुख्यार्थबाध की व्याख्या आचार्यों ने अनेक रूपों में की है। कतिपय आचार्य मुख्यार्थबाध का अभिप्राय, वाक्य में अन्वय की उपपत्ति का न होना लेते हैं। इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले दार्शनिकों में **वाचस्पतिमिश्र, मधुसूदनसरस्वती, गागाभट्ट, आपदेव** तथा आलङ्कारिकों में **चण्डीदास, परमानन्दचक्रवर्ती, वैद्यनाथतत्सत्, वामन-झलकीकर** और वैय्याकरणों में **नागेश** प्रमुखरूपेण उल्लेखनीय हैं।

अन्वयानुपपत्ति को अस्वीकार कर तात्पर्यान्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार करने वाले नैयायिक-आचार्यों में **विश्वनाथन्यायपञ्चानन, जगदीशतर्कालङ्कार, गदाधरभट्ट, अन्नंभट्ट** तथा आलङ्कारिकों में सर्वप्रथम **जयदेव, महेश्वरन्यायालङ्कार, पण्डितराजजगन्नाथ, अच्युतराय** आदि मुख्य-रूपेण उल्लेखनीय हैं।

आचार्यों का एक वर्ग ऐसा भी है जो अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति इन दोनों को लक्षरणा का बीज मानकर मध्य-मार्ग अपनाता है। इस प्रकार के आचार्यों में मुख्यतया **केशवमिश्र** तथा **राजचूड़ामणिदीक्षित** आदि को लिया जा सकता है।

पूर्वोक्त लक्षरणा के बीजों के विषय में कतिपय आचार्यों की मान्यता है कि लक्षरणा के बीजों को मानने का औचित्य ही क्या है? इस प्रकार की विचारधारा रखने वाले **खण्डदेव, शालिकनाथमिश्र** आदि का कथन है कि वेद में तथा अर्थवाद-वाक्यों में तात्पर्य नाम की कोई वस्तु होती ही नहीं है, अतः इस प्रकार के बीजों का मानना कहां तक औचित्यपूर्ण है?

चित्सुखाचार्य के मतानुसार वाक्यप्रामाण्यान्वयानुपपत्ति को ही लक्षरणा का बीज माना जाना चाहिए। **गोकुलनाथ-उपाध्याय** आकांक्षाविरहवादियों के अनुसार आकांक्षा-विरह को भी लक्षरणा की परिधि में समेट लेते हैं।

जहां तक लक्षरणा के प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा का विषय है, ये भी लक्षरणा के साथ-साथ ई. पू. से बीजरूपेण चले आ रहे हैं। **भर्तृमित्र** (300 ई. पू.) ने प्रयोजक-सम्बन्धों से मेल खाने वाले पांच सम्बन्धों की चर्चा की है। **जैमिनि** ने भी इन सम्बन्धों की चर्चा की है। **गौतम** अपने 'सहचरण' आदि सूत्र में दस प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा करते हैं। **पञ्तजलि** ने तत्स्थता आदि चार ही सम्बन्धों को गिनाया है। **भोज** ने सामीप्यादि सम्बन्ध से प्रयोजक सम्बन्धों को षड्धा विभाजित किया है। **मम्मट** ने भी तादर्थ्य आदि सम्बन्धों की चर्चा की है। **हेमचन्द्र** ने **मम्मट** के अतिरिक्त तीन और सम्बन्धों को स्वीकार कर उक्त सम्बन्धों की वृद्धि की है। **धर्मसूरि** ने इन्हें पञ्चधा विभाजित किया है। **नागेश** ने इस विषय में **पतञ्जलि** का ही अनुगमन किया है।

आशाधरभट्ट का प्रयोजक-सम्बन्धों के विषय में महनीय योगदान रहा। इन्होंने अनेक सम्बन्धों की चर्चा की, जिनमें से अधिकतर इनकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं। यथा—गुणगुणीभाव-सम्बन्ध, क्रियाक्रियावद्भाव-सम्बन्ध, विशेषनित्यद्रव्यभाव-सम्बन्ध, वर्ण्यवर्णकभाव-सम्बन्ध, उपमानोपमेय-भाव-सम्बन्ध आदि उल्लेखनीय हैं।

लक्षरणा के पदगतत्व तथा वाक्यगतत्व के विषय में मीमांसकों की मान्यता है कि लक्षरणा को पद के साथ वाक्य की भी वृत्ति माना जाय। वेदान्ती भी इनका समर्थन करते हैं। नैयायिक लक्षरणा को पदगत ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में आलङ्कारिकों में भी आपस में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

मीमांसकों में **शम्भुभट्ट, गागाभट्ट** तथा **जगदीशतर्कालङ्कार** आदि आचार्य वाक्य में भी लक्षणा मानने के पक्षपाती हैं। **वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र** की मान्यता है कि वाक्य में लक्षणा मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। **न्यायपञ्चाननविश्वनाथ** आदि ने वाक्यलक्षणा का जमकर खण्डन किया। नैयायिकों के मतानुसार अभिधा-शक्ति के समान ही लक्षणा भी पद की शक्ति है, वाक्य की नहीं। जैसे अभिधा पद में रहती है, वैसे लक्षणा भी पद में रहती है, क्योंकि शक्य-सम्बन्ध ही लक्षणा है।

आलङ्कारिकों में **मम्मट** 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' पद्य में विपरीत लक्षणा मानने के साथ ही पदों में लक्षणा मानते हैं। **गोविन्दठक्कुर** आदि टीकाकार भी इनके मत के समर्थक हैं। **अप्पयदीक्षित, विश्वेश्वर** आदि ने लक्षणा को पदगत ही माना है, जबकि **दर्पणकार-विश्वनाथ,** तत्पुत्र **अनन्तदास** 'उपकृतं' इत्यादि स्थलों में वाक्यगतलक्षणा मानते हैं। उक्त पद्य को वाक्यगत-लक्षणा के ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। **आङ्कारिक-नरसिंह** को लक्षणा का पदगतत्व तथा वाक्यगतत्व दोनों ही प्रकार स्वीकार्य है।

वाक्य के अतिरिक्त समस्त-पदों में भी आचार्य लक्षणा मानते आ रहे हैं। **अच्युतराय** अव्ययीभाव-समास में, **विश्वनाथन्यायपञ्चानन** तथा **दीनबन्धु झा** आदि तत्पुरुष-समास में लक्षणा स्वीकार करते हैं, किन्तु 'नीलोत्पलम्' इत्यादि कर्मधारय-समास में दोनों पदार्थों का अभेद होने के कारण आचार्यों को लक्षणा मान्य नहीं हैं। द्वन्द्व-समास में इतरेतर भेद-स्थल में **विश्वनाथन्याय-पञ्चानन** आदि को लक्षणा स्वीकार्य नहीं है। जबकि लक्षणा के विषय में पूर्णरूपेण नैयायिकों से प्रभावित **अच्युतराय** को समाहार-द्वन्द्व-समास में लक्षणा मान्य है, यदि उक्त स्थल में स्पष्टरूपेण समाहार की प्रतीति हो रही हो तो। **नैयायिकविश्वनाथ** एकशेष-समास में लक्षणा मानते हैं। इसी प्रकार बहुव्रीहि समास में भी **विश्वनाथन्यायपञ्चानन, अच्युतराय, दीनबन्धु झा** आदि ने लक्षणा को माना है। **जगदीशभट्टाचार्य** ने 'सन्', 'तुमुन्', 'शतृ', 'शानच्' आदि प्रत्ययों के योग में भी लक्षणा की सत्ता स्वीकार की है।

पञ्चम अध्याय

लक्षरणा की भेदोपभेद तालिका

लक्षरणा के विवेचन में सर्वाधिक विवादास्पद विषय लक्षरणा के भेदोपभेदों का है, अतः प्रस्तुत-शोध-प्रबन्ध में इस विषय का विवेचन दो अध्यायों में किया जाएगा। प्रस्तुत-अध्याय में, आधारित-तालिकाओं की सहायता से यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायेगा कि, कौन आचार्य लक्षरणा के किस प्रकार को किस भेद का उपभेद मानता है। इस अध्याय में प्रमुख आचार्यों की लक्षरणाभेद-विषयक मान्यताओं को वर्णित किया गया है।

काव्यप्रकाश तथा शब्दव्यापारविचार (मम्मट 12 वीं श.) के अनुसार लक्षरणा के भेद

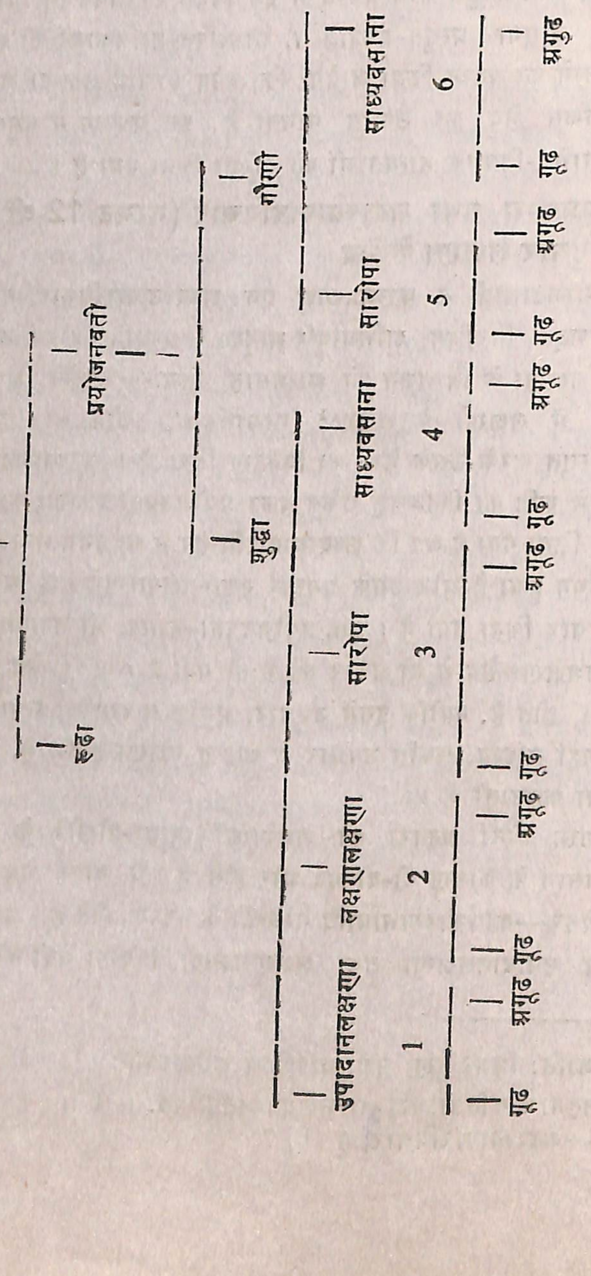
मम्मटाचार्य ने **काव्यप्रकाश** एवं **शब्दव्यापारविचार** नामक ग्रन्थ में **मुकुलभट्ट** विरचित **अभिधावृत्तिमातृका** से प्रभावित होकर नामपरिवर्तन के साथ लक्षरणा के विभाजन को आत्मसात् किया। इन्होंने अपने दोनों ही ग्रन्थों में लक्षरणा के लक्षरण[1] (मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढि अथवा प्रयोजन) को प्रस्तुत करके उसके भेदों का विवरण दिया है। **काव्यप्रकाश** के वृत्ति-भाग में रूढि का किञ्चित् संकेत देकर प्रयोजनवती लक्षरणा का ही सविस्तार वर्णन किया गया है जब कि **शब्दव्यापारविचार** में सर्वप्रथम प्रयोजनवती के भेदों का कथन हुआ है और उसके अनन्तर रूढा-लक्षरणा पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया गया है। उक्त प्रयोजनवती-लक्षरणा भी उपादानलक्षरणा तथा लक्षरणलक्षरणा भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। ये दो भेद शुद्धा-लक्षरणा के ही होते हैं, क्योंकि इनमें उपचार, अर्थात् सादृश्य का अभाव पाया जाता है। जहां सादृश्य, अर्थात् उपचार के कारण लक्षरणा होती है, वहां गौरणी-लक्षरणा कहलाती है।

उक्त दोनों प्रकारों की लक्षरणाओं (शुद्धा-गौरणी) के आरोप और अध्यवसान के कारण दो-दो भेद और होते हैं। ये दोनों भेद सादृश्य एवं सादृश्येतर—कार्यकारणभावादि सम्बन्धों के कारण होते हैं। इस प्रकार पूर्व-वर्णित उपादानलक्षरणा तथा लक्षरणलक्षरणा के दोनों भेदों को मिला देने से

---

1 जातिः क्रिया गुरणः संज्ञा वाच्योऽर्थ समितध्वनिः।
तद्बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षरणीयस्तदन्वितः ॥ 1 ॥
—शब्दव्यापारविचार, पृ. 1, 7

लक्षणा छः प्रकार की होती है। समाहार के रूप में दोनों ही स्थानों पर 'लक्षणा तेन षड्विधा' को स्वीकार किया गया है। काव्यप्रकाश में प्रयोजनवती-लक्षणा, व्यंग्य के गूढागूढ भेद के कारण द्वादशभाव को प्राप्त हो जाती है। रूढा को सम्मिलित करने पर जहां काव्यप्रकाश में लक्षणा के तेरह भेद करते हैं, वहां शब्दव्यापारविचार में प्रयोजनवती के छः तथा एक रूढा—इस प्रकार कुल सात भेद ही होते हैं। काव्यप्रकाश की तेरह भेदों वाली लक्षणा इस प्रकार बनती है—



काव्यप्रकाश की कारिकाओं के आधार पर लक्षणा का निम्न-प्रकार से भी विभाजन शक्य है—

- लक्षणा
  - निरूढा
  - प्रयोजनवती
    - शुद्धा
      - उपादान-लक्षणा
      - लक्षण-लक्षणा
    - सारोपा
      - शुद्धा
      - गौणी
    - साध्यवसाना
      - शुद्धा
      - गौणी

यहां पर उल्लेखनीय है कि ऊपर के दोनों वर्गीकरणों में से प्रथम वर्गीकरण को **प्रदीपकार-गोविन्दठक्कुर, दर्पणकार-विश्वनाथ, साहित्यसुधासिन्धु-कार-विश्वनाथदेव, आदर्शटीकाकार-महेश्वरन्यायालङ्कार, काव्यपरीक्षाकार-श्रीवत्सलांछनभट्टाचार्य, उद्योतकार-वैद्यनाथ** आदि ने स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा में सारोपा एवं साध्यवसाना के तत्त्व पाये जाते हैं, उसी प्रकार सारोपा तथा साध्यवसाना में उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा के भाव विद्यमान हैं, अतः इसी साङ्कर्य से बचने के लिए टीकाकारों ने लक्षणा का दूसरे प्रकार से विभाजन किया—लक्षणा दो प्रकार की है—शुद्धा एवं गौणी। प्रथम के दो भेद उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा, पुनः इन दोनों को तथा गौणी को भी सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से विभाजित कर प्रयोजनवती को षड्विधा विभाजित किया। इस विभाजन में साङ्कर्य-दोष का परिहार हो जाता है, जो **श्रीवत्सलांछनभट्टाचार्य**-कृत **काव्यपरीक्षा** में विवेचित किया गया है।[1] परन्तु **श्रीगजेन्द्रगडकर, मधुसूदन शास्त्री, श्रीनिवास शास्त्री** आदि आधुनिक विद्वान् प्रथम-विभाजन को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे इसमें साङ्कर्य-दोष भी मानते हैं।

---

1 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पञ्चम अध्याय, भट्टाचार्यकृत लक्षणाभेद-तालिका।

गोविन्दठक्कुर तथा **श्रीवत्सलांछनभट्टाचार्य** प्रभृति आचार्य सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण गौणी, सादृश्येतर-सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा मानते हुए, प्रयोजनवती-लक्षणा के प्रथमत: शुद्धा तथा गौणी ये दो भेद करते हैं। शुद्धा के भी उपादानलक्षणा व लक्षणलक्षणा दो भेद पुन: करते हैं। फिर उक्त दोनों भेदों के तथा गौणी के भी सारोपा व साध्यवसानारूपेण विभाजन करते हैं। आरोप्य एवं आरोपक को क्रमश: उन्होंने उपमेय एवं उपमान का ही पर्याय मान रखा है, जो सब जगह सङ्गत नहीं बैठता है। आरोप्य कहीं उपमान हो भी सकता है, किन्तु किन्हीं उदाहरणों में वह उपमान नहीं भी हो सकता है। 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्र, आरोप्य एवं उपमान दोनों है, किन्तु 'आयुर्घृतम्' इत्यादि सारोपा-शुद्धा के उदाहरण में आयु, आरोप्य तो है, किन्तु उपमान के रूप में वह यहां प्रसिद्ध नहीं है। उपमान तो सदा उपमेय से सादृश्य सम्बन्ध को रखने वाला होता है, किन्तु घी और आयु में सादृश्य-सम्बन्ध नहीं होता है। ये उक्त भेद संगत नहीं लगते।

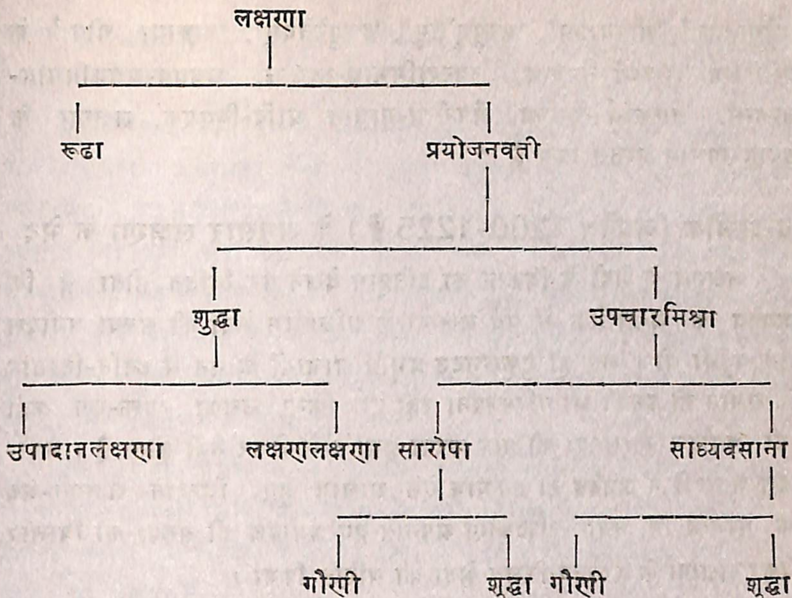
काव्यप्रकाश-संकेत (सोमेश्वर 12 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश के प्राचीनतम टीकाकार **सोमेश्वर** भी **मम्मट**-प्रोक्त 'लक्षणा तेन षड्विधा' के वर्गीकरण-प्रसंग में प्रथमत: लक्षणा के शुद्धा व उपचार-मिश्रा दो भेद करते हैं।[1] उपादान और लक्षणलक्षणा ये दो भेद केवल शुद्धा के ही उन्होंने स्वीकार किये हैं। **उपचार-मिश्रा** के भी **आरोप** और **अध्यवसान** के आधार पर **सारोपा** और **साध्यवसाना** दो भेद किए हैं। **गौणी** तथा **शुद्धा** इन दोनों के दोनों भेदों को मिलाने पर छ: भेद हो जाते हैं।[2] **सोमेश्वर** की **संकेतटीका** के अनुसार **मम्मट**-प्रोक्त लक्षणा के षड्भेद का वर्गीकरण निम्न-प्रकार से किया जा सकता है। इस वर्गीकरण को **अलंकार-महोदधि** के कर्ता **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने भी स्वीकार किया है।

---

1 सापि द्विधा—शुद्धत्वादुपचारमिश्रत्वाच्च।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. सोमेश्वरभट्ट), पृ. 17

2 एवमुपचारमिश्रा चतुर्धा। यदुक्तम्—
आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयो:।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वाद् उपचारश्चतुर्विध:॥
आद्यभेदाभ्यामित्युपादानलक्षणाभ्यां सारोपसाध्यवसानयोश्च गौणशुद्ध-भेदात् प्रत्येकं द्वैविध्यमिति संकलने षोढा॥ 12॥
—वही, पृ. 22



काव्यानुशासन (हेमचन्द्र 1088-1177 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

आचार्य-हेमचन्द्र ने **काव्यानुशासन** में चार प्रकार के शब्द तथा चार प्रकार के अर्थों को माना है।[1] उन्होंने न लक्षणा शब्द का प्रयोग किया, न ही अन्य आलङ्कारिकों की भांति उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना आदि भेदों को ही वर्णित किया। हेमचन्द्र ने गौण[2] तथा लक्ष्यार्थ[3] का लक्षण किया। कतिपय लक्षणा के भेद-विषयक उदाहरण यथा

---

1 मुख्य-गौण-लक्ष्य-व्यंग्यार्थभेदान्मुख्य-गौण-लक्षक व्यञ्जकाः शब्दाः ।
—काव्यानुशासन, पृ. 172

2 मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः ॥ 17 ॥
गौर्वाहीको…………गुणेभ्य आयातत्वाद्गौणः, तद्विषयः शब्दोऽपि गौणः, उपचरित इति चोच्यते ।
—वही, पृ. 182-183

3 मुख्यार्थसम्बद्धस्तत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः ॥ 18 ॥
मुख्योऽर्थो गंगादिशब्दानां स्रोतःप्रभृतिस्तेन सम्बद्धस्तटादिरर्थस्तत्त्वेनाभेदेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः ।
—वही, पृ. 190

'गौर्वाहीकः', 'गौरेवायम्', 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्', 'गङ्गायां घोषः' के अतिरिक्त तादर्थ्य-सम्बन्ध, स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध, अवयव-अवयविभाव-सम्बन्ध, तात्कर्म्य-सम्बन्ध, वैपरीत्य-सम्बन्ध आदि-विषयक, लक्षणा के उदाहरणमात्र प्रस्तुत किये हैं।[1]

चन्द्रालोक (जयदेव 1200-1225 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

लक्षणा के भेदों के विकास का इतिहास देखने पर विदित होता है कि **जयदेव** के **चन्द्रालोक** से पूर्व लक्षणा के अधिकतम भेदों की संख्या त्रयोदश तक पहुंची थी। भले ही **मुकुलभट्ट** प्रभृति आचार्यों के मन में ध्वनि-विस्तार के समान ही इसकी भी परिकल्पना रही हो, किन्तु उसका व्यक्त-रूप कहीं भी त्रयोदश की संख्या को पार करता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता है। त्रयोदश शताब्दी में **जयदेव** ही एकमात्र ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने लक्षणा-भेद के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण अपनाते हुए त्रयोदश की संख्या को विस्तार देकर लक्षणा के द्वाचत्वारिंशत् भेदों को वर्णित किया।

रूढि एवं प्रयोजन के आधार पर पहिले इन्होंने लक्षणा के निरूढा एवं प्रयोजनवती भेदद्वय किये। लक्ष्यार्थ-बोधक-शब्द की विद्यमानता में लक्ष्य-वाचकपदोपादान और उसकी असत्ता में लक्ष्यवाचकपदानुपादान ये दो भेद निरूढा एवं प्रयोजनवती दोनों प्रकार की लक्षणाओं के होते हैं। अन्य आचार्यों ने जिसे सारोपा एवं साध्यवसाना नाम से अभिहित किया है, उसी को **जयदेव** ने लक्ष्यवाचकपदामीलना, लक्ष्यकवाचकपदामीलना नाम से अभिहित किया है। उक्त चारों भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन—सिद्धलक्षणा, साध्यलक्षणा तथा साध्याङ्गलक्षणा नाम से और भेद किये हैं।[2]

यदि लक्षणा उद्देश्य-वाचक पद में होती है, तो उसे सिद्धलक्षणा नाम से तथा विधेयवाचक पद में लक्षणा होती है, तो उसे साध्यलक्षणा नाम से अभिहित करते हैं। यदि विधेय के सम्बन्ध-बोधक पद में लक्षणा हो तो उसे

---

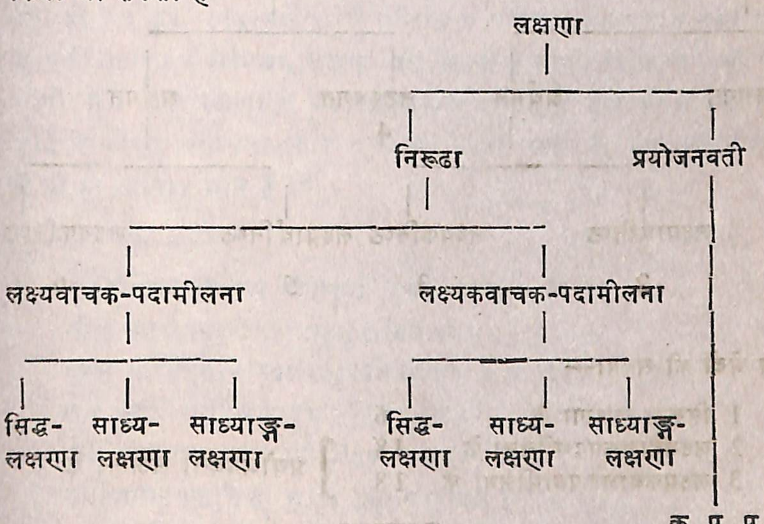
1 काव्यानुशासन, पृ. 187-188

2 मुख्यार्थस्याविवक्षायां पूर्वाऽवाची च रूढितः।
प्रयोजनाच्च सम्बद्धं वदन्ती लक्षणा मता ॥ 9. 1
लक्षणीयस्वशब्दस्य मीलनामीलनाद् द्विधा।
लक्षणा सा त्रिधा सिद्ध-साध्य-साध्याङ्गभेदतः ॥ 9. 2
—चन्द्रालोक, पृ. 266-270

साध्याङ्गलक्षणा कहा जाता है। इस प्रकार निरूढा-लक्षणा के छः भेद तथा प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद, कुल मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं।

प्रयोजनवती-लक्ष्यवाचक-पदामीलना के सिद्धलक्षणा, साध्यलक्षणा तथा साध्याङ्गलक्षणा नामक तीन भेद पूर्वोक्तानुसार ही होते हैं। प्रत्येक के स्फुटव्यंग्या, अस्फुटव्यंग्या ये दो भेद किए। इन दोनों के तटस्थगत तथा अर्थगत दो भेद होते हैं। तटस्थगत के कोई भेद नहीं होते हैं। स्फुट एवं अस्फुटव्यंग्या के अर्थगत भेद के भी लक्ष्यार्थनिष्ठ तथा लक्ष्यकनिष्ठ—इस प्रकार चार भेद होते हैं।[1] दोनों तटस्थगतों को मिलाने पर सिद्धलक्षणा के कुल छः भेद हुए। इसी प्रकार साध्यलक्षणा एवं साध्याङ्गलक्षणा को भी षड्धा विभाजित किया गया है।

इस प्रकार प्रयोजनवती-लक्ष्यवाचक-पदामीलना के अठारह भेद तथा लक्ष्यकवाचक-पदामीलना के अठारह भेद तथा निरूढा के छः भेद, कुल मिलाकर बयालीस भेद **जयदेव** ने वर्णित किए हैं। यह वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—



क्र. पृ. प.

---

1 स्फुटास्फुटप्रभेदेन प्रयोजनमपि द्विधा।
विदुः स्फुटं तटस्थत्वादर्थगत्वाद् द्विधा बुधाः॥ 9. 3
अस्फुटं चार्थनिष्ठत्वात्तटस्थत्वादपि द्विधा।
लक्ष्यलक्षकनिष्ठत्वादर्थसंस्थमपि द्विधा॥ 9. 4
—चन्द्रालोक, पृ. 271-273

लक्ष्यवाचक-पदामीलना

लक्ष्यकवाचक-पदामीलना

(लक्ष्यवाचक-पदामीलनावत् अठारह भेद इसके भी होते हैं ।)

सिद्धलक्षणा

साध्यलक्षणा

साध्याङ्गलक्षणा

सिद्धलक्षणावत् छः भेद इसके भी होते हैं ।

सिद्धलक्षणावत् छः भेद इसके भी होते हैं ।

स्फुटव्यंग्या

अस्फुटव्यंग्या

तटस्थगत 1

अर्थगत

तटस्थगत 4

अर्थगत

लक्ष्यार्थनिष्ठ 2

लक्ष्यकनिष्ठ 3

लक्ष्यार्थनिष्ठ 5

लक्ष्यकनिष्ठ 6

कुल भेदों की संख्या—

1 निरूढा लक्षणा के 6

2 लक्ष्यवाचकपदामीलना के 18] प्रयोजनवती लक्षणा के

3 लक्ष्यकवाचकपदामीलना के 18

लक्षणा के कुल भेदों की संख्या = 42

चन्द्रालोक में 'लक्षणा तेन षड्विधा' वाले वर्गीकरण का भी उल्लेख है । प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी और शुद्धा दो भेद किए गए हैं । उन दोनों के सारोपा, साध्यवसाना नामक दो भेद कर उपादान एवं अर्पण-लक्षणा (लक्षणलक्षणा) भेदद्वय और कर काव्यप्रकाशीय लक्षणा के षड्विधत्व

को प्रतिपादित किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त सहेतुकलक्षणा तथा हेतुविनिर्मुक्ता नामक लक्षणा का भी उल्लेख किया गया है। आधारभेद से भी शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक और लिङ्ग आदि का भी उल्लेख **जयदेव** ने किया है।[2]

जयदेव ने लक्षणा के भेद के विषय में वैय्याकरण, नैय्यायिक एवं मीमांसक आदि सम्प्रदायों की विचारधारा का आश्रय लेकर उसके विभाग के विषय में नूतन-दृष्टि का सहारा लिया है। साहित्यिक क्षेत्र में **मुकुलभट्ट** एवं **मम्मट** के पश्चात् **चन्द्रालोककार** ने प्राचीन आलंकारिकों में लक्षणा के सबसे अधिक प्रभेदों की चर्चा की।

काव्यकल्पलतावृत्ति (अमरचन्द्रयति 11-13 वीं शताब्दी) के अनुसार लक्षणा के भेद—

अमरचन्द्रयति ने उक्त ग्रन्थ में 'लक्षणा षड्भेदेति' कहकर परम्परागत षड्विधत्व का ही समर्थन किया है। इन्होंने भी लक्षणा के रूढि एवं प्रयोजनवती दो भेद कर, रूढि-लक्षणा में अभिधा व लक्षणा व्यापारद्वय तथा प्रयोजनवती लक्षणा में अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक व्यापारत्रय की सत्ता मानी है। रूढिलक्षणा में प्रयोजनरूपव्यङ्ग्याभाव में शब्द की व्यञ्जकता न होने के कारण व्यञ्जना-व्यापार का भी अभाव रहता है, अतः रूढि-लक्षणा में दो ही व्यापार माने हैं।[3]

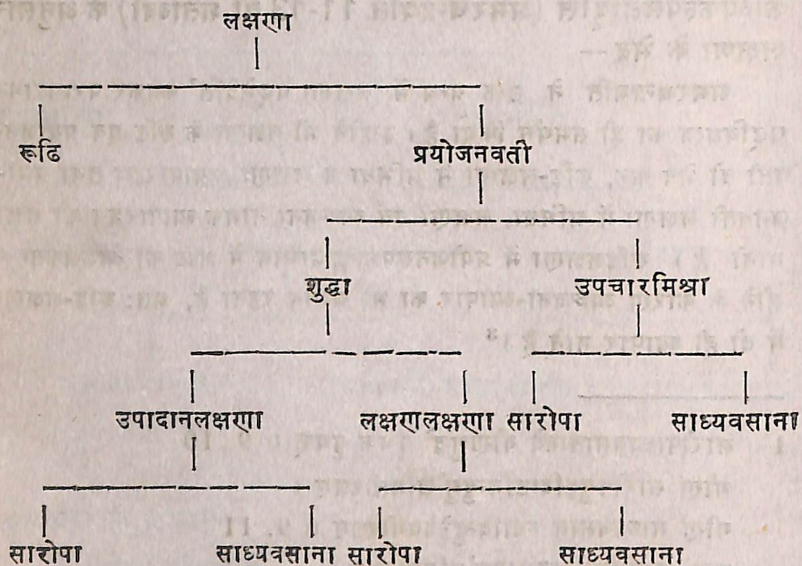
---

1 सारोपाध्यवसानाख्ये गौणशुद्धे पृथक् पृथक् ॥ 9. 10
गौणं सारोपमुद्दिष्टमिन्दुर्मुखमितीदृशम् ।
गौणं साध्यवसानं स्यादिन्दुरेवेदमीदृशम् ॥ 9. 11
शुद्धं सारोपमुद्दिष्टमायुर्घृतमितीदृशम् ।
शुद्धं साध्यवसानं स्यादायुरेवेदमीदृशम् ॥ 9. 12
उपादानार्पणद्वारे द्वे चान्ये इति षड्विधा ।
—चन्द्रालोक, पृ. 283-285

2 शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा ।
लिङ्गे चेयम्.................................. ॥ 9. 16
—वही, पृ. 289-290

3 रूढिलक्षणायां तु शब्दस्य वाचको, लाक्षणिकश्चेति नामद्वयम् । अभिधा, लक्षणेति व्यापारद्वयम् । प्रयोजनलक्षणायां तु शब्दस्य वाचको, लाक्षणिको, व्यञ्जकश्चेति नामत्रयम् । अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनं चेति व्यापारत्रयम् । रूढिलक्षणायान्तु व्यंग्यप्रयोजनाभावात् शब्दस्य न व्यञ्जकता न व्यञ्जनव्यापारः ।
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44

प्रयोजनवती लक्षणा के शुद्ध एवं उपचारमिश्रा दो भेद किए हैं। पुनः शुद्धा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो अवान्तर भेद किए हैं।[1] प्रयोजनवती शुद्धा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा ये भेद उपचार के मिश्रण से रहित होने के कारण शुद्ध माने गए हैं। शुद्धा एवं उपचारमिश्रा-लक्षणा, में आरोप और अध्यवसान के लिए सावकाश होने के कारण इन दोनों के सारोपा एवं साध्यवसाना अवान्तर ये दो भेद पुनः माने गये हैं[2], अतः उनके अनुसार लक्षणा का विभाजन-क्रम निम्न प्रकार से होगा। **गोविन्दठक्कुर, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य** तथा **भीमसेन** आदि ने अपनी कृतियों तथा टीकाओं में इस विभाजन को ही स्वीकार किया है।



---

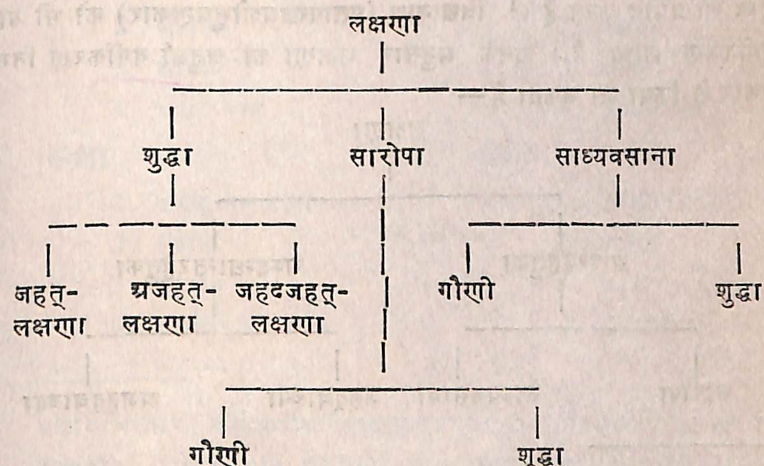
1 शुद्धोपचारमिश्राऽसौ द्विधा शुद्धाऽपि हि द्विधा।
उपादानलक्षणाऽऽद्या परा लक्षणलक्षणा ॥ 2. 4. 179
—वही, पृ. 44

2 सादृश्याद्गौणसारोपा गौणसाध्यवसानिका ॥ 2. 4. 180
गौर्वाहीको गौरेवायं सम्बन्धान्तरतः पुनः।
विज्ञेया शुद्धसारोपा शुद्धसाध्यवसानिका।
आयुर्घृतमायुरेवेदं षड्भेदेति लक्षणा ॥ 2. 4. 181
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44-45

एकावली (विद्याधर 1205-13025 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

विद्याधर ने उक्त कृति में अन्य आचार्यों के समान क्रमबद्ध, लक्षणा का विभाजन नहीं किया है, किन्तु रूढि तथा फललक्षणा, अर्थात् प्रयोजनवती—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, जहदजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना आदि लक्षणा के भेदों को ही सोदाहरण लक्षण-पुरस्सर वर्णित किया है।

मम्मट-स्वीकृत लक्षणा के छः भेदों को स्वीकार करते हुए उपादान-लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा को क्रमशः अजहल्लक्षणा, जहल्लक्षणा नाम से व्यवहृत किया है तथा वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत जहदजहल्लक्षणा नाम के एक अन्य भेद को माना है। तदनुसार उनके मत से लक्षणा के सात भेद हो जाते हैं। तीनों प्रकार के संकर तथा संसृष्टि की दृष्टि से भी लक्षणा का विभाजन करने से लक्षणा के अट्ठाईस संकीर्ण-भेद तथा सात शुद्ध-भेद मानते हुए लक्षणा के कुल पैंतीस भेद इन्होंने माने हैं।[1] इनके अनुसार लक्षणा का वर्गीकरण निम्न प्रकार से होगा। **साहित्यरत्नाकरकार-धर्मसूरि** को भी यही वर्गीकरण मान्य है।



---

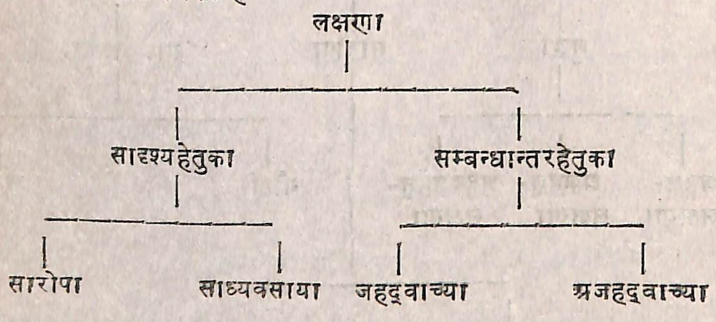
1 मुख्यार्थानुपपत्तौ तद्योगे रूढितोऽथवापि फलात् ॥ 2. 5
शब्दोऽर्पयति परार्थं यद्यात्मानं तदा जहत्स्वार्था।
आक्षेपः क्रियतेऽसावजहत्स्वार्था समाख्याता।
शब्दस्वार्थं यदि जहदजहत्स्वार्था समाख्याता ॥ 2. 8
विषयी विषयश्च यदा सरोपा स्यात्तदा द्विविधा। (गौणी शुद्धा चेति)
विषयि निगीर्णे विषये साध्यवसाना द्विधा ख्याता। (गौणी शुद्धा चेति)

जहत्स्वार्था के एक भेद विपरीत-लक्षणा को भी माना है। विपरीत-लक्षणा को व्याजस्तुति नामक अलङ्कार का बीज, जहत्स्वार्था को अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलंकार का बीज, अजहत्स्वार्था को समासोक्ति आदि अलङ्कारों का बीज माना है।

अलंकारचिन्तामणि (अजितसेन 1266 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

महाकवि-अजितसेन ने उक्त ग्रन्थ में लक्षणा का चतुर्धा विभाजन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने लक्षणा के गौणी एवं शुद्धा नामक भेदों के स्थान पर सादृश्यहेतुका तथा सम्बन्धान्तरहेतुका इस नामकरण के साथ दो भेद किए हैं।

सादृश्यहेतुका(गौणी)लक्षणा के ही सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद किए हैं। सम्बन्धान्तरहेतुका (शुद्धा) के जहद्‍वाच्या (लक्षणलक्षणा) तथा अजहद्‍वाच्या (उपादानलक्षणा) ये दो भेद करके लक्षणा के कुल चार भेद किए गए हैं। उनके अनुसार सम्बन्धान्तर-हेतुका के सारोपा एवं साध्यवसाना भेद नहीं होते हैं। ये साध्यवसाना के स्थान पर साध्यवसाया शब्द का प्रयोग करते हैं।[1] **विद्यानाथ (प्रतापरुद्रयशोभूषणकार)** को भी यही वर्गीकरण मान्य है। इनके अनुसार लक्षणा का चतुर्धा वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—



इत्यस्माभिर्भिदाः सप्त लक्षणायाः प्रदर्शिताः।
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥ 2. 10
अस्याः संकलनेऽन्योन्यमष्टाविंशतिरीरिताः।
पञ्चत्रिंशत् समाख्याताः शुद्धभेदैः समं पुनः ॥ 2. 11
—एकावली, पृ. 62-73

1 सा द्विधा सादृश्यहेतुका सम्बन्धान्तरहेतुका चेति। सम्बन्धान्तरहेतुका द्विधा जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति। सादृश्यहेतुका द्विधा, सारोपा, साध्यवसाया चेति। एवं लक्षणा चतुर्धा।
—अलङ्कारचिन्तामणि, पृ. 267

दीपिकाटीका (चण्डीदास 14 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार **चण्डीदास** ने **मम्मट**-प्रोक्त 'लक्षणा तेन षड्विधा' का अर्थ करते हुए कहा—रूढि, प्रयोजन, उपादान, लक्षण, आरोप, अध्यवसानरूप छः उपाधियों से कल्पना करने योग्य हैं, अनेक भेदक जिसके ऐसी षड्विधा लक्षणा है , **मम्मट** के कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं लेना चाहिए कि लक्षणा के केवल छः भेद होते हैं, क्योंकि लक्षणा के और भी बहुत से भेद प्रतिपादित किए जा सकते हैं ।[1] **चण्डीदास** के मत में **मम्मट** के अनुसार लक्षणा के अधोलिखित सोलह भेद होते हैं ।[2]

लक्षणा

- रूढा
  1. शुद्धा
     1. उपादानलक्षणा
     2. लक्षण
     3. आरोप
     4. अध्यवसान
  2. गौणी
     1. उपादानलक्षणा
     2. लक्षण
     3. आरोप
     4. अध्यवसान
- प्रयोजनवती
  1. शुद्धा
     1. उपादानलक्षणा
     2. लक्षण
     3. आरोप
     4. अध्यवसान
  2. गौणी
     1. उपादानलक्षणा
     2. लक्षण
     3. आरोप
     4. अध्यवसान

---

1 षड्भिरुपाधिभी रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणाऽऽरोपाध्यवसानैर्विधाः प्रकाराः कल्पनीया अस्या इति षड्विधा, न तु षट्प्रकाराः प्रकारान्तरसम्भवस्य प्रतिपादितत्वात् ।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 53

अन्यच्च

षड्विधेति—रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणारोपाध्यवसानैः षड्भिरुपाधिभिर्द्विधाउक्ता । षोडशप्रकारा यस्याः सा षड्विधा, न तु षट्प्रकारा ।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 24

2 चण्डीदासस्तु 'षड्विधां'……इति पूर्वं व्याख्याय, अत्र चेत्थं प्रकार-

प्रतापरुद्रीय (विद्यानाथ 1295–1325 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

विद्यानाथ ने उक्त ग्रन्थ में **अलङ्कारचिन्तामणिकार** के अनुसार ही लक्षणा के चार भेद किए हैं। प्रतीत होता है कि ये **अजितसेन** से प्रभावित हैं। **अजितसेन** के सादृश्यहेतुका तथा सम्बन्धान्तरहेतुका पदों के स्थान पर ये सादृश्य-निबन्धना तथा सम्बन्धान्तर-निबन्धना पद व्यवहृत करते हैं। **विद्यानाथ** ने भी प्रथम को सारोपा एवं साध्यवसाया के द्वारा तथा द्वितीय को जहद्वाच्या एवं अजहद्वाच्या के रूप में द्विधा विभाजित किया है।[1]

विद्यानाथ ने लक्षणा के चार भेदों का वर्णन संक्षेप में किया है, किन्तु **कुमारस्वामी** ने **रत्नार्पण** नामक टीका के माध्यम से लक्षणा को सोदाहरण तथा विस्तार-रूप से वर्णित किया है, इन्होंने **काव्यप्रकाश**-प्रोक्त लक्षणा के षड्विधत्व का खण्डन करते हुए लक्षणा के चातुर्विध्य का समर्थन किया है, क्योंकि इनके अनुसार मुख्यार्थ के हान एवं उपादान तथा आरोप एवं अध्यवसाय-रूप लक्षणोपाधि के कारण लक्षणा का चातुर्विध्य ही बन पाता है तथा 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादि स्थल में भी गौणत्व के लिए अवकाश रहता है।[2]

कल्पना—लक्षणा प्रथमं द्विधा—निरूढा, प्रयोजनवती चेति। तत्र निरूढोपादानलक्षणाभ्यां द्विधा। सापि प्रत्येकं सारोपा साध्यवसानाभ्यां चतुर्धा भूत्वा गौणशुद्धभावादष्टधा। प्रयोजनवती तूक्तभेदवती व्यंग्यद्वैविध्येन षोडषधा ...... व्याचकार।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 80-81

1 अत एव सादृश्यनिबन्धना चेति द्विविधा लक्षणा। सम्बन्धनिबन्धना—जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति द्विविधा। एवं लक्षणा चतुर्विधा।
—प्रतापरुद्रीय, पृ. 46

2 अत्र सादृश्यशब्देन आरोपाध्यवसायहेतवोऽन्येपि कार्यकारणभावादयः सम्बन्धा उपलक्ष्यन्ते। सम्बन्धशब्देन तद्व्यतिरिक्ता गोवलीवर्दन्यायेनोच्यन्ते। द्वयोरपि प्रत्येकं द्वैविध्यमाह। सम्बन्धेत्यादि। अत्र यद्यपि सारोपाध्यवसाययोः सादृश्यनिमित्तत्वे गौणीत्व 'गौर्वाहीकः', 'गौरयम्' इत्यादौ कार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरनिमित्तत्वे तु शुद्धत्वमायुर्घृतमायुरेवेदमित्यादौ एवं चातुर्विध्ये जहदजहल्लक्षणाभ्यां सह षोढा लक्षणेति काव्यप्रकाशकारस्तथापि मुख्यार्थस्य हानोपादानारोपाध्यवसायलक्षणोपाधिवशाच्चातुर्विध्यमेव लक्षणायाः। 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादावपि गौणत्वस्यैव सुकल्पत्वाच्च।
—वही, पृ. 46

प्रतापरुद्रीय के अनुसार लक्षणा का चतुर्धा वर्गीकरण निम्न प्रकार से होगा—

- लक्षणा
  - सादृश्यनिबन्धना
    - सारोपा
    - साध्यवसाया(ना)
  - सम्बन्धान्तरनिबन्धना
    - जहद्वाच्या
    - अजहद्वाच्या

भावप्रकाशन (शारदातनय 13 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

शारदातनय ने उक्त ग्रन्थ में सर्वप्रथम लक्षणा के रूढि तथा प्रयोजनवती दो भेद कर प्रयोजनवती के भी गौणी एवं शुद्धा दो भेद किए हैं, यद्यपि वहां गौणी का नामत: उल्लेख नहीं है। शुद्धा के उपादानलक्षणा व लक्षणलक्षणा ये दो भेद प्रदर्शित कर इन दोनों के जब सारोपा एवं साध्यवसाना भेद किए गए हैं, उसी समय से दो भेद, अर्थात् सारोपा तथा साध्यवसाना भेद गौणी के भी होते हैं, यह कहा गया है, अत: प्रयोजनवती के प्रारम्भिक भेद गौणी एवं शुद्धा के दो भेद इन्हें भी मान्य हैं।

इस प्रकार मम्मट-समर्थित प्रयोजनवती के षड्विधत्व का इन्होंने भी समर्थन किया है।[1] रूढा-लक्षणा में व्यङ्ग्याभाव होने के कारण उसे

---

1 रूढितो लक्षयत्येव शब्द: कर्मणि कौशलम् ॥ 6. 193
प्रयोजनादमुख्योऽर्थो मुख्येनार्थेन लक्ष्यते।
शुद्धेयं लक्षणा सैव भवेदर्थवशाद्द्विधा। (6. 195)
उपादानाभिधा काचिदन्या लक्षणलक्षणा। (6. 196)
सारोपाऽन्या विषयिणाऽऽरोप्यमाणेन कुत्रचित्।
एषा साध्यवसानात्मा लक्षणेति विभाव्यते। (6. 202)
इमौ भेदौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतोऽपि च।
गौणी-शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणाभेदवेदिभि: ॥ 6. 203
स(अ)तक्षाऽतक्षदित्यत्र तात्कर्म्यात्क्वापि लक्षणा।
एवं षोढा समुद्दिष्टा लक्षणा लक्ष्यवेदिभि: ॥ 6. 213
—भावप्रकाशन, पृ. 163-166

अव्यङ्ग्या-लक्षणा की कोटि में मानते हुए अन्य प्रयोजनवती-लक्षणा में व्यङ्ग्य के गूढ एवं अगूढ-व्यङ्ग्य होने के कारण लक्षणा के सभी भेदों को अव्यङ्ग्या तथा अगूढव्यङ्ग्या एवं गूढव्यङ्ग्या इन तीन भागों में विभाजित करते हुए इन भेदों की अधिकतम संख्या **मम्मट** के समान ही त्रयोदश हो जाती है[1], अतः इनके द्वारा प्रदत्त लक्षणा का विभाजन पूर्णतः **मम्मट** से सादृश्य रखता है।[2]

अलंकारमहोदधि (नरेन्द्रप्रभसूरि 13 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

जैसा कि पहले **सोमेश्वरभट्ट** के लक्षणा वर्गीकरण में कहा जा चुका है,[3] **अलङ्कारमहोदधि** के कर्ता **नरेन्द्रप्रभसूरि** भी **माणिक्यचन्द्र** के वर्गीकरण को ही अपनाते हैं[4], अतः यहां उसके विश्लेषण तथा सारणि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

साहित्यदर्पण (विश्वनाथ 1300-1380 ई) के अनुसार लक्षणा के भेद

साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के अस्सी भेद स्वीकार किए हैं। सर्वप्रथम उन्होंने लक्षणा के दो भेद किए हैं--रूढा और प्रयोजनवती। प्रथम रूढा, शुद्धा एवं गौणी भेद से दो प्रकार की है। उपादान, लक्षण भेद से भी वे दो प्रकार की हुईं। वे भी सारोपा, साध्यवसाना भेद से आठ प्रकार की रूढा तथा इसी प्रकार आठ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा हुईं। प्रयोजनवती, व्यङ्ग्य के गूढ एवं अगूढ भेद से दो प्रकार की होती है, अतः उसके सोलह भेद हो गए। फिर धर्मगत एवं धर्मिगत भेद से प्रत्येक के बत्तीस भेद हो गए। रूढि के आठ भेद मिलकर चालीस भेद हो गए। दोनों रूढि एवं प्रयोजनवती-लक्षणा पदगत एवं वाक्यगत भेद से अस्सी प्रकार की हो जाती हैं।[5]

---

1 लक्षणा तादृशी गूढव्यंग्याव्यंग्यार्थयोगतः।
पश्चादगूढव्यंग्येति त्रेधा व्यंग्यप्रतीतितः॥ 6. 219
—भावप्रकाशन, पृ. 167

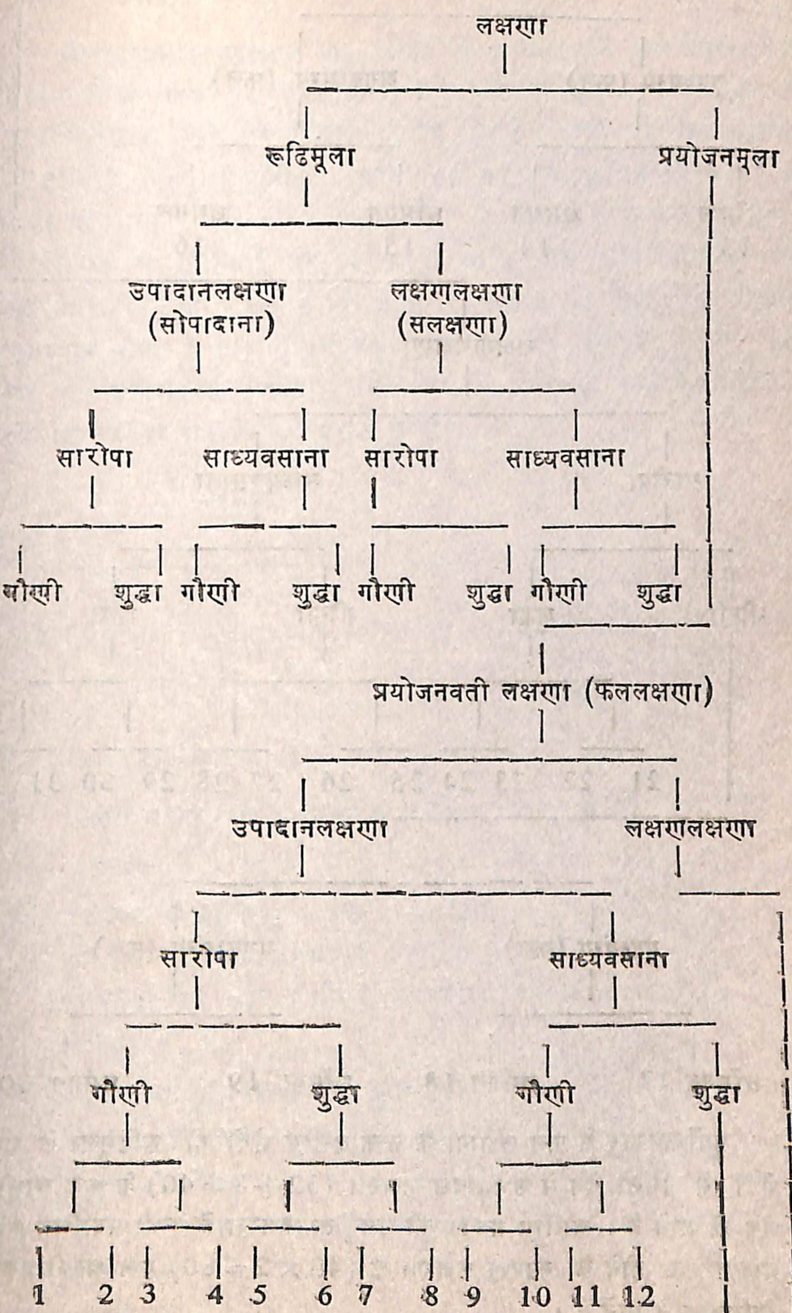
2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 168-169

3 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 170-171

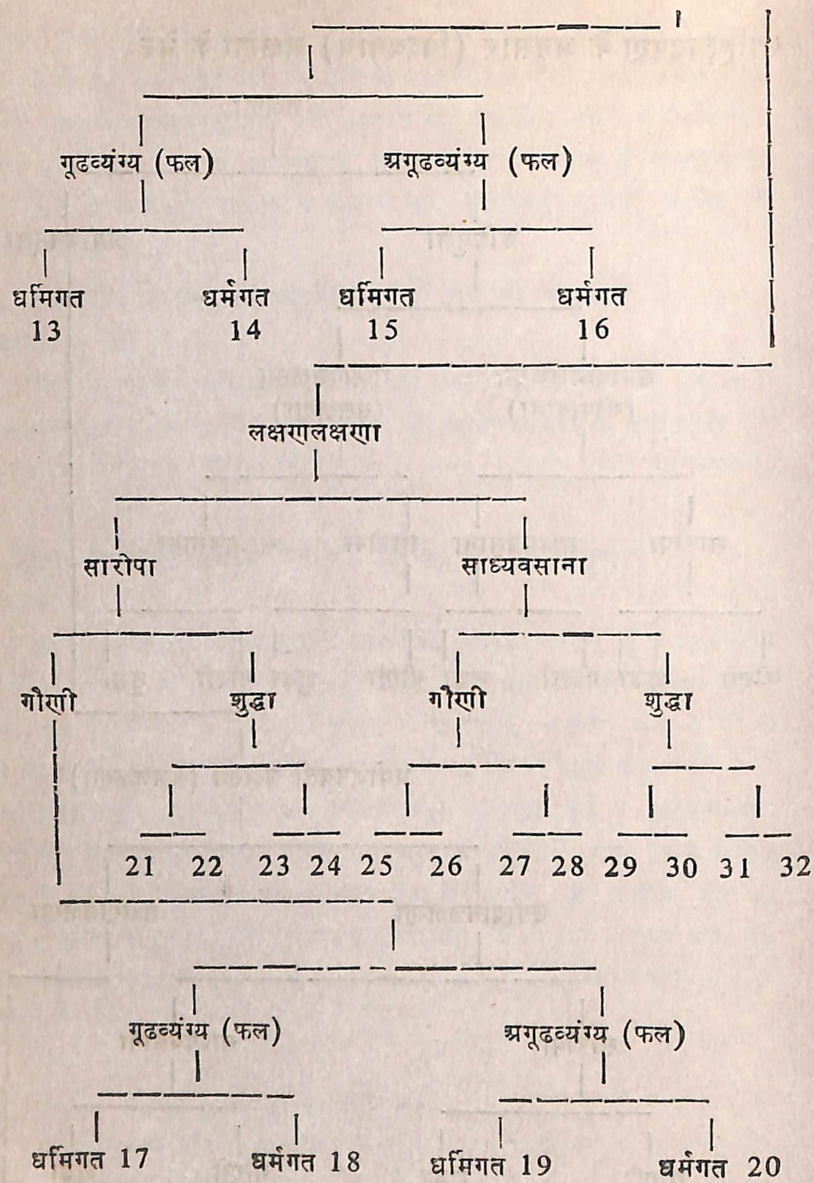
4 एवं च द्विविधा गौणी चतुर्विधा च शुद्धेति षट्प्रकारोपचारविचित्रता।
—अलंकारमहोदधि, पृ. 36

5 साहित्यदर्पण, पृ. 95-120

साहित्यदर्पण के अनुसार (विश्वनाथ) लक्षणा के भेद



कृ. पृ. प.



पूर्वोक्तप्रकार से फल-लक्षणा के उक्त बत्तीस भेदों को रूढिमूला के आठ भेदों से मिला देने से उभयविध लक्षणा ($32+8=40$) के कुल चालीस भेद हो जाते हैं। चालीस प्रकार की उपर्युक्त लक्षणा के कभी पदाश्रित कभी वाक्याश्रित होने के कारण लक्षणा के ($40 \times 2=80$) कुल अस्सी प्रकार विश्वनाथ ने माने हैं।

काव्यपरीक्षा (श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य 1323-1380 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने लक्षणा के प्रथमतः रूढि तथा प्रयोजनवती नामक दो भेद किए हैं।[1] प्रयोजनवती के अन्तर्गत भी शुद्धा-नामक लक्षणा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं। उक्त दो भेद शुद्धा के ही होते हैं, गौणी के नहीं।[2] यद्यपि गौणी का उल्लेख, विभाजन के रूप में कहीं भी शब्दतः दृष्टिगोचर नहीं होता है, तथापि 'सारोपाऽन्या' तथा 'गौणीशुद्धौ च विज्ञेयौ' इस कथन के आधार पर 'अन्या' से गौणी का अध्याहार किया जा सकता है।[3] दोनों ही प्रकार की लक्षणाएं, अर्थात् शुद्धा एवं गौणी के सारोपा एवं साध्यवसाना इन दोनों भेदों के कारण यहां पर भी प्रयोजनवती-लक्षणा, षड्विधत्व को प्राप्त हो जाती है।[4] इसका विभाजन-प्रकार अधोलिखित प्रकार से होगा—

लक्षणा

रूढि | प्रयोजनवती

(प्रयोजनवती) क्र. पृ. प.

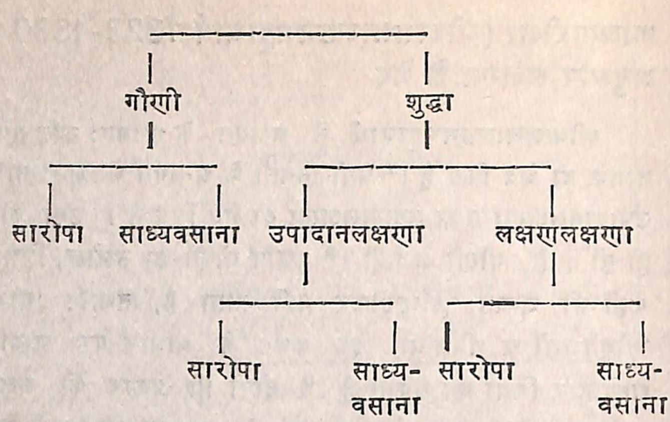
---

1 लक्षणा शक्यसम्बन्धो रूढितोऽथ प्रयोजनात् ॥ 1. 4
—काव्यपरीक्षा, पृ. 3

2 उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।
एते एवाजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थे प्रकीर्तिते ॥ 1. 5
उभयरूपा चेयं शुद्धा न गौणी, उपचारेणामिश्रितत्वात्।
—वही, पृ. 3

3 सारोपान्या तु यत्रोक्तावनपह्नुतभेदकौ।
विषयन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ 1. 7
—वही, पृ. 3-4

4 भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणी शुद्धौ च विज्ञेयौ........................॥ 1. 8
—वही, पृ. 4



उक्त सारणी में उल्लिखित, भेद-वर्गीकरण को **अमरचन्द्रयति, गोविन्दठक्कुर, भीमसेन** प्रभृति आलङ्कारिक भी स्वीकार करते हैं।

साहित्यचूड़ामणि (गोपालभट्ट 1360 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश की उक्त टीका में भी लक्षणा के षड्भेद के वर्गीकरण के विषय में कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती है। इस टीका के अनुसार लक्षणा के भेदों का वर्गीकरण **काव्यप्रकाश** के प्रसङ्ग में दी गई प्रथम-सारणी के अनुसार ही होता है।[1] **श्रीविद्याचक्रवर्ती** (1390 ई.)-कृत **सम्प्रदायप्रकाशिनीटीका** में भी **साहित्यचूड़ामणिकार** के अनुसार ही लक्षणा के भेदों का विभाजन किया गया है। ये दोनों टीकाएं सम्मिलितरूप से एक ही पुस्तक में छपी हैं।

प्रदीपटीका (गोविन्दठक्कुर 1490 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

लब्धप्रतिष्ठ, **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **श्रीगोविन्दठक्कुर** ने लक्षणा का

---

1 लक्षणा तेन षड्विधा। ननु सारोपा साध्यवसानेति द्वे गौण्यौ द्वे च शुद्धे इति ताश्चतस्रः, तत्कथं वा षाड्विध्यमित्यत्राह—आद्ये ति। प्रागुक्तौ भेदावुपादानलक्षणलक्षणौ ताभ्यां सहेति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 62

अन्यच्च

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. श्रीविद्याचक्रवर्ती), पृ. 62

अन्यच्च

—देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 168-169

षड्विधत्व काव्यकल्पलतावृत्तिकार-अमरचन्द्रयति के अनुसार ही स्वीकार किया है।[1]

अलङ्कारकौस्तुभ (कविकर्णपूर 1524 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

कविकर्णपूर ने रूढि तथा प्रयोजनवती भेद से लक्षणा को दो प्रकार की माना है। प्रयोजनवती का षड्विधत्व मम्मट के प्रथम वर्गीकरण के अधिक निकट है। इन्होंने लक्षणा को गूढव्यङ्ग्य, गतव्यङ्ग्य तथा व्यक्तव्यङ्ग्य भेद से त्रिधा विभाजित किया है।[2]

रसप्रदीप (प्रभाकरभट्ट 16 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

प्रभाकरभट्ट ने रसप्रदीप के तृतीय आलोक में व्यञ्जना-निरूपण के

---

1 लक्षणा तावद्द्विविधा—शुद्धा, गौणी च । तत्राद्या द्विविधा—उपादान-लक्षणा लक्षणलक्षणा च । ते अपि प्रत्येकं सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधे इति शुद्धाभेदाश्चत्वार: । गौणी तु द्वेधा—सारोपा साध्यवसाना च । इति षड्विधत्वं लक्षणाया: कारिकात्रयेण प्रतिपादयति—''''एता-भ्यामुपाधिभ्यां शुद्धैव द्विविधोक्ता, न गौण्यपीत्यर्थ: ।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 28
अन्यच्च
—देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 175

2 ....लक्षणा पुन: ।
मुख्यार्थबाधे शक्यस्य सम्बन्धे यान्यधीर्भवेत् ॥ 2. 19
रूढ्या प्रयोजनेनापि सा द्विधा भिद्यतेऽथ सा ॥ 2. 21
सारोपा सारोप्यमाण आरोपविषयोऽपि च ।
यत्र व्यक्तौ, आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति ॥ 2. 22
भवेत् साध्यवसाना सा, भिदे द्वे द्विविधे इमे ।
गौण्यौ शुद्धे च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतोऽपि च ॥ 2. 24
सादृश्यहेतुका तूक्ता सम्बन्धान्तरहेतुका ॥ 2. 25
पराक्षेप: स्वसिद्ध्यर्थं परस्मिन् स्वसमर्पणम् ।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादानलक्षणे ॥ 2. 26
पूर्वैश्चतुर्भिर्भेदै: सा द्वाभ्यामाभाञ्च षड्विधा ॥ 2. 27
गूढव्यंग्या गतव्यंग्या व्यक्तव्यंग्येति सा त्रिधा ॥ 2. 28
—अलंकारकौस्तुभ, पृ. 39-47

सन्दर्भ में लक्षणा के भेदों को वर्णित किया है, किन्तु उनके अनुसार लक्षणा के दो ही भेद—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक होते हैं। इन्होंने लक्षणा के भेदों को अन्य आचार्यों के समान वर्णित न कर ध्वनि के प्रकरण में, अर्थात् लक्षणामूलाध्वनि के अविवक्षित-वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य दो भेदों में से अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के जो अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद हैं, को लक्षणा से जोड़ते हुए, स्वयं लक्षणा को ही दो भेदों वाली उपवर्णित कर दिया है।[1]

लक्षणा

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्या | अत्यन्ततिरस्कृतवाच्या

साहित्यसुधासिन्धु (विश्वनाथदेव 17 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

आचार्यविश्वनाथदेव ने अव्यङ्ग्या-रूढिमूला-लक्षणा का एक ही प्रकार माना है। सव्यङ्ग्या-प्रयोजनवती-लक्षणा के छः भेद माने हैं। यद्यपि इन्होंने **मम्मट** की भांति चार प्रकार की शुद्धा-लक्षणा और दो प्रकार की गौणी-लक्षणा वर्णित की है,[2] किन्तु यह विभाजन इन्हें आगे जाकर स्वीकार्य नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि वहां अष्टविधा प्रयोजनवती लक्षणा के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ में जो उन्होंने लक्षणा का विभाजन किया, वह निम्न प्रकार से है—

सव्यंग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा

अव्यंग्या (रूढिमूला) लक्षणा | सव्यंग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा

क्र. पृ. प.

1 अत्रोच्यते—लक्षणा तावद्द्विविधा, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्या अत्यन्ततिरस्कृतवाच्या च।

—रसप्रदीप, गवर्नमेण्टप्रेस, इलाहाबाद, 1925 ई., पृ. 44

2 सव्यंग्या च षोढा—एका उपादानलक्षणा, अपरा लक्षितलक्षणा, एषा शुद्धैव। इयमेवाजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थेति कथ्यते। सारोपा शुद्धा गौणी च। साध्यवसाना शुद्धा गौणी चेति।

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 41

1 उपादानलक्षणा (केवलशुद्धा)	2 लक्षितलक्षणा (केवलशुद्धा)	3 सारोपा		4 साध्यवसाना	
		3 शुद्धा	4 गौणी	5 शुद्धा	6 गौणी

यह भी उल्लेखनीय है कि **विश्वनाथदेव**-कृत उक्त वर्गीकरण सोदाहरण वर्णनकाल में निम्न प्रकार से परिवर्तित हो जाता है ।[1] यथा—

सव्यंग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा

शुद्धा-उपादान-लक्षणा	शुद्धा-लक्षित-लक्षणा	शुद्धा-सारोपा	गौणी-सारोपा	शुद्धा-साध्यवसाना	गौणी साध्यवसाना
1	2	3	4	5	6
(काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्)	(अपि दिवस-मनैषी:०)	(भास्वद्-वंश०)	(किं पद्म-स्य०)	(विपुलं नितम्बदेशे०)	(जाता लता०)

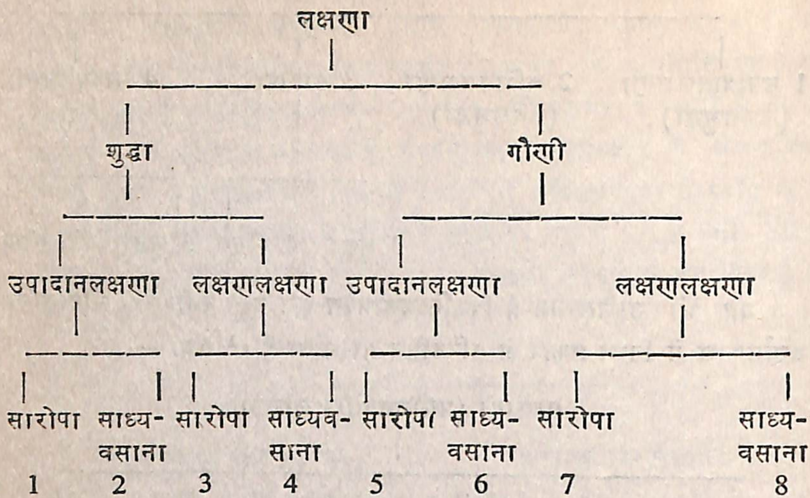
इस प्रकार **विश्वनाथदेव** ने लक्षणा के भेदों का वर्णन कर अष्टविधा-लक्षणा के समर्थक आचार्यों के मतों की भी उपस्थापना की है । ये आचार्य 'लक्षणा तेन अष्टविधा' के समर्थक दृष्टिगोचर होते हैं । इन आचार्यों का अभिमत यह है कि, जैसे शुद्धा के उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा ये दो भेद होते हैं, वैसे ही गौणी के भी उक्त भेद हो सकते हैं, क्योंकि सदृश-गुणों के योग से 'गाव एते समानीयन्ताम्' (इन मूर्ख पुरुषों को लाया जाय) तथा 'गाव: समानीयन्ताम्' जैसे प्रयोगों के कारण लक्षणा के आठ भेद भी हो सकते हैं । उक्त मत के समर्थक आचार्यों के अनुसार लक्षणा के निम्न-प्रकार से आठ भेद होंगे ।[2]

---

1 साहित्यसुधासिन्धु, (संपा. डॉ. रामप्रताप), पृ. 49 पर टिप्पण के रूप में उद्धृत ।

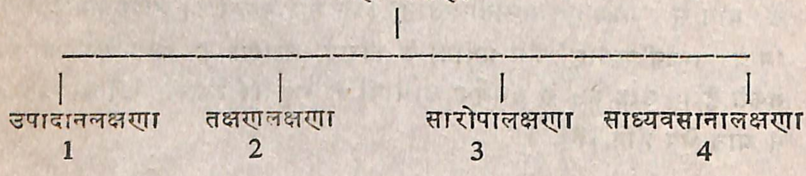
2 अत्र केचित्—षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामप्युपादानादिसम्भवात् । तादृशगुणयोगेन गाव एते समानीयन्तां, गाव: समानीयन्तामित्युदाहरण-सम्भवादष्टविधात्वमिति वदन्ति ।

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 49-50



कतिपय **विश्वनाथदेव** प्रभृति आचार्यों का मत है कि लक्षणा चार प्रकार की ही मानी जानी चाहिए, क्योंकि शुद्धा के भेदों में भी गौणीत्व पाया जाता है, अतः शुद्धा के भेद गौणी में समाविष्ट हो सकते हैं। उदाहरणतः 'आयुर्घृतम्' तथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में भी गौणी-लक्षणा की तरह ही आयुवर्धकत्वगुण तथा शैत्यपावनत्वादि गुणों के साथ सम्बन्ध होने के कारण तत्तत् अर्थों की प्रतीति होती है।[1]

इस प्रकार नवीनों के अनुसार यदि शुद्धा का गौणी में ही अन्तर्भाव कर दिया जाय तो, लक्षणा निम्न-प्रकार से चार प्रकार की ही होगी।[2]



---

1 वस्तुतस्तु चतुर्भेदैव लक्षणा। तथाहि शुद्धभेदेष्वपि गौणीत्वस्यैवाङ्गीकारात्। आयुर्घृतमिति गङ्गायां घोष इत्यादि च तादृशशैत्यपावनत्वादिगुणयोगादेवापरार्थबोधकत्वमिति नव्याः।
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 50

2 वही, पृ. 50

रसगंगाधर (पण्डितराज-जगन्नाथ 1620-1665 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

पण्डितराज ने भी सर्वप्रथम लक्षणा के निरूढा-लक्षणा और प्रयोजनवती-लक्षणा दो प्रकार स्वीकार किए हैं। उपर्युक्त निरूढा और प्रयोजनवती-लक्षणा में से प्रयोजनवती के दो प्रकार गौणी तथा शुद्धा नाम से अभिहित किया है। आगे फिर गौणी के दो भेद सारोपा, साध्यवसाना तथा शुद्धा के चार भेद—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना हो जाते हैं। इस प्रकार **रसगङ्गाधरकार** ने लक्षणा के सात भेद स्वीकार किए हैं। यदि निरूढा के भी गौणी और शुद्धा दो भेद स्वीकार किए जायें, तो लक्षणा के आठ भेद माने जा सकते हैं, किन्तु **पण्डितराज** द्वारा व्यवहृत 'आमनन्ति' पद से यह सिद्ध है कि, इस प्रकार के आठ भेद इन्हें अभिमत नहीं हैं।[1] **गजेन्द्रगडकर** ने भी **पण्डितराज** द्वारा मान्य सात भेदों का ही उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार से है।

- लक्षणा
  - निरूढा
  - प्रयोजनवती
    - गौणी
      - सारोपा
      - साध्यवसाना
    - शुद्धा
      - जहत्स्वार्था (उपादान-लक्षणा)
      - अजहत्स्वार्था (लक्षण-लक्षणा)
      - सारोपा
      - साध्यवसाना

डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक में

---

1 इयं तावद्द्विविधा, निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा, गौणी शुद्धा च। तत्राद्या सारोपा, साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा——जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते।……निरूढायामपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ति।

—रसगङ्गाधर, पृ. 152, 154

रूढा-लक्षणा के शुद्धा एवं गौणी दो भेद करते हुए लक्षणा के कुल आठ भेद **पण्डितराज** के मत के अनुसार स्वीकार किए हैं,[1] किन्तु **गजेन्द्रगडकर** तथा **डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी** निरूढा के भेद करने के पक्षपाती नहीं हैं[2] और यही **पण्डितराज** का अभिमत प्रतीत होता है। **पण्डितराज** द्वारा किया गया यह लक्षणा-विभाजन **मम्मट**-प्रोक्त विभाजन से सादृश्य रखता है, केवल दो स्थलों पर उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा का नाम परिवर्तित कर दिया गया है।

वृत्तिदीपिका (मौनिश्रीकृष्णभट्ट 1628 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने **वृत्तिदीपिका** में लक्षणा के भेदों के वर्णन करने के उपक्रम में रूढा को लक्षणा के भेद के रूप में स्वीकार न करके केवल प्रयोजनवती लक्षणा को ही सभेद स्वीकार किया है। सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यों के समान ही प्रयोजनवती के गौणी तथा शुद्धा दो भेद किए हैं। उक्त दो भेदों के ही जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था भेद से प्रयोजनवती के चार भेद माने जाते हैं।[3] साथ ही लक्षितलक्षणा नामक भेद को भी लक्षणा के भेद के रूप में स्वीकार किया है।[4] इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के पांच भेद स्वीकार किये हैं। गौणी अजहत्स्वार्था के विषय में आचार्यों के आपसी मतभेद को भी वर्णित किया है।[5] वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत जहदजहल्लक्षणा को इन्होंने जहत्स्वार्था में ही अन्तर्भूत किया है।[6]

---

1 गुप्त, प्रेमस्वरूप, रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 287

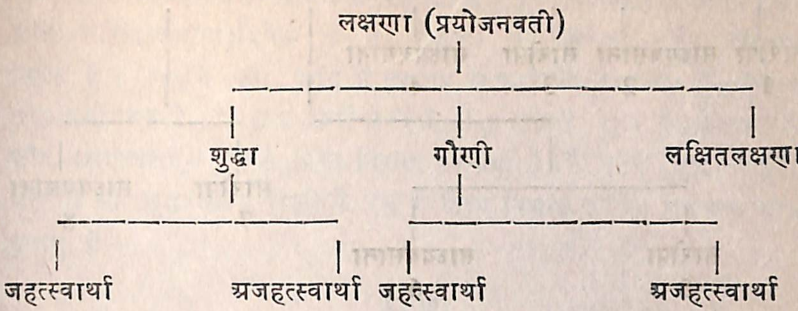
2 त्रिपाठी, राममूर्ति, लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. 259

3 सा द्विधा गौणी शुद्धा च। ते च प्रत्येकं जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थेति भेदाद् द्विविधे।
—वृत्तिदीपिका, पृ. 10

4 एवं लक्षितलक्षणाऽप्येको भेदः।
—वही, पृ. 11

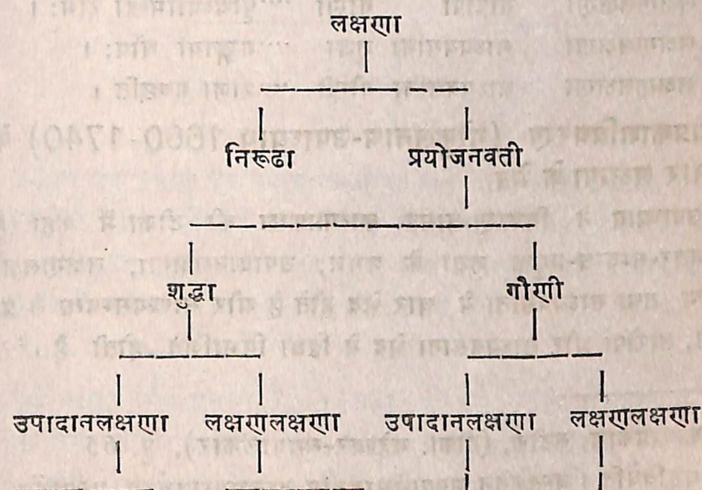
5 गौणी अजहत्स्वार्था तु नास्त्येव। सादृश्यसम्बन्धेन लक्षणायां मुख्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनाऽनन्वयात्।
—वही, पृ. 10

6 वेदान्तिनस्तु 'तत्त्वमसी' त्यादौ……जहदजहल्लक्षणाख्योऽपि भेद इत्याहुः। तन्न। जहत्स्वार्थापदेनैव संग्रहात्।
—वही, पृ. 11-12



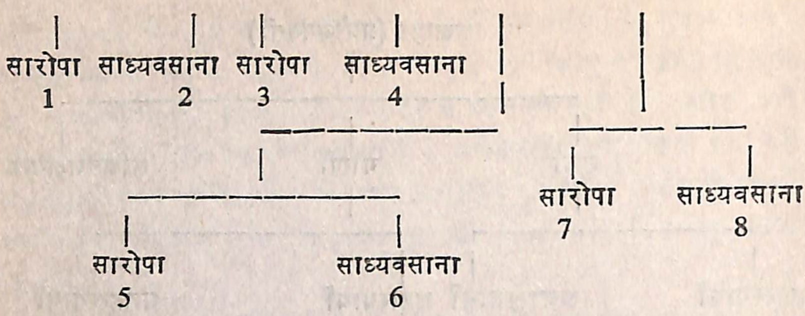
आदर्शटीका (महेश्वरन्यायालङ्कार 1640 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश की आदर्शटीका में महेश्वरन्यायालङ्कार ने लक्षणा के भेदों को सोदाहरण विवेचित किया है, किन्तु इस आदर्श-टीका के संशोधक **श्रीअमरेन्द्रमोहन-तर्कतीर्थ** की मान्यता है कि लक्षणा के आठ भेद संभव हो सकते हैं, जिनकी सारणी और उदाहरण निम्न प्रकार से होते हैं ।[1]



क्र. पृ. प.

1 सारोपादीनामुपादानत्वादिकृतविभागादरे तु अष्टौ भेदा लक्षणाया भवन्ति । तासां नामान्युदाहरणानि च ।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालंकार, संशोधक—अमरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ), पृ. 64



तर्कतीर्थ के अनुसार सोदाहरण लक्षणा के भेदों का वर्गीकरण[1]—

1.	उपादानलक्षणा	सारोपा	शुद्धा	···· छत्रिणः पुरुषा गच्छन्ति ।
2.	उपादानलक्षणा	सारोपा	गौणी	···· तैलानि सार्षपादीनि हेमन्ते सुखानि ।
3.	उपादानलक्षणा	साध्यवसाना	शुद्धा	····काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् ।
4.	उपादानलक्षणा	साध्यवसाना	गौणी	····तैलानि हेमन्ते सुखानि ।
5.	लक्षणलक्षणा	सारोपा	शुद्धा	····आयुर्घृतम् ।
6.	लक्षणलक्षणा	सारोपा	गौणी	····पृथिव्यामिन्द्रो रामः ।
7.	लक्षणलक्षणा	साध्यवसाना	शुद्धा	····गङ्गायां घोषः ।
8.	लक्षणलक्षणा	साध्यवसाना	गौणी	····राजा गच्छति ।

काव्यप्रकाशविवरण (गोकुलनाथ-उपाध्याय 1660–1740) के अनुसार लक्षणा के भेद

उपाध्याय ने विवरण-नामक **काव्यप्रकाश** की टीका में कहा है—सादृश्येतर-सम्बन्ध-प्रयुक्त शुद्धा के क्रमशः उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना ये चार भेद होते हैं और सादृश्यसम्बन्ध से प्रयुक्त गौणी, सारोपा और साध्यवसाना भेद से द्विधा विभाजित होती है।[2] यह

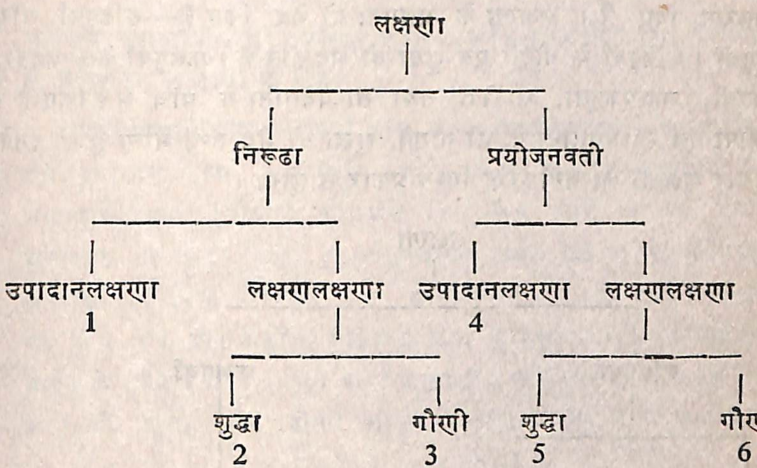
---

1 काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वर-न्यायालंकार), पृ. 65

2 षड्विधेति । वस्तुभूतेन मुख्यार्थसम्बन्धेन वस्तुभूतस्यार्थस्य मुख्यार्थेन सह लक्षणा उपादानम् । सैव मुख्यार्थपरिहारेण लक्षणम् । उपमया साधर्म्य-विशिष्टस्य लक्षणा गौणी । सा द्विधा सारोपा साध्यवसाना चेति । उपमाभिन्नेनालङ्कारेण वस्तुनोऽलङ्कारस्य वा, वस्तुनाऽलंकृतस्य वा लक्षणा शुद्धौपचारिकी । सापि चारोपाध्यवसानभेदात् द्विधेति । निरूढा तु 'तैलानि हेमन्ते सुखानि' इत्यादौ ।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय),शोध-संस्थान, वाराणसी, संस्कृत-विश्वविद्यालय, 1961 ई., पृ. 78

विभाजन मम्मट-कृत विभाजन से मेल खाता है ।[1] उपाध्याय ने अपनी दूसरी कृति भक्ति(लक्षणा)विवेक में भी लक्षणा को विस्तार-सहित विवेचित किया है। इन्होंने उक्त कृति में लक्षणा के पहले दो भेद किए हैं—निरूढा तथा प्रयोजनवती ।[2] उक्त दोनों प्रकारों की लक्षणाएं पुनः उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा भेद से द्विधा विभक्त की गयीं हैं ।[3] इसके बाद लक्षण-लक्षणा को शुद्धा और गौणी के रूप में द्विधा विभक्त कर छः भेद इस प्रकार बनाए हैं—



इन्होंने एक स्थान पर उपादानलक्षणा वाले दोनों भेदों (नं. 1, 4) को छोड़कर शेष चारों भेदों (2, 3, 5, 6) को नामतः गिनाया है ।[4] इस प्रकार इनके द्वारा इस कृति में प्रस्तुत किया गया लक्षणा-विभाजन अन्य कृतियों की तुलना में नवीन प्रतीत होने पर भी अस्पष्ट है ।

---

1 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 168-169

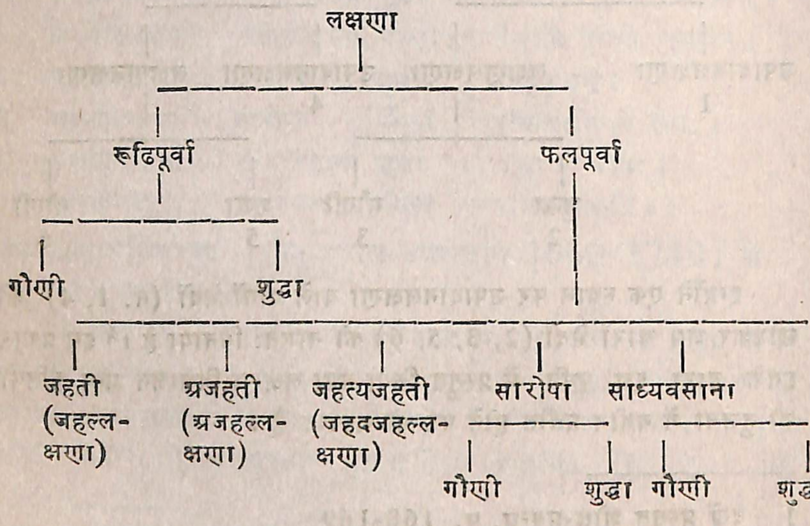
2 सा चेयं लक्षणा संक्षेपतो द्विधा निरूढा प्रयोजनवती चेति ।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 11

3 सा चेयं लक्षणा द्विविधापि प्रत्येकं द्विविधा । उपादानलक्षणा लक्षण-लक्षणा चेति ।
—वही, पृ. 15

4 लक्षणा तु शुद्धा रूढौ लक्षणलक्षणा, शुद्धाप्रयोजनलक्षणलक्षणा, गौणी रूढौ लक्षणलक्षणा, गौणी प्रयोजने लक्षणलक्षणा चेति चतुर्धा ।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 16

काव्यदर्पण (राजचूड़ामणि-दीक्षित (17 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

राजचूड़ामणि-दीक्षित लक्षणा के विषय में काव्यप्रकाशकार मम्मट से तथा लक्षणा के प्रभेदों के विषय में अप्पयदीक्षित से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। अप्पयदीक्षित की भेद-विषयक मान्यताओं को राजचूड़ामणि-दीक्षित ने भी छन्दोबद्धरूपेण दीक्षित के शब्दों में ही उपन्यस्त किया। इस कृति की एक नवीनता यह भी दृष्टिगोचर होती है कि भेदों के लक्षणपुरस्सर ही उदाहरण दिए हैं। लक्षणा के प्रथमतः दो भेद किए हैं—रूढिपूर्वा और फलपूर्वा। रूढिपूर्वा के गौणी एवं शुद्धा दो भेद होते हैं। फलपूर्वा के—जहती, अजहती, जहत्यजहती, सारोपा तथा साध्यवसाना ये पांच भेद किए हैं। सारोपा एवं साध्यवसाना के भी गौणी, शुद्धा दो भेद उन्हें मान्य हैं।[1] इनके अनुसार लक्षणा का वर्गीकरण निम्न प्रकार से होगा।



1 द्विविधा सा रूढिपूर्वा फलपूर्वेति भेदतः।
स्याद्रूढिलक्षणा द्वेधा गौणी शुद्धेति भेदतः ॥ 2. 33
शक्यसादृश्यसम्बन्धरूपा गौणीति सा मता। (2. 24)
शुद्धा सा सादृश्यभिन्नशक्यसम्बन्धरूपिणी। (2. 25)
फललक्षणां विभजते—
जहती चाप्यजहती जहत्पूर्वाजहत्यपि ।
सारोपा साध्यवसितिरित्यन्या पञ्चधा मता ॥ 2. 26

सुधासागरीटीका (टीका. भीमसेन 1719 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश की सुधासागरी-नामक टीका में भीमसेन ने लक्षणा के प्रथमतः शुद्धा और गौणी दो भेद अन्य आचार्यों के समान ही किए हैं। शुद्धा के उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दो भेद कर, इन दोनों के तथा गौणी-लक्षणा के भी पुनः सारोपा तथा साध्यवसाना नामक दो भेद किये हैं। इनके द्वारा किया गया विभाजन अमरचन्द्रयति के विभाजन से मेल खाता है।[1]

नञ्जराजयशोभूषण (नरसिंह कवि = अभिनवकालिदास 18वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

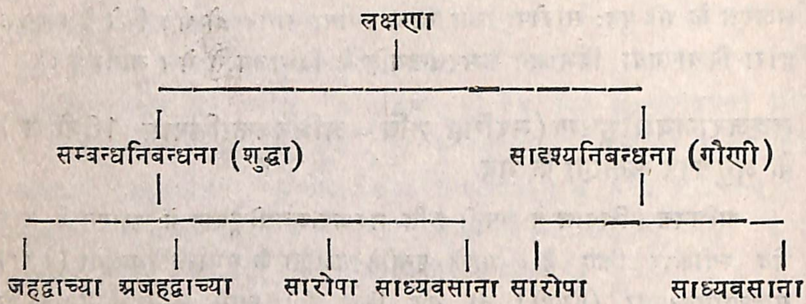
अभिनवकालिदास ने अपनी कृति नञ्जराजयशोभूषण में लक्षणा के चार भेद स्वीकार किए हैं। पहले इन्होंने लक्षणा के सम्बन्धनिबन्धना (शुद्धा) सादृश्यनिबन्धना (गौणी) दो भेद किए हैं। इसमें सम्बन्धनिबन्धना के अवान्तर दो भेद किए हैं—जहद्वाच्य तथा अजहद्वाच्य।[2] इन दो भेदों के अतिरिक्त सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो नाम और गिनाए गए हैं। इन चार भेदों के अतिरिक्त अन्य-भेदों का उल्लेख लक्षणा के भेद-वर्णन के उपक्रम में यहां नहीं पाया जाता है। यदि सारोपा और साध्यवसाना भेदों को शुद्धा और गौणी दोनों का अवान्तर-भेद माना जाए तो इनके

सारोपा द्विविधा ज्ञेया गौणी शुद्धेति भेदतः ॥ 2.31
तत्र साध्यवसाना स्याद् गौणीशुद्धेति सा द्विधा ॥ 2. 33
—काव्यदर्पण, पृ. 50-67

1 लक्षणा तावद्द्विविधा। शुद्धा गौणी च। तत्राद्या द्विविधा। उपादान-लक्षणा लक्षणलक्षणा च। ते अपि प्रत्येकं सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधे इति शुद्धभेदाश्चत्वारः। गौणी तु द्वेधा। सारोपा साध्यवसाना चेति षड्विधत्वम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), जयकृष्णदास हरिदासगुप्त, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, वि. सं. 1984, पृ. 65
अन्यच्च
देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 175-176

2 सा द्विविधा सम्बन्धनिबन्धना सादृश्यनिबन्धना चेति। तत्राद्या द्विविधा जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति।
—नञ्जराजयशोभूषण, पृ. 15

अनुसार भी लक्षणा के वे ही पूर्व-प्रचलित छः भेद सिद्ध होते हैं। उदाहरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये गौणी के सारोपा और साध्यवसाना भेद मानते हैं।[1] यदि इसी प्रकार शुद्धा के भी ये भेद, प्रकल्पित किए जावें तो लक्षणा का षड्विधत्व, अन्यथा चतुर्विधत्व स्वीकार करना होगा। षड्विधत्व वाली सारणी निम्न प्रकार से होगी—



साहित्यकौमुदी (विद्याभूषण 18 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

उक्त कृति में लक्षणा के भेदों के विषय में जो कारिकाएं उपन्यस्त की हैं, वे अविकलरूपेण **काव्यप्रकाश** से ली गयी हैं। भेदों के विषय में वृत्ति के आधार पर सोदाहरण-लक्षणा के भेदों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

---

1 सारोपा यथा—

नञ्जक्ष्माप: कल्पभूजस्तदीयो, बाहु: शाखा तस्य तत्खड्गयष्टि:।
तत्संलग्ना वल्लिका तत्प्ररूढा, कीर्तिस्फूर्तिस्तत्प्रसूनोद्गमश्री:॥
अत्र नञ्जराजतद्भुजखड्गयष्टिकीर्तिनां कल्पभुजशाखावल्लि-प्रसूनोद्गमश्रियां च यथाक्रममभेदप्रतीते: सारोपलक्षणेयम्।
—नञ्जराजयशोभूषण, पृ. 15

अन्यच्च
साध्यवसाना यथा—

जात: सोऽभूद्विश्रुते सौम्यवंशे पार्थ: पृथ्वीमण्डलो दण्डशौर्य:।
चित्तोल्लासो यस्य धर्मे महीयान् प्राप्तो भूपेष्वाञ्जनेयध्वजं य:॥
अत्र नञ्जराजार्जुनयोरभेदोऽध्यवसीयते।
—वही, पृ. 15-16

- लक्षणा
  - रूढा (कलिङ्ग: साहसिक:)
  - प्रयोजनवती
    - शुद्धा
    - गौणी
      - सारोपा (1 गौर्वाहीक:)
      - साध्यवसाना (1 गौरेवायम्)

- जहत्स्वार्था 1 (1 गङ्गायां घोष: ।)
- अजहत्स्वार्था 2 (1 कुन्ता: प्रविशन्ति 2 छत्रिणो यान्ति । 3 काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् ।)
- जहदजहत्स्वार्था 3 (1सोऽयं देवदत्त:)
- सारोपा 4 (1अमृतं हरिकीर्तनम् ।)
- साध्यवसाना 5 (1अमृतमेवेदम् ।)

कोविदानन्द (आशाधरभट्ट 18 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

आशाधरभट्ट ने अभिधेयार्थ के परित्याग की स्थिति में होने वाली लक्षणा के—जहती, अजहती, उभयी (जहदजहती) तीन भेद किए हैं ।[1] उक्त तीन प्रकार की लक्षणाओं को **आशाधरभट्ट** ने निरूढा तथा फलवती भेद से द्विधा विभाजित किया है ।[2] निरूढा में व्यंग्य की स्थिति न होने से केवल फलवती को गूढ (व्यंग्य) और अगूढ (व्यंग्य) भेद से द्विविधा विभाजित

---

1 प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा ।
संकोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा ॥ 3 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 15

2 त्रिविधापि पुनर्द्वेधा निरूढा च फलान्विता ।
स्तुवन्ति वाग्भिरर्चन्ति पाणिभिर्नीललोहितम् ॥ 7 ॥
—वही, पृ. 16

किया है।[1] फिर पूर्वोक्त प्रकार की लक्षणाओं के सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद किये हैं।[2] इसके अनन्तर उन्होंने लक्षणा को सादृश्य तथा सम्बन्धों के आधार पर गौणी और शुद्धा-रूपेण भी द्विधा विभाजित किया है।[3] इसके अनन्तर इन्होंने निरूढा-शुद्धसारोपा और गौण-साध्यवसाना ये दो भेद किये हैं। गौणी-सारोपा-निरूढा, गौणी-साध्यवसाना-निरूढा भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। इन्होंने प्रयोजनवती-शुद्धा के शुद्धासारोपा और शुद्धसाध्यवसाना[4] तथा प्रयोजनवती-गौणी के गौण-सारोपा और गौण-साध्यवसाना दो भेद किए हैं।[5]

पूर्वोक्त प्रकार से **कोविदानन्द** में लक्षणा का विभाजन अस्त-व्यस्त तथा क्रम-रहित है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किए गए व्यवस्थित-विभाजन को **भट्ट** ने किस कारण स्वीकार नहीं किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

त्रिवेणिका (आशाधरभट्ट 18 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

त्रिवेणिका में लक्षणा के सोदाहरण भेदोपभेद दिए गए हैं, उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **भट्ट** का लक्षणा का भेद-सम्बन्धी-विवेचन उतना वैज्ञानिक नहीं, जितना **विश्वनाथ** का **साहित्यदर्पण** में है। सारोपा और साध्यवसाना जैसे प्रमुख लक्षणा-भेदों के विषय में इन्होंने

---

1 निरूढा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा । (10)
—कोविदानन्द, पृ. 18

2 सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः ।
ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः ॥ 11 ॥
—वही, पृ. 18

3 कार्यकारणभावादी भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ ।
सादृश्ये सति गौणी च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात् ॥ 12 ॥
—वही, पृ. 18

4 निरूढा शुद्धसारोपा शिवं शम्भुं भजेदिति ।
शिवं भजेदिति परा कार्यकारणभावतः ॥ 13 ॥
—वही, पृ. 19

5 फलिनी शुद्धसारोपाऽन्या च बीजफलत्वतः ॥ 15 ॥
....
फलिनी गौणसारोपा परा च सदृशत्वतः ॥ 16 ॥
—वही, पृ. 19-20

केवल उल्लेख मात्र ही किया है।[1] **त्रिवेणिका** में न इनका लक्षण सुस्पष्ट है, न कहीं उदाहरणों में यह बतलाया है कि यहां सारोपा है या साध्यवसाना। यद्यपि इन्होंने पांच उदाहरण-युगल एक साथ दिए हैं,[2] जिससे सारोपा और साध्यवसाना के भेद की प्रतीति हो जाती है और ये पांचों उदाहरण-युगल गौणी अजहल्लक्षणा के ही हैं।

वैसे **कोविदानन्द** में निरूढा के भी गौणी एवं शुद्धा भेद करते हुए तथा दोनों के सारोपा तथा साध्यवसाना-विषयक भेदों के साथ ही उदाहरण भी उपन्यस्त किए हैं,[3] किन्तु फलिनी (फलवती) के गौणी तथा शुद्धा भेदों में सारोपा एवं साध्यवसाना-विषयक विवेचन अधिक स्पष्ट है।

कोविदानन्द में **आशाधरभट्ट** ने यह तो स्पष्ट किया है कि वे निरूढा और प्रयोजनवती, दोनों के अन्तर्गत शुद्धा के भेदों में सारोपा और साध्यवसाना दोनों को मानते हैं और उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इन उदाहरणों में जहती, अजहती या उभयी (जहदजहती) लक्षणा होने या न होने का कोई संकेत नहीं है।

इससे भी अधिक **आशाधरभट्ट** के लक्षणा के भेदों के विवेचन में यह कमी खटकती है कि उन्होंने व्यधिकरण-विषया और समानाधिकरण-विषया नामक लक्षणा के जिन दो भेदों की उद्‌भावना की थी, उनमें व्यधिकरण-विषया-लक्षणा का तो उदाहरण दिया है,[4] किन्तु समानाधिकरण-विषया लक्षणा कहां होती है? इसका निर्देश नहीं किया है। फलस्वरूप उनके द्वारा मौलिक-रूप से उद्‌भावित इन दो भेदों का पल्लवन करना सम्भव नहीं।

कोविदानन्द का विवेचन भी इस विषय में हमारी कोई सहायता नहीं

---

1 अथ समानाधिकरणविषया सारोपा साध्यवसाना च।
—त्रिवेणिका, पृ. 22

2 मुखं चन्द्रः, चन्द्र एवायम्। गौर्वाहीकः, गौरेवायम्। अग्निर्माणवकः, अग्निरेवायम्। पण्डितोऽयमपरः सूर्यः, सूर्य एवायम्। सिंहो देवदत्तः, सिंह एवायम्।
—वही, पृ. 23

3 कोविदानन्द, पृ. 19

4 'गङ्गायां घोषः' अत्र गङ्गाशब्देन तत्तीरे व्यधिकरणविषया फलवती जहल्लक्षणा।
—त्रिवेणिका, पृ. 19

करता है, क्योंकि वहां इन दोनों प्रकार की लक्षणाओं के भेदों का कोई उल्लेख ही नहीं किया गया है। वैसे भी **कोविदानन्द** की रचना **त्रिवेणिका** से पूर्व ही हुई है। यद्यपि **कोविदानन्द** के मूल भाग में इनका कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु **भट्ट** ने उक्त ग्रन्थ की टीका में व्यधिकरण-विषया के अन्तर्गत नौ भेदों को लेते हुए समानाधिकरण-विषया को अर्थलभ्य माना है।[1]

भट्ट ने जहल्लक्षणा के फलवती भेद के अन्तर्गत ही शुद्धा और गौणी के जो भेद दिये हैं, इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वे अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा में भी शुद्धा और गौणी भेद मानते हैं या नहीं ? ये शुद्धा और गौणी के सारोपा और साध्यवसाना दो भेद स्पष्टरूपेण मानते ही हैं।[2]

यह भी उल्लेखनीय है कि भेदों के विवेचन में अनेक स्थलों पर इनका विवेचन आलोचनात्मक है। उदाहरणत:—'करिकलभ:' में कलभ का अर्थ केवल करिपोत न होकर केवल बालक है, अत: यहां कोई लक्षणा नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि 'कलभ: करिपोत: स्यात्' इत्यादि कोशादिग्रन्थों में केवल प्रयोग की रूढि का प्रदर्शन करने को ऐसा कहा है, ऐसा कहने वाले आचार्यों के प्रति **आशाधर** का कहना है कि प्रयोगरूढि लोकप्रसिद्ध है, कोश में उसका निर्देश अनावश्यक है।[3] यहां **आशाधर** का तर्क सर्वथा युक्तिसंगत है।

'बाण' तथा 'अश्व' शब्द का अर्थ सीधा पांच या सात, लक्षणा से हो जाता है या 'स्मर-बाण' और 'सूर्याश्व' में लक्षणा होकर फिर पांच या सात संख्या में लक्षणा होती है, इस सम्बन्ध में उन्होंने आचार्यों के दोनों मत दिखाये हैं। 'द्रोणो व्रीहि:' में सामान्य आकार से परिमाण द्रोण का वाच्यार्थ है और द्रोणरूप-विशेष-आकार से परिमाण लक्ष्यार्थ है, यह निर्देश करना **आशाधरभट्ट** की सूक्ष्म-बुद्धि का परिचायक है।

'श्वेतो धावति' में श्वेत से 'मतुप्' प्रत्यय मानकर अभिधा से ही काम

---

1 अफला व्यंग्यार्थरहिता, परा फलवती गूढव्यंग्या अगूढव्यंग्या चेति। एवं व्यधिकरणविषया लक्षणा नवविधा। अन्यापि सामानाधिकरणविषया इत्यर्थाल्लभ्यते ॥ 2. 10
—कोविदानन्दव्याख्या, पृ. 18

2 त्रिवेणिका, पृ. 19

3 वस्तुतस्तु प्रयोगरूढिर्लोकप्रसिद्धेति कोशादौ तन्निर्देशोऽनावश्यक:।
—वही, पृ. 21

चला लें या लक्षणा मानें ? इस विषय में **आशाधर** का, दोनों मत देकर स्वयं किसी मत के प्रति झुकाव न दिखलाना, इस बात का द्योतक है कि वे पूर्वाग्रह से मुक्त थे। लक्षणा के भेद बतलाने के प्रसङ्ग में पूर्वाचार्यों में से उन्होंने केवल **वामन** को ही उद्धृत किया है। ऐसा लगता है कि परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा उनको पूर्ववर्ती आचार्यों पर अधिक विश्वास था।

अन्त में **त्रिवेणिकाकार** ने कहा है कि पूर्व-वर्णित मुख्यार्थबाधादि सम्बन्ध-त्रय में साक्षात्सम्बन्ध होने पर ही लक्षणा होती है, ऐसा कोई शाश्वतिक नियम नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवायादि के समान ही परम्परा-सम्बन्ध होने पर भी लक्षितलक्षणा होती है।[1] उक्त लक्षितलक्षणा को यथास्थान वर्णित किया जायेगा। भट्ट की मान्यता के अनुसार यह परम्परा-सम्बन्ध, लक्षितलक्षणा के अतिरिक्त व्यतिरेकलक्षणा तथा गौणलक्षणा में भी होता है।[2]

अन्य-धर्म की अन्यत्र अवस्थिति न होने के कारण अन्योन्यधर्मों में अभेद कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसा कहने वाले आचार्यों के प्रति **आशाधरभट्ट** का कथन है कि सजातीयत्वेन भेदाभाव सम्भव है। रूपकादिस्थल में तो अभेदारोप के कारण भेदाभाव सम्भव है। विजातीयों में भी विम्बप्रति-विम्बाभाव के कारण अभेदप्रतीति की योग्यता विद्यमान रहती है।[3]

---

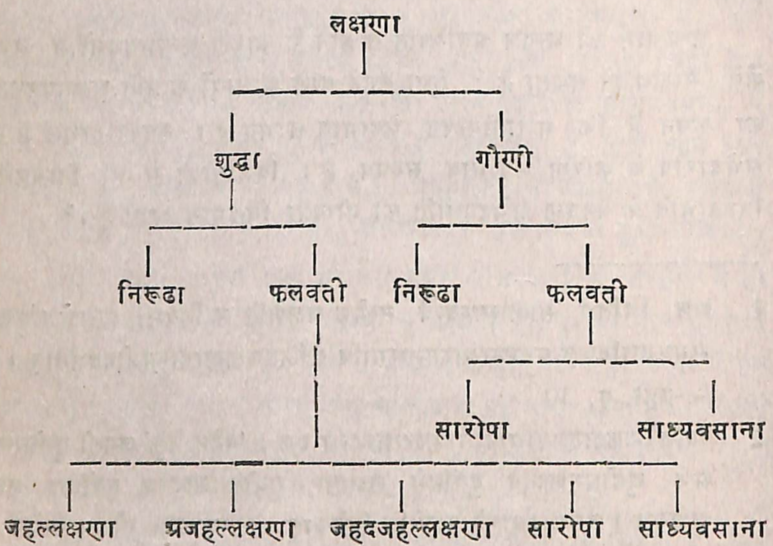
1 अत्र त्रिविधे साक्षात्सम्बन्धे सत्येव लक्षणेति न नियमः, प्रत्यक्षे संयुक्त-समवायादिवत् परम्परासम्बन्धस्यापि लक्षितलक्षणादावुपयोगदर्शनात्।
—वही, पृ. 30

2 व्यतिरेकलक्षणायामपि परम्परासम्बन्ध एव। 'नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः' अत्र सुयोधनशब्देन दुर्योधने लक्षणा, सुयोधनशब्दस्य दुर्योधन शब्दे लक्षणा। ततस्तद्वाच्ये राज्ञीति विवेकात्। ....अथ गौण्या विशेषः। गौणलक्षणायामपि परम्परासम्बन्धः।
—त्रिवेणिका, पृ. 31

3 ननु अन्यधर्मस्यान्यत्रासम्भवादन्योन्यधर्माभेदः कथमिति चेदुच्यते, 'तापेन भ्राजते सूरः शूरश्चापेन राजते' इत्यादौ सूरशोभाशूरशोभयोर्भेदेऽपि सजातीयत्वेन भेदाभावः। रूपकादौ त्वभेदारोपाद् भेदाभावः। अयञ्च वस्तुप्रतिवस्तुभावः कथ्यते। 'त्वमेव कीर्तिमान् राजन्', 'विधुरेव हि कान्तिमान्' इत्यादौ च कीर्तिमत्त्वकान्तिमत्त्वयोर्वैजात्येऽपि बिम्बप्रतिबिम्ब-भावेनाभेदप्रतीतियोग्यत्वम्।
—वही, पृ. 32

वृत्तिवार्तिक (अप्पयदीक्षित 17 वीं श.) के अनुसार लक्षणा के भेद

वृत्तिवार्तिक में दीक्षित ने लक्षणा के विषय में कुछ नये विचार प्रस्तुत किए हैं, उनके अनुसार लक्षणा के दो प्रभेद—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के आधार पर ही होते हैं। सादृश्य-सम्बन्ध होने पर गौणी और सादृश्येतर-सम्बन्ध होने पर शुद्धा कहलाती है। गौणी और शुद्धा के ये दोनों भेद, रूढि और प्रयोजन में भी होते हैं। दीक्षित रूढि को निरूढा और प्रयोजनवती को फललक्षणा नाम से अभिहित करते हैं। शुद्धा-फललक्षणा भी जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा और साध्यवसाना भेद से पञ्च-विधा होती है। गौणी-फललक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना दोनों भेदों को मिलाकर फललक्षणा के भी सात भेद हो जाते हैं।[1] निरूढा को भी इन सात भेदों के साथ सम्मिलित करने पर यह वर्गीकरण निम्न प्रकार से होगा।



जहल्लक्षणा का एक भेद विपरीतलक्षणा भी है। इसमें लाक्षणिक पद न

---

1 तस्मात्—सादृश्यगर्भतदन्यसम्बन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्। इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा—निरूढ-लक्षणा फललक्षणा च।........फललक्षणा यथा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। सारोपा साध्यवसाना च। शुद्धा च गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फललक्षणा।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 18-19

केवल अपने मुख्य-अर्थ को त्यागता है, अपितु मुख्य-अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है। इस विपरीत-लक्षणा को दीक्षित व्यतिरेक-लक्षणा भी कहते हैं।[1]

जहत्, अजहत् तथा जहदजहत् आदि नाम काव्यशास्त्र की अपेक्षा दर्शनशास्त्र में अधिक प्रचलित हैं और जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा) तो एकान्ततः वेदान्तियों की ही देन है। वैसे काव्यशास्त्र में भी ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने जहत् आदि नाम स्वीकार किए हैं और **अप्पयदीक्षित** की भी इन ही नामों के प्रति अभिरुचि है।

अप्पयदीक्षित की लक्षणा-विषयक नूतन-उद्भावना

अप्पयदीक्षित ने **मम्मट** द्वारा प्रतिपादित आरोप एवं अध्यवसान के कारण होने वाले शुद्धा-लक्षणा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के दो भेदों का निराकरण करते हुए कहा है, कि **मम्मट** ने कार्यकारणभाव-निबन्धना के रूप में 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' नामक जो दो उदाहरण दिए हैं, उनका अन्तर्भाव उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा में हो जाता है, अतः इन भेदों को मानना समीचीन नहीं है। 'आयुर्घृतम्' इस शुद्धा-सारोपा के उदाहरण में भी, वाच्यार्थ दूसरे के लिए अपने को अर्पित कर देता है, अतः 'गङ्गायां घोषः' की तरह यहां भी जहल्लक्षणात्व सिद्ध है। यहां आयु और घृत की अभेद-प्रतीति होने के कारण उक्त उदाहरण, जहत्स्वार्था के उदाहरण से भिन्न है, यह मानना असमीचीन ही होगा, क्योंकि लक्षणलक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' में भी शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ की प्रतीति, अभेद-रूपेण ही होती है। अन्यथा शैत्यपावनत्वादिधर्म की प्रतीति ही न हो सकेगी, अतः **वृत्तिवार्तिककार** के मतानुसार शुद्धा के जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्थारूपेण दो भेद ही सिद्धान्तरूपेण हो सकते हैं। उपादान एवं लक्षणलक्षणा भेद नहीं हो सकते हैं।[2]

---

1 व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणा, प्रभेद एव। यथा—उपकृतमित्यत्रा-पकारिण्यन्वयायोग्ये 'उपकृता' दिपदैः स्वार्थविरुद्धं लक्ष्यते।
—वही, पृ. 20

2 अत्रेदं प्रतिभाति—शुद्धातु साध्यवसायलक्षणाभेदकथनमयुक्तम्, परार्थ स्वसमर्पणस्याविशेषेण तस्य जहल्लक्षणानतिरेकात्। न हि तदविशेषेऽपि सारोपलक्षणायां विषयवाचकसामानाधिकरण्यकृतवैचित्र्यान्तरमस्ति, येन तद्वदेव जहल्लक्षणातः पृथगुदाह्रियेत।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 22-23

दीक्षित ने गौणी-फललक्षणा के विषय में भी प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा है कि गौणी-फललक्षणा के दो भेद क्यों ? जहत् तथा अजहत् भेद क्यों नहीं ? इस प्रश्न को उदाहरण द्वारा इस प्रकार दोहराया जा सकता है—'मुखं कमलम्', 'गौर्वाहीक:', गौणी-लक्षणा के इन उदाहरणों में जहां लाक्षणिक-पद, पदार्थ को लक्षित करने के लिए स्वार्थ को त्याग देता है, वहां जहल्लक्षणा हो सकती है। दूसरी ओर 'गाव एते समानीयन्ताम्' गौणी-साध्यवसाना के इस उदाहरण में गोपद, जड़त्वादिगुणविशिष्टव्यक्ति का बोध कराने में स्वार्थ का भी उपादान करता है। ऐसे उदाहरणों में अजहल्लक्षणा भी हो सकती है। फिर गौणी के सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद ही क्यों ?[1]

वृत्तिवार्तिककार दीक्षित ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-सम्बन्ध होने पर ही उक्त लक्षणा होती है, अतः 'मुखं कमलम्' ऐसे उदाहरणों में आरोप करने पर ही गुण-सादृश्य का बोध होता है, अन्यथा नहीं, अतः सारोपा-गौणी-लक्षणा के ही ये उदाहरण हो सकते हैं, जहल्लक्षणा के नहीं। 'गाव एते समानीयन्ताम्' गौणी-साध्यवसाना-लक्षणा मूलक जैसे वाक्यों में भी, जहां आरोप-विषय निगीर्ण हो जाता है, सादृश्य आरोप-मूलक ही है, यदि वहां गौणी साध्यवसाना न मानकर अजहत्स्वार्था लक्षणा मानने लगें तो, आरोप-विषय और आरोप्यमाण-विषयी में सादृश्य की उपस्थिति नहीं होगी, अतः यहां गौणी-लक्षणा का होना ही असम्भव हो जाएगा, इसलिए उक्त लक्षणा के सात ही भेद सम्भव हैं।[2]

---

1 ननु-गौण्यामपि जहदजहल्लक्षणाभेदौ सम्भवतः, 'मुखं कमलम्', 'गौर्वाहीक:' इत्यादौ जहल्लक्षणा तावत्स्फुटैव। अजहल्लक्षणापि गोवाहीकोभयविषये 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादौ दृश्यते। अतः कथं द्विविधैव गौणी ?
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 22

2 उच्यते—मुख्यार्थसादृश्येन लक्षणा गौणी। न च तत्रैव तत्सादृश्यमस्ति। येन मुखेऽपि गौणी वृत्तिः स्यात्। शुद्धा त्वजहल्लक्षणा, 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ विशेषणवाचिनो विशिष्टे संभवति विशिष्टविशेषणयोरेकदेश्येकदेशभावरूपसम्बन्धसत्त्वात्। अतो 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादावभिधालक्षणाभ्यामेवार्थद्वयप्रतिपादनं 'गङ्गायां जलं घोषश्च तिष्ठति' इत्यत्रेवेति (इत्यत्रान्त्रेति) न गौण्या जहदजहल्लक्षणाभेदसंभवः, तस्मात्सप्तैव लक्षणाभेदा इति।
—वही, पृ. 22

साहित्यसार (अच्युतराय 1831 ई.) के अनुसार लक्षरणा के भेद

अच्युतराय-प्रणीत पद्यबद्ध साहित्यसार में लक्षरणा के जो भेद वर्णित किए गए हैं, वे पूर्वाचार्यों के द्वारा वर्णित भेदों से अधिक-संख्या में हैं। वे समस्त एवं व्यस्तरूपेरण वर्णित होने के काररण लगभग विंशति-संख्या तक पहुंच जाते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम लक्षरणा के जो चार भेद किए वे हैं—गौरणी, शुद्धा, विरुद्धा तथा लक्षितलक्षरणा। इन चारों के निरूढा एवं प्रयोजनवती दो-दो भेद होते हैं।[1] प्रयोजनवती—गौरणी एवं शुद्धा के भी आरोप तथा अध्यवसान के काररण सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद होते हैं।[2] यद्यपि शुद्धा-प्रयोजनवती के समस्त एवं व्यस्त भेद से दो भेद होते हैं, किन्तु सादृश्य एवं अन्य सम्बन्धों से यह लक्षरणा अनेक भेद वाली होती है।[3] शुद्धा प्रयोजनवती के व्यस्त-शाखा में पूर्ववर्णित सारोपा और साध्यवसाना के अतिरिक्त—जहती, अजहती तथा जहदजहती (भागत्यागलक्षरणा) ये तीन भेद और होते हैं।[4] रूढा-प्रयोजनवती-व्यस्ता के सात भेदों के वर्णन के अनन्तर—तादर्थ्य, स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध, अवयव-अवयविभाव-सम्बन्ध तथा तात्कर्म्य आदि सम्बन्धों को भी वर्णित किया है। तदनन्तर शुद्धा-प्रयोजनवती

---

1 गौरणी शुद्धा विरुद्धा च तथा लक्षितलक्षरणा।
चतुर्धाऽसौ निरूढेति प्रयोजनवतीति च ॥ 2. 64
—साहित्यसार, पृ. 43

2 प्रयोजनवती गौरणी शुद्धा चापि पुनर्द्विधा।
आरोपाध्यवसानाभ्यां चतुःसंख्यास्तु ता यथा ॥ 2. 70
—वही, पृ. 44

3 शुद्धा प्रयोजनवती समस्तव्यस्तताभिदा।
पुनर्द्विधापि सादृश्यान्यसम्बन्धैरनेकधा ॥ 2. 76
—वही, पृ. 46

4 व्यस्तकोटौ तु जहती लक्षरणापर्णसंज्ञिका।
गङ्गायां घोष इत्यत्रात्यन्तं वाच्यतिरस्कृतः ॥ 2. 77
अजहत्यप्युपादाननाम्नी श्वेतोऽभिधावति।
अनयार्थान्तरे संक्रमितवाच्योऽत्र सूच्यते ॥ 2. 78
जहत्यजहती सोऽयं गोपीनाथ इतीरिते।
तथा तत्त्वमसीत्यादौ भागत्यागाभिधाप्यसौ ॥ 2. 79
—वही, पृ. 46-47

समस्त-कोटि के बहुव्रीहिलक्षणा[1] तत्पुरुष-पूर्वपदलक्षणा एवं उत्तरपद-लक्षणा[2], इसी प्रकार अव्ययीभाव[3], द्वन्द्व के भी समाहारलक्षणा[4], इतरेतर-लक्षणा तथा एकशेषलक्षणा[5] आदि सात प्रकार की समस्त-लक्षणाएं वर्णित की गयीं हैं। पूर्वोक्त प्रकार से **अच्युतराय** के अनुसार गौणी के तीन, शुद्धा के तेरह, विरुद्धा के दो और लक्षितलक्षणा के दो भेद मिलाकर लक्षणा के प्रमुख बीस भेद हो जाते हैं।

आगे इन्होंने **चन्द्रालोककार**-मान्य प्रयोजनविशिष्टा-गौणी के विशिष्ट-लक्ष्या, विशिष्टलक्षका, सहेतुलक्षणा तथा निर्हेतुलक्षणा नामक चार भेदों की गणना और की है।[6] इसी प्रकार उन्होंने गौण, शुद्ध, विरुद्ध एवं लक्षितलक्षक इन चतुर्विध लक्षणाओं के, वाक्यार्थों के सप्रयोजनावस्था में चार भेद और स्वीकार किए हैं।[7]

इस प्रकार कुल लक्षणा के अष्टाविंशति भेदों में से चार भेद निरूढा के हैं, शेष चौबीस भेद प्रयोजनवती के हैं। प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार चार प्रकार की निरूढा-लक्षणा में व्यङ्ग्याख्य प्रयोजन नहीं होता है और प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी आदि चौबीस भेदों में व्यङ्ग्याख्य प्रयोजन

---

1 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 160

2 वही, पृ. 157

3 वही, पृ. 156

4 वही, पृ. 159

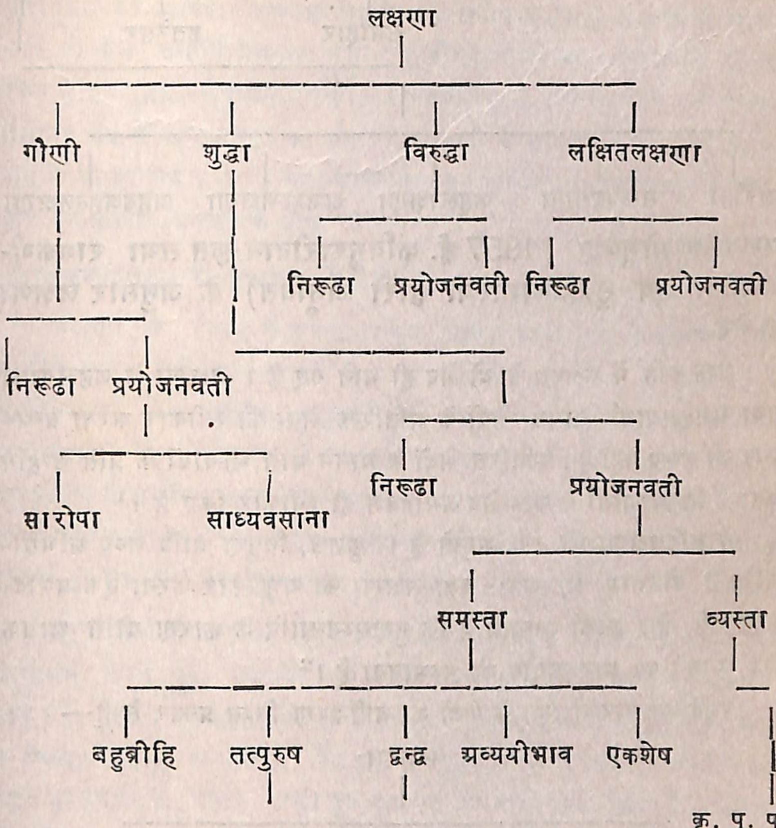
5 वही, पृ. 159

6 विशिष्टलक्ष्याद्यप्यन्यच्चन्द्रालोककृतां मते।
प्रयोजनविशिष्टाया गौण्या भेदचतुष्टयम्॥ 2. 94
विशिष्टलक्ष्या त्वेषास्ति शान्तः पुरुष ईश्वरः।
विशिष्टलक्षका साध्वी निश्चला श्रीरुदाहृता॥ 2. 95
सहेतुलक्षणा बुद्धया स तु साक्षाद्बृहस्पतिः।
निर्हेतुलक्षणा विद्या शक्रसम्पत्तिरुच्यते॥ 2. 96
—साहित्यसार, पृ. 50-51

7 वाक्यार्थोऽपि चतुर्धैवं विज्ञेयः सप्रयोजनः।
गौणः शुद्धो विरुद्धश्च क्रमाल्लक्षितलक्षकः॥ 2. 97
इन्दाविन्दीवरे भातः सेयमस्त्यम्बुजेक्षणा।
गच्छ गच्छसि चेत्कृष्ण दूति त्वं भुङ्क्ष्व रे विषम्॥ 2. 98
—वही, पृ. 51

रहता है।[1] डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने इन भेदों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है।

अच्युतराय-कृत लक्षणा के भेद का वर्गीकरण[2]



कृ. पृ. प.

---

1 इत्यष्टाविंशतिविध: संग्रहादुपपादित: ।
लक्ष्य: पदार्थो रूढोऽत्र चतुर्धान्य: प्रयोजनी ।। 2.99
व्यङ्ग्येन रहिता रूढाविति प्राचां वचोवशात् ।
चतुर्विधस्य रूढस्य न व्यङ्ग्याख्यं प्रयोजनम् ।। 2.100
चतुर्विंशतिधा शिष्टस्ततो गौणादिभेदत: ।
लक्ष्यश्चतुर्धा व्याख्यार्थोऽप्यखिलो व्यञ्जक: क्रमात् ।। 2.101
—साहित्यसार, पृ. 52-53

2 तुलनीय—त्रिपाठी, राममूर्ति, लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. 267

पूर्वपदलक्षणा उत्तरपदलक्षणा

समाहार इतरेतर

सारोपा साध्यवसाना जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा

यशवन्तयशोभूषण (1857 ई. कविमुरारीदान-कृत तथा रामकर्ण-आसोपा एवं सुब्रह्मण्यशास्त्री द्वारा अनूदित) के अनुसार लक्षणा के भेद

उक्त कृति में लक्षणा के दो भेद ही माने गए हैं। लक्षणा के जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था नामक भेदों के अतिरिक्त भेदों को स्वीकार करना ग्रन्थकार को मान्य नहीं है। अतिरिक्त भेदों के मानने वाले आचार्यों के प्रति उन्होंने कहा है कि आचार्यों ने उक्त भेद प्रमादवश ही स्वीकार किए हैं।[1]

ये रूढिलक्षणा को नहीं मानते हैं। कुशल, निपुण आदि शब्द अभिधाशक्ति से बोधगम्य हैं, अतः रूढा-लक्षणा को अङ्गीकार करना एक प्रमादमात्र ही है। इनकी मान्यता है कि गुणसम्बन्धादि के कारण दो से अधिक भेद मानने पर आनन्त्यदोष की सम्भावना है।[2]

इनके अनुसार लक्षणा के भेदों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

लक्षणा

जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था

1 सा च द्विधा जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थेतिभेदतः।
गणनारसिकैरन्ये भेदा उक्ताः प्रमादतः॥ 4॥
—यशवन्तयशोभूषण, (अनु. रामकर्ण-आसोपा), पृ. 68

2 प्रकाशकारादयः सर्वे प्राचीना गुणसम्बन्धमूलकत्वे गौणी, इतरसम्बन्धमूलकत्वे शुद्धेति लक्षणाया द्वैविध्यमाहुः। मम तु मते तन्न समीचीनम्। एवं सम्बन्धेन लक्षणाभेदाङ्गीकारे सम्बन्धानामनेकत्वाल्लक्षणाया अप्यानन्त्यं प्रसज्येत।
—वही, (अनु. सुब्रह्मण्य शास्त्री), पृ. 55

बालबोधिनी (वामन-झलकीकर 1882 ई.) के अनुसार लक्षणा के भेद

काव्यप्रकाश के अर्वाचीन टीकाकर **वामन-झलकीकर** ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' की व्याख्या **काव्यप्रकाश** के अन्य **प्रदीप** आदि टीकाकारों के समान नहीं की है। उन्होंने प्रथमतः शुद्धा एवं गौणी के कारण लक्षणा के दो भेद किए हैं। शुद्धा—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा तथा सारोपा एवं साध्यवसाना भेद से चार प्रकार की होती है। गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो ही भेद होते हैं, अतः **वामन** का लक्षणा-विषयक वर्गीकरण **मम्मट**-कृत वर्गीकरण (प्रथम) के सदृश ही है।[1]

व्याकरणशास्त्र में लक्षणा के भेद

लक्षणा के विषय में अपना अभिमत प्रकट करने वाले वैय्याकरणों को प्राचीन-धारा एवं नव्य-धारा के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्राचीन-धारा में **पतञ्जलि, भर्तृहरि, कौण्डभट्ट** तथा **भट्टोजीदीक्षित** को तथा नवीनधारा में, नव्यधारा के प्रतिनिधि विद्वान् **नागेश** को लिया जाता है। **पतञ्जलि** ने यद्यपि **महाभाष्य** में लक्षणा का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु शब्द एवं अर्थ के बोध-विषयक सम्बन्धों की चर्चा तत्कालीन विद्वत्समाज करता ही था, अतः **महाभाष्यकार** ने भी यह प्रसङ्ग उठाया है।[2]

तदुत्तरवर्ती वैय्याकरण भी अर्थान्तर-प्राप्तिविषयक **पतञ्जलि** के मत का अनुगमन करते हुए लक्षणा का नामतः उल्लेख करने में अपने को असमर्थ पाते रहे, जिस असमर्थता का अन्त **वैय्याकरणभूषणसार** के लेखक **कौण्डभट्ट** ने किया, किन्तु उन्होंने भी लक्षणा को पृथक्-वृत्ति के रूप में मानने वालों पर खण्डनात्मक प्रहार करते हुए लक्षणा का नामोल्लेख किया है, लक्षणा का पक्षधर बनकर लक्षणा का उल्लेख नहीं किया है।[3]

---

1 लक्षणा तावद् द्विविधा—शुद्धा गौणी च। शुद्धापि पुनश्चतुर्धा—उपादान-लक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना चेति। गौण्यपि सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधेति षड्विधेति भावः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना 1, पृ. 54

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 80-82

3 किञ्च, प्रत्यक्षादिजन्योपस्थितेः शाब्दबोधानङ्गत्वाच्छाब्दबोधं प्रति शक्तिजन्योपस्थितेः, लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम्, तथा च

अन्य आचार्य मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के बोध के लिए जहां अभिधा-शक्ति तथा मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा-शक्ति मानते हैं, वहां वैय्याकरण मुख्य तथा लाक्षणिक दोनों प्रकार के शब्दों के ज्ञान का आधार एक मानते हुए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि समाज जिस शब्द में अर्थ की छाप लगा देता है, तत्कालीनसमाज तथा तदुत्तरवर्तीसमाज भी तत्सम्बन्धी अर्थ के लिए तत्तत् शब्दों को वाचक मानता है, जब तक उसी शब्द में नये अर्थ की उद्भावना समाज द्वारा न कर दी जाय। आधिक्य-रूप में प्रचलित अर्थ, प्रसिद्धार्थ, वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जाता है। वस्तुत: **नागेश** से पूर्ववर्ती व्याकरण-दर्शन में लक्षणा को अप्रसिद्धा-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। स्वयं **नागेश** ने इसे स्मरण दिलाते हुए आगे अपना वर्गीकरण उपन्यस्त किया है।[1]

इस प्रकार **पाणिनि** से लेकर **नागेश**-पूर्ववर्ती सभी प्राचीन वैय्याकरण, अभिधेय अर्थ को दो भागों में विभक्त करते थे। लक्षणा को वे अतिरिक्त वृत्ति मानते ही नहीं थे। इस लक्षणा को, शक्ति के दो भेदों में से एक भेदमात्र मानते हुए अप्रसिद्ध-शक्ति में ही लक्षणा का व्यवहार करते थे।[2] **नागेश** ने इस अप्रसिद्ध अर्थ को लक्ष्य-अर्थ कहा तथा **लघुमञ्जूषा** में रूढि के अतिरिक्त

कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवं स्यात्। अस्माकं पुनः शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुतेति लाघवम्।

—वैय्याकरणभूषणसार, पृ. 325

1 तथाहि—शक्तिर्द्विविधा—प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्। सहृदयहृदयमात्रवेद्यात्वम् अप्रसिद्धात्वम्. तत्र गङ्गादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धेति किमनुपपन्नम्।

—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 51

2 वैय्याकरणास्तु (शाब्दिका:) लक्षणां नाङ्गीकुर्वन्ति। तेषां मते शक्तिरेव द्विविधा प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। तत्र तेषां प्रसिद्धां शक्ति परे दार्शनिकाः शक्तिम् अप्रसिद्धां च शक्ति लक्षणेति शब्दमात्रे भेदः।

—शाब्दबोधविमर्श, पृ. 261

अन्यच्च

—वैय्याकरणभूषणसार, पृ. 101

गौणी एवं शुद्धा भेद से लक्षणा दो प्रकार की मानी ।[1]

यद्यपि जहदजहल्लक्षणा के भेद के विषय में नागेश ने **वैय्याकरणसिद्धान्त-लघुमञ्जूषा** आदि कृतियों में अरुचि 'केचित्तु' पद द्वारा प्रदर्शित की है,[2] तथापि इस प्रकार लक्षणा के अन्य-भेद भी वितर्कनीय है, **वैय्याकरण-सिद्धान्तलघुमञ्जूषा** में उनके द्वारा किया गया लक्षणा के भेदों का विभाजन और भी अधिक स्पष्ट है। रूढि के अतिरिक्त प्रयोजनवती-लक्षणा के शुद्धा एवं गौणी दो भेद होते हैं। पुनः ये दोनों अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था भेद से चतुर्धा विभक्त हो जातीं हैं। इन्होंने गौणी-अजहत्स्वार्था का कोई भेद नहीं माना है, शेष तीनों (गौणी-जहत्स्वार्था, शुद्धा-जहत्स्वार्था तथा शुद्धा-अजहत्स्वार्था) को सारोपा एवं साध्यवसाना भेद से द्विधा विभाजित किया है।[3] इनके द्वारा किया गया लक्षणा-विभाजन निम्न प्रकार से हो सकता है—

---

1 सा द्विधा गौणी, शुद्धा च। ····प्रकारान्तरेणापि सा द्विधा—अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था च। ····'त्वचा ज्ञातम्' इत्यादौ त्वगिन्द्रिये निरूढलक्षणा। ····अन्यथा रूढिशक्तिरेवेति बोध्यम्। प्रयोजनवती तु 'कुन्ताः प्रविशन्ति'।

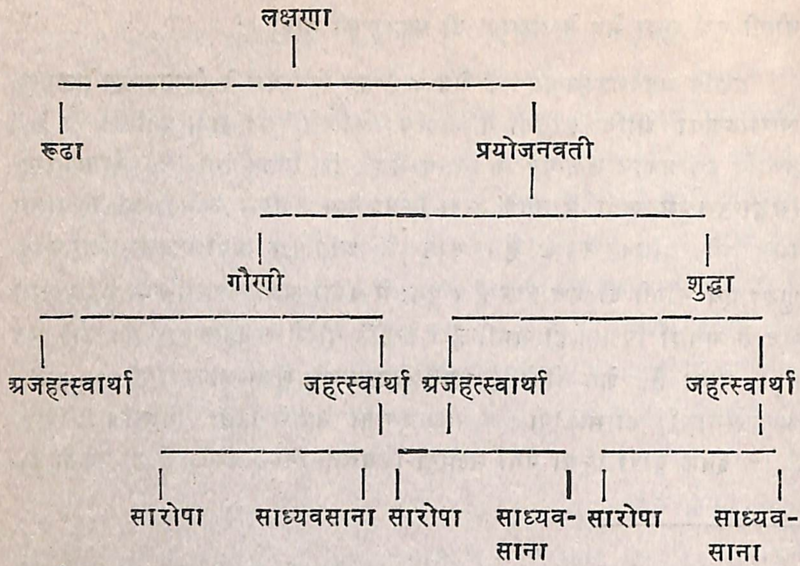
—वैय्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृ. 100-101

2 केचित्तु, 'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादिप्रयोगे ग्रामादिपदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्तिः। तत्र जहदजहल्लक्षणाख्योऽन्योपि भेदः, दग्धभूयस्त्वादिद्योतनं फलमित्याहुः।

—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 30

3 सा द्विविधा—शुद्धा, गौणी च। ·······ते च प्रत्येकं द्विविधे—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च। ······· एवञ्च लक्षणा प्रकारान्तरेणापि द्विधा सम्पन्ना, रूढा प्रयोजनवती च। तत्र रूढोदाहृता। प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था। यथा—'कुन्ता प्रविशन्ति'। ·······सा जहत्स्वार्था। यथा—'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। गौणी आद्या तु नास्त्येव, सादृश्यसम्बन्धेन लक्षणायां मुख्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनानन्वयात्। गोवाहीकोभयपरे 'गावः एते समानीयन्ताम्' इत्यादौ गोवाहीकसमुदायश्छत्रिन्यायेन लक्ष्यते, न तु गौसदृशत्वेन, स्वस्मिन् भेदघटितस्वसादृश्याभावादिति प्राञ्चः। ··· एषा गौणी जहत्स्वार्था। यथा—'गौर्वाहीकः' इदमेवभेदद्वयं सारोपासाध्यवसानात्वेन आलङ्कारिकैर्व्यवहृतम्।

—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 22-26



उपसंहार

लक्षणा के इन भेदोपभेदों तथा उनकी सारणियों को प्रस्तुत करने के पश्चात् समाहाररूप से यह कहा जा सकता है कि जहां कुछ आचार्य अनावश्यक रूप से इसके भेद प्रस्तुत करने के पक्षधर हैं, वहां कुछ ऐसे भी आचार्य हैं, जो अत्यधिक संक्षिप्तीकरण के प्रति आस्थावान् हैं। प्रथम-कोटि में **विश्वनाथमहापात्र, जयदेव, अच्युतराय** आदि परिगणित किए जा सकते हैं, तो दूसरी कोटि में **प्रभाकरभट्ट** तथा **रामकर्ण आसोपा** के नाम उल्लेखनीय हैं, जो दो भेदों में ही लक्षणा के समस्त भेदों का समाहार कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त **विद्यानाथ** तथा **अजितसेन** आदि लक्षणा के चार भेदों के पक्षपाती हैं और **मौनिश्रीकृष्णभट्ट** पांच भेदों को स्वीकार करते हैं।

इन सबमें **मम्मट** द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्गीकरण सर्वाधिक संतुलित प्रतीत होता है। 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह **मम्मट** के वर्गीकरण का सूत्र-वाक्य है। उनके टीकाकारों ने इस षड्विधत्व की व्याख्या के प्रति टीका में अथवा अपने स्वतन्त्र-ग्रन्थों में चार प्रकार के दृष्टिकोण अपनाए हैं। उदाहरणत: इनके एक टीकाकार **गोकुलनाथ-उपाध्याय** ने अपने **भक्ति (लक्षणा)**विवेक में यह प्रतिपादित किया कि षड्विधत्व का यह अर्थ नहीं है कि केवल प्रयोजनवती के ही छ: भेद किए जावें, अत: उन्होंने निरूढा के तीन तथा प्रयोजनवती के तीन भेद कर षड्विधत्व की नई व्याख्या की है। **चण्डीदास** नामक दूसरे टीकाकार का कथन है कि षड्विधा का अर्थ षट्संख्यका न होकर षड्-उपाधियुक्ता किया जाना अधिक समीचीन होगा और इस प्रकार उसके अनेक भेद भी हो सकेंगे।

दो प्रकार के टीकाकार ऐसे हैं, जो षड्विधत्व तो मात्र प्रयोजनवती का ही स्वीकार करते हैं, परन्तु इस विभागक्रम में उनका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक प्रकार के टीकाकार शुद्धा के चार भेद—**उपादान**, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना तथा गौणी के दो भेद—सारोपा साध्यवसाना करके षड्विधत्व की एक प्रकार की व्याख्या करते हैं, तो दूसरे टीकाकार पहले शुद्धा के दो भेद—उपादान और लक्षण करके इन्हें द्विधा विभक्त (सारोपा, साध्यवसाना) करते हैं और गौणी के दो भेद (सारोपा, साध्यवसाना) के योग से लक्षणा का वर्गीकरण करते हैं। **मम्मट** के लगभग सारे टीकाकार इन चार वर्गों में ही विभाजित हैं। यदि इन टीकाकारों के विश्लेषण को छोड़ भी दिया जाय तो इतना कहा जा सकता है कि **मम्मट** के मतानुसार लक्षणा के तेरह ही (1 रूढि, 6 प्रयोजनवती गूढ-व्यंग्या, 6 प्रयोजनवती अगूढ-व्यंग्या) भेद संभव हैं।

इसके बाद लक्षणा के भेद-प्रसंग में **विश्वनाथ-महापात्र** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि **महापात्र** के पूर्ववर्ती **चन्द्रालोककार जयदेव** ने लक्षणा-विभाजन को विस्तार देने का उपक्रम कर दिया था, परन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत की गई भेद-नामावली प्रचलित न हो सकी। **विश्वनाथ** ने निरूढा के भी भेद किए तथा गौणी को भी उपादानलक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा-रूप से विभाजित करके इस भेद-संख्या को अस्सी की सीमा तक पहुंचा दिया। यद्यपि लक्षणा-विवेचन तथा भेद-प्रसङ्ग में **विश्वनाथ** के योग-दान को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि वे मौलिक उद्भावनाएं भी प्रस्तुत करने में सक्षम हुए हैं, परन्तु उनका यह अति-भेद-व्यसन परवर्ती आलङ्कारिकों में समादृत न हो सका।

वस्तुस्थिति इस प्रकार प्रतीत होती है कि **मम्मट** द्वारा प्रवर्तित लक्षणा का षड्विधत्व ही वह केन्द्रबिन्दु रहा जिसको आधार मानकर कुछ परिवर्धन भी किए गए, उदाहरणतः **विद्याधर**, **धर्मसूरि**, **अप्पयदीक्षित** तथा **विद्याभूषण** आदि ने प्रयोजनवती—शुद्धा के भेद के रूप में जहदजहल्लक्षणा का और परिगणन कर लिया। उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा इस भेद की स्वीकृति वेदान्तियों से प्रभावित थी, उदाहरणों के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

एक अन्य आलङ्कारिक **अच्युतराय** ने **मम्मट** को ही आधार मानकर लक्षणा के बीस भेद किए हैं, जिनमें समस्ता, व्यस्ता आदि नये प्रभेद उपलब्ध होते हैं। प्रतीत होता है कि इन भेदों की उद्भावना में वे व्यञ्जना की बहुविध-भेद-सरणि से प्रभावित रहे हैं।

षष्ठ अध्याय

लक्षणा के प्रमुख भेदों का विवेचन

पिछले अध्याय में हमने देखा कि, विभिन्न आचार्य लक्षणा के भेदोपभेदों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। अब हम इस अध्याय में लक्षणा के प्रमुख भेदों को ऐतिहासिक-क्रम से, विभिन्न आचार्यों के मतानुसार विवेचित करेंगे। लक्षणा में दो मूल भेद सर्वसम्मत हैं—रूढि तथा प्रयोजनवती। रूढि के भेद केवल **जयदेव, विश्वनाथ** प्रभृति कतिपय आचार्य ही स्वीकार करते हैं। प्रयोजनवती-लक्षणा के शुद्धा और गौणी ये दो भेद सभी मुख्य आचार्यों को मान्य हैं। अधिकतर आचार्यों ने प्रयोजनवती-शुद्धा-लक्षणा के चार भेद किए हैं। 'लक्षणा तेन षड्विधा' की, टीकाकारों ने अपने-अपने अनुसार व्याख्या की है। प्रयोजनवती-शुद्धा के चार भेदों का वर्गीकरण **वामन-झलकीकर** आदि टीकाकारों ने, क्रमशः उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना के रूप में किया है। दूसरी ओर **अमरचन्द्रयति** एवं **प्रदीपकार** आदि विद्वानों ने प्रथमतः प्रयोजनवती-शुद्धा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा नामक दो भेद किए हैं तथा फिर इन दोनों के भी सारोपा तथा साध्यवसाना दो-दो भेद करके प्रयोजनवती शुद्धा का चातुर्विध्य स्वीकार किया।

प्रयोजनवती-गौणी-लक्षणा के सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद करके ये आचार्यवृन्द शुद्धा एवं गौणी को मिलाकर लक्षणा का षड्विधत्व स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर प्रयोजनवती-गौणी को भी **विश्वनाथ** आदि कतिपय आचार्य उपादान-लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा के भेद से द्विधा विभाजित कर पुनः इन दोनों के सारोपा तथा साध्यवसाना दो-दो भेद कर गौणी का भी चातुर्विध्य स्वीकार करते हुए लक्षणा को अष्टधा विभाजित करने के पक्षपाती हैं।

पण्डितराज-जगन्नाथ आदि कतिपय आचार्यों ने लक्षणा के भेदों के षड्विधत्व का वर्गीकरण **वामन-झलकीकर** आदि के समान माना है, किन्तु वे उपादान-लक्षणा, लक्षणलक्षणा को अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था नाम से अभिहित करते हैं। वेदान्तियों द्वारा प्रवर्तित, जहदजहत्स्वार्था-नामक लक्षणा

के एक अन्य भेद को, नव्य-वैय्याकरणों ने भी प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों के अन्तर्गत ही माना है। अप्पयदीक्षित एवं राजचूड़ामणि आदि आचार्यों ने भी इस भेद को माना है। इस भेद को मानने के कारण, उनके अनुसार फलवती-लक्षणा सप्तविधा हो जाती है।

वेदान्ती लोग उक्त जहदजहल्लक्षणा को भागत्याग-लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं। लक्षणा का एक अन्य भेद—लक्षितलक्षणा भी है, अधिकतर आचार्यों ने इसे माना है। इन प्रमुख भेदों का विवेचन ही इस अध्याय का विषय है।

रूढि-लक्षणा का विवेचन

लक्षणा के आवश्यक-तत्त्वों में रूढि या प्रयोजन में अन्यतर का होना अनिवार्य है। इस आधार पर लक्षणा के रूढि और प्रयोजन ये दो मुख्य भेद हो जाते हैं. अतः सर्वप्रथम रूढि-लक्षणा पर विचार किया जा रहा है।

रूढि-लक्षणा

लक्षणा के लिए तीन हेतुओं का होना आवश्यक है। तृतीय-हेतु, प्रयोजन अथवा रूढि (लोकप्रसिद्धि) को माना गया है। इस तृतीय-हेतु के कारण लक्षणा को सर्वप्रथम रूढि तथा प्रयोजनवती भेद से द्विधा बिभाजित किया जाता है। तस्तुतः जब रूढि (प्रचलित-प्ररम्परा) के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ की प्रतीती होती है, तब वहां रूढि लक्षणा होती है। यथा—'कलिङ्गः साहसिकः' कलिङ्ग साहसी है, यहां कलिङ्ग शब्द में लक्षणा है। कलिङ्ग कोई व्यक्ति नहीं है जिसे कि साहसिक कहा जाय, वह तो एक देश विशेष है, अतः लक्षणा-शक्ति से कलिङ्ग का अर्थ कलिङ्ग का निवासी व्यक्ति लिया जाता है। कलिङ्ग निवासी को कलिङ्ग कहना एक प्रकार की रूढि है, अतः उक्त उदाहरण रूढि-लक्षणा का है। इसी प्रकार का प्रमुख उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' भी साहित्यशास्त्र में बहुचर्चित है।

रूढि की व्याख्या

काव्यप्रकाश के टीकाकार **वामन-झलकीकर** ने रूढि को लक्ष्यार्थ विरहित मानते हुए, साक्षात् ही शब्द-बोध के जनक ज्ञान को रूढि कहा। यहां पदार्थोपस्थिति समकाल ही रूढि से शब्द-बोध हो जाया करता है। जैसे—तिल-विकारभूत, द्रव्य-मात्र में प्रयुक्त होने वाले तैल-शब्द का सार्षपद्रवादि में भी

प्रयोग किया जाना रूढि ही माना जाता है।[1] इस प्रकार रूढि के कारण होने वाली लक्षणा, रूढि-लक्षणा कहलाती है। रूढि-लक्षणा की यह स्पष्ट स्थिति होते हुए भी आचार्यों ने रूढि की एक अवान्तर रूप की भी कल्पना की और उसका नाम निरूढि कहना अधिक युक्ति-सङ्गत माना। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कतिपय आचार्य रूढि और रूढा को तथा निरूढि एवं निरूढा को प्रर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहृत करते हैं। कुछ अन्य आचार्य तो अभिधा, निरूढा और रूढा के सूक्ष्म-भेदों का भी आलकन करते हैं, जो अपने आपमें उनकी सूक्ष्मबुद्धि का परिचायक है। यहां पर उस भिन्नता का संक्षिप्तरूपेण दिग्दर्शन कराना उचित होगा।

अभिधा, निरूढा और रूढा का भेद-विवेचन

गोकुलनाथ-उपाध्याय ने निरुढि-लक्षणा का छन्दोबद्ध–लक्षण किया है, ये रूढि के स्थान पर निरूढि-लक्षणा को अङ्गीकार करते हैं। **उपाध्याय** ने निरूढि का लक्षण करते हुए कहा कि, तत्तत् पदों के आधीन तदर्थ के बोध हो जाने पर जहां सजातीय-बुद्धि, अर्थात् व्युत्पत्ति-कृत वाच्यार्थ या मूल-अर्थ का ध्वंस या तिरोधान हो जाता है, वहां निरूढि लक्षणा होती है।[2] निरूढि का ज्ञान पदार्थ-बोध के समकाल ही उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार वह साक्षात् शाब्द-बोध का जनक है।

नागेश एवं **आशाधरभट्ट** की मान्यता के अनुसार जहां वाच्य-अर्थ को छोड़कर लक्ष्य-अर्थ में ही वाचक-शब्द अभिधावत् रूढ हो जाता है, वहां निरूढा-लक्षणा होती है। **नागेश** यहां प्रयोजनाभाव भी मानते हैं। नागेश ने भी समाधान देते हुए कहा कि जहां कुशल आदि पदों में बाध-प्रतिसन्धान-पूर्वक ही दक्षरूप आदि अर्थों का बोध होता है, जो प्रामाणिक एवं अनुभव

---

1 वस्तुतस्तु लक्ष्यार्थेन विनाकृते शक्यार्थे प्रयोगो यस्य तादृशे पदे यल्लक्ष्यार्थ-बोधकप्रयोगबाहुल्यं सा रूढिः। यथा तिलविकारद्रवमात्रे प्रयुक्तस्य तैल-शब्दस्य सार्षपे, इति प्रतिपादितं प्राक्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), पृ. 44-45

2 निरूढिस्तत्पदाधीनतदर्थप्रतिपत्तिषु।
सर्वास्वेव सजातीयबुद्धिध्वंसविशिष्टता॥
..................निरूढेर्ज्ञानं साक्षादेव शाब्दबोधजनकं न तु पदार्थोपस्थापकतया, अत एव पदार्थोपस्थितिसमकालेन निरूढिज्ञानेनापि शाब्दबोधः।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 11

सिद्ध भी हो, वहां लक्षणा (रूढा) मानी जायेगी । इससे भिन्न स्थिति में रूढि-शक्ति, अर्थात् अभिधा का अपरपर्याय वाच्य ही माना जाएगा । निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि, बाध की स्थिति में कुशल आदि पदों में रूढा तथा बाध के अभाव में निरूढा-लक्षणा, जो शक्ति (अभिधा) का अपरपर्याय ही है, मानी जा सकती है । **आशाधरभट्ट** के अनुसार अभिधा में तो कभी भी बाध की स्थिति नहीं रहती है, किन्तु निरूढा के मूल में कभी बाध सत्ता रही होती है, यही इन दोनों का पार्थक्य सर्वत्र निरूढा-लक्षणा तथा शक्ति (अभिधा) में देखा जा सकता है ।[1] **महेश्वरन्यायालङ्कार** (1640 ई.) के मतानुसार रूढि-लक्षणा के लिए भूरिप्रयोगमात्र ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ से विनिर्मुक्त केवल शक्यार्थ में प्रयुक्त शब्द का, लक्ष्यार्थ में भूरिप्रयोग होना भी रूढि-लक्षणा के लिए आवश्यक है ।[2] रूढा की स्थिति में एक मोड़ ऐसा भी आता है, जब उसे निरूढा के नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

रूढि तथा प्रयोजनवती-लक्षणा में अन्तर

रूढि-लक्षणा सदा ही निर्व्यङ्ग्या होती है तथा प्रयोजनवती लक्षणा सव्यङ्ग्या होती है ।[3] कतिपय **मुकुलभट्ट**, **गोकुलनाथ-उपाध्याय** प्रभृति आचार्य निरूढा को सव्यङ्ग्या मानने के भी पक्षपाती हैं । आचार्यों की परम्परा में **गोकुलनाथ-उपाध्याय** एक आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने रूढा के लिए रूढि तथा निरूढा के लिए निरूढि शब्द को व्यवहृत किया है । वे यहां प्रयोजन की सत्ता सहर्ष स्वीकार करते हैं । इतना ही नहीं इस निरूढा के उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दो भेद भी उन्हें मान्य हैं । इसके विषय में आगे विचार किया जायेगा । पूर्वोक्त प्रकार से रूढा, निरूढा तथा प्रयोजनवती-लक्षणाओं के विषय में संक्षेप से वर्णन करने के अनन्तर अब ऐतिहासिक-क्रम से रूढा एवं निरूढा-लक्षणा को वर्णित किया जाता है ।

---

1 शक्तिवत्कोशादिप्रसिद्धा निरूढा । इयं च मुख्यार्थबाधे प्रवर्त्तत इति शक्तितो विशेषः । एषाऽनादिलक्षणेत्याहुः ।
—त्रिवेणिका, पृ. 18

2 लक्षणाहेतू रूढिर्न भूरिप्रयोगमात्रम्, किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तकेवलशक्यार्थे प्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्ष्यार्थे भूरिप्रयोग एव लक्षणाहेतू रूढिः, यथा—केवले देशे शक्यार्थे प्रयुक्तस्य कलिङ्गशब्दस्य कलिङ्गत्वेन पुरुषे ।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार-भट्टाचार्य), पृ. 54

3 व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।
—काव्यप्रकाश, पृ. 67

शबरस्वामी ने प्रारम्भ में इस शक्ति को लोकव्यवहार पर आधारित मानते हुए, समाज के द्वारा आरोपित अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति के रूप में माना। तदनन्तर **कुमारिलभट्ट, आनन्दवर्धन, मुकुलभट्ट** आदि ने इस विषय में अपने विचार निम्न-प्रकार से प्रस्तुत किए हैं। **कुमारिलभट्ट** (650-750 ई.) ने 'तन्त्रवार्तिक' में रूढि-लक्षणा के लिए निरूढा-लक्षणा शब्द व्यवहृत किया। इनके अनुसार 'कुछ लक्षणाएं' (पहले से चली आ रही) निरूढ रहती हैं। उनमें अभिधा जैसी ही अर्थ-समर्पकता रहती है। कुछ लक्षणाएं इस समय (तत्काल) की जाती हैं, कुछ नहीं की जातीं (अग्राह्य होती हैं), क्योंकि वे अर्थज्ञान की शक्ति से रहित रहती हैं।[1]

आनन्दवर्धन (850-875 ई.) के अनुसार निरूढ-अभेदोपचार ऐसे स्थलों में होता है, जिनमें कारण न तो वाच्य रहता और न व्यंग्य। ऐसे स्थानों को **आनन्दवर्धन** ने 'निरूढा' लक्षणा का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'लावण्य' आदि शब्दों को। लावण्य का शाब्दिक अर्थ खारापन, लवणता होने पर भी इस शब्द का प्रयोग अङ्गों के झलकते 'आव' के लिए होता है। यहां लावण्य कहने से 'आव' की प्रतीति होती है, जो न इसका वाच्यार्थ है और न व्यंग्यार्थ ही।[2] **आनन्दवर्धन** के अनुसार जहां तक व्यङ्ग्य का विषय है, प्रयोजनमूला-लक्षणा में ही रहता है, रूढा-लक्षणा में क्षीण, अर्थात् समाप्तप्राय रहता है, अतः तज्जन्यचमत्कार की स्थिति भी समाप्तप्राय हो जाती है। इसी को दृष्टिगत कर ध्वनिकार रूढा-लक्षणा में व्यञ्जना की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि जब शब्द अपने व्युत्पत्ति-परक अर्थ से भिन्न विषय में रूढ हो जाते हैं, तो वे शब्द लावण्य आदि शब्द की भांति ध्वनि का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते हैं।[3]

मुकुलभट्ट (883-925 ई.) ने अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा कि, निरूढा-लक्षणा का उदाहरण 'राजा' आदि पद है। ऐसे स्थानों पर वृद्ध-

---

1 निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥
—तन्त्रवार्तिक, चौ. सं. बुक डिपो, बनारस, 1903 ई., पृ. 700

2 आनन्दवर्धन, पृ. 247

3 रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ 1. 16
—ध्वन्यालोक, पृ. 156

व्यवहार और वक्ता आदि के आधार पर, शब्द अन्य-अर्थ में प्रयुक्त होते देखे जाते हैं।[1] अन्त में भट्ट ने यह भी समाधान दिया है कि 'द्विरेफ' के समान 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' शब्द लक्षणा का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि रूढा-लक्षणाओं को वृद्धों के द्वारा अनुमोदित होना चाहिए। यहां 'द्विरेफ' शब्द वृद्ध-व्यवहार से अनुमोदित है, परन्तु इसके विपरीत उक्त पद 'वडवामुखाग्नि' के लिए न निरूढ ही है और न ही वृद्ध-व्यवहार द्वारा अनुमोदित है।[2] इन्होंने रूढा में भी प्रयोजन की सत्ता मानी है। भले ही वह प्रयोजन, व्यवहित अर्थ को अपनाने में अनादिकाल से चले आ रहे वृद्ध-व्यवहार किंवा प्रसिद्धि के कारण आगे चलकर रूढि की स्थिति में आ जाता है। यही स्थिति उन्होंने 'द्विरेफ' शब्द में भी मानी है।[3] इसके समाधान में डॉ. **रेवाप्रसाद द्विवेदी** ने भी अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि 'द्विरेफ' आदि पदों में प्रयोजन प्रकारान्तर से भले ही हो सकता है, किन्तु अनुसरण-रूप प्रयोजन नहीं हो सकता है।[4]

---

1 तत्र निरूढा लक्षणा राजेत्यादिका:। साम्प्रतं क्रियन्ते या वृद्धव्यवहार-वक्त्राद्यपेक्षया तथाविधेऽन्यत्रविषये परिदृष्टस्वभावा:।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 27

2 द्विरेफादीनां शब्दानां रेफद्वितयानुगत-भ्रमरादि-शब्द-लक्षणाद्वारेण यथा षट्पदादौ प्रवृत्ति:, तथा तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहशब्दस्यापि वडवामुखाग्नौ वडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथं प्रवृत्तिर्न स्यात्, तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षणाया: परिदृष्टत्वात्। ·······तथाविधविषये वृद्धव्यवहारेण तासामभ्यनुज्ञातत्वात्।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 29-30

3 द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगितया भ्रमरशब्दलक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत् प्रयोजनमुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषप्रतिपादनं नाम।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 50

4 मुकुलभट्ट निरूढा लक्षणा में भी 'रूढि का अनुसरण'-रूप प्रयोजन बतला रहे हैं, किन्तु रूढि में प्रयोजन सम्भव नहीं है। हो भी तो हमारी समझ में यहां 'द्विरेफ' आदि पदों में अपने प्रतिपाद्य को छिपाना और उसके द्वारा अधिक आकर्षण या चमत्कार ला देना प्रयोजन हो सकता है।
—वही, (डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी-कृत विमर्श), पृ. 52

अभिनवगुप्त (11 वीं श.) ने भी प्रयोजनाभावस्थल में जहां उपचार की स्थिति है, ऐसे वाक्यों के विषय में निरूढा की स्थिति मानी है। निरूढा-विषयक वर्णन से पूर्व उन्होंने कहा कि जहां मूलतः प्रयोजन नहीं है, किन्तु उपचार है, वहां भी ध्वनन व्यापार क्या ? ये कहते हैं कि और भी 'लावण्य' आदि जो शब्द लवण रस से 'युक्तत्व' आदि अपने विशेष-रूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्व आदि अर्थ में रूढ हैं, रूढ होने के कारण मुख्यार्थबाध आदि त्रितय के व्यवधान से रहित हैं। क्योंकि कहा है—'कुछ निरूढ लक्षणाएं प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सदृश होती हैं।' वे 'लावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर भी. ध्वनि के विषय नहीं होते हैं, ध्वनि व्यवहार उनमें नहीं होता है। उन्होंने यह भी कहा है कि इस प्रकार की निरूढ लक्षणाएं प्रयोग के सम्बल से अभिधान के सदृश ही हुआ करती हैं। मुख्यार्थबाधादि त्रितय के सन्निधान का व्यवधान वहां नहीं पाया जाता है।[1]

भोज (1010-1062 ई.) ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** तथा **शृङ्गारप्रकाश** में वर्णित लक्षितलक्षणा के षड्भेदों के अन्तर्गत प्रथम भेद रूढ-लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'द्विरेफ' आदि पद को उपन्यस्त किया है। उन्होंने प्रयोजन विषयक चर्चा वहां नहीं की है, अतः स्पष्ट होता है कि उन्हें रूढा में प्रयोजन का राहित्य ही अभिप्रेत है। उन्होंने कहा—जहां किसी प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा लक्षित अभिधान (वाच्यार्थ) से रूढलक्षण अर्थ ही लक्षित होता है, वहां रूढ-लक्षणा होती है, किन्तु 'द्विरेफ' शब्द से 'कुरर' आदि शब्द लक्षणा की प्रतीति के विषय में नहीं माने जा सकते हैं। 'द्विरेक' शब्द से 'भ्रमर' आदि के समान 'कुरर' आदि शब्दों को लक्षणया प्रतीति का विषय मानने को '**सरस्वतीकण्ठाभरण** के टीकाकार **रत्नेश्वरमिश्र** तैयार नहीं हैं, वहां

---

1 एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—किञ्चेति। लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः, रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधान-शून्याः। यदाह—'निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्'।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 155

अन्यच्च

—कल्पलताविवेक, पृ. 123

भोज भी रूढा-लक्षणा मानने को तैयार नहीं हैं।[1]

मम्मट (1100 ई.) ने आगे चलकर लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'कर्मणि कुशलः' इस वाक्य का प्रयोग किया है। लक्षणा के लिए अपेक्षित तीनों तत्त्व—मुख्यार्थबाध, तद्योग, तथा रूढि की विद्यमानता में, यहां रूढि-लक्षणा को माना है। 'कर्मणि कुशलः' लेखन आदि कार्य में निपुण है, इत्यादि में 'कुशान् लाति आदत्ते कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों को लाने में कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ में बाधा होने पर, विवेचकत्वादि सम्बन्ध होने पर, यहां पर 'कुशल' पद 'दक्ष' अर्थ में रूढ होने के कारण रूढि से, अर्थात् प्रसिद्धि से मुख्यार्थवश अमुख्य-दक्षरूप अर्थ लक्षित होता है। दक्षरूप अर्थ, शब्द का अव्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द का व्यापार—लक्षणा है।[2]

मम्मट-प्रदत्त उक्त रूढि का उदाहरण आगे चलकर एक विवाद का विषय बन गया। **काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकार साथ ही विश्वनाथ** प्रभृति आचार्य इस उदाहरण के विषय में घोर आपत्ति प्रकट करते हैं तथा स्वयं **मम्मट ने भी अपनी ही एक द्वितीय-कृति शब्दव्यापारविचार** में रूढा तथा निरूढा लक्षणा को भी वर्णित किया है, उन्होंने निरूढा के उदाहरण के रूप में 'अनुलोम' 'प्रतिकूल' आदि पद दिए और कहा कि, यह लक्षणा वहीं होती

---

1 यस्यां यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्त्या लक्षितेनाभिधानेन रूढिलक्षण एवार्थो लक्ष्यते सा रूढलक्षणा। दुरोदरश्चक्रवाको द्विरेफौ भ्रमर इति। यथा-'मधुद्विरेफः', अत्र दुरोदरत्वं द्विरेफत्वञ्च कुररेऽपि सम्भवति, न चात्र रूढा लक्षणेति। नायं लक्ष्यते।

—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 234

अन्यच्च

अत्र हि द्विरेफादीनां शब्देन लक्षित एव भ्रमरभृतिर्लक्ष्यते न तु कुररादिः।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, सव्याख्य, (व्या. रत्नेश्वरमिश्र) पृ. 279

2 'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात् 'गंगायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः ...... मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

—काव्यप्रकाश, पृ. 52

अन्यच्च

—शब्दव्यापारविचार, पृ. 7

है, जहां वाच्य-अर्थ को छोड़कर लक्ष्य-अर्थ में ही वाचक-शब्द अभिधावत् रूढ हो जाता है ।[1]

हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) एवं रूढा लक्षणा

हेमचन्द्राचार्य 'कर्मणि कुशल:' को रूढा का उदाहरण नहीं मानते हैं। साक्षात् संकेत का विषय होने के कारण मुख्या, अर्थात् अभिधा से बोध्य मानते हैं।[2] इन्होंने लक्षणा के निमित्तत्रयों में रूढा का उल्लेख नहीं किया है, अत: कहा जा सकता है कि इन्हें रूढा, लक्षणा की कोटि अभिप्रेत नहीं है।[3] **कल्पलताविवेककार** का भी मत है कि निरूढा-लक्षणा अभिधावत् है, वैसे **हेमचन्द्र, अभिनवगुप्त, भट्टसोमेश्वर, माणिक्यचन्द्र** आदि इसी मत के समर्थक हैं। इस विषय में **काव्यप्रकाश** के टीकाकारों ने समय-समय पर जो मान्यताएं उपस्थापित की हैं, उनका भी उल्लेख करना प्रसङ्गानुकूल ही होगा, अत: सर्वप्रथम **काव्यप्रकाश** के प्राचीनतम टीकाकारों को यहां लिया जा रहा है।

काव्यप्रकाश के प्राचीनतम टीकाकार **सोमेश्वरभट्ट** तथा **माणिक्यचन्द्र** (12 वीं श.) के अनुसार 'कुशल' शब्द से प्रवीण-रूप अर्थ, लक्षणा-व्यापार द्वारा जाना जाता है। इन्होंने 'द्विरेफ', द्विक, लावण्य आदि शब्दों को लक्षणा द्वारा क्रमश: भ्रमर, काक, हृद्यत्व आदि लक्ष्यार्थ में रूढ माना है।[4] प्रकरणात:

---

1 निरूढा काचनान्या ……।
अनुलोमप्रतिकूलादिशब्देषु काचन सा वाच्यमर्थं परिहृत्य लक्ष्य एवार्थे वाचकवन्निरूढा।
—शब्दव्यापारविचार, पृ. 23

2 कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्संकेतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढि:।
—काव्यानुशासन, पृ. 195

3 मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च।
—वही, पृ. 182

4 कुशान् लातीति ……। आदिशब्दाद् द्विरेफादय:। द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगिभ्रमरशब्दे लक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। यथा वा लावण्यादयो लवणरसयुक्तत्वादे: स्वार्थाद् अन्यत्र हृद्यत्वादौ लक्ष्ये रूढा:।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. सोमेश्वरभट्ट), पृ. 26-27
अन्यच्च
—वही, (टीका. माणिक्यचन्द्र), पृ. 26-27

प्राप्त अरूढ-पदों में रूढा-स्थिति-विषयक इन टीकाकारों की विचारधाराओं को यहां प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

अरूढ पदों की रूढा-विषयक स्थिति दोषपूर्ण

माणिक्यचन्द्र तथा **सोमेश्वर** की मान्यता है कि 'वडवाग्नि' के लिए 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह:' शब्द का प्रयोग करना गर्हित है, क्योंकि वह इस अर्थ में रूढ नहीं है। किसी शब्द को वृद्धों द्वारा व्यवहृत होने के कारण ही उसे रूढा मान लेना उचित नहीं है। वस्तुत: उस शब्द का उस अर्थ में पूर्णत: रूढ हो जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार रूढा-लक्षणा में अरूढ शब्दों का प्रयोग करना अनुचित ही माना जाना चाहिए।[1] इन दोनों टीकाकारों ने **कुमारिल** प्रोक्त 'निरूढा लक्षणा: काश्चित्' की व्याख्या करते हुए 'निरूढा' के लिए 'भ्रष्टोपचारप्रतीति' शब्द का प्रयोग किया तथा निरूढा को भ्रष्ट-उपचार-प्रतीति मानते हुए निरूढा-लक्षणा के शब्दों को अभिधा के समान माना है।[2] वस्तुत: प्रयोगाधिक्य के कारण लोग शब्द के वास्तविक अर्थ को भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में लक्षणा-शक्ति का जो व्यापार होता है, उसे निरूढा नाम से अभिहित किया जाता है। यहां आकर लक्षणा का स्थान अभिधा ले लेती है।

काव्यकल्पलतावृत्तिकार-अमरचन्द्रयति (11-13 वीं श.) के अनुसार ऐसे रूढ-शब्द अपने विषय से भिन्न-विषय में प्रयुक्त होने पर ध्वनि के स्थान कभी नहीं बनते हैं।[3]

---

1 ....तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहशब्दो वडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्त:। न चासौ तत्र रूढो, वृद्धव्यवहारेष्वननुज्ञातत्वादिति दुष्टत्वम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. सोमेश्वरभट्ट), पृ. 27
अन्यच्च
लक्षणया प्रवृत्त:, न च तत्र रूढ:। व्यवहारेऽनभ्यनुज्ञातत्वादिति द्रष्टव्यम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. माणिक्यचन्द्र), पृ. 27

2 'निरूढा' इति भ्रष्टोपचारप्रतीतय: 'लक्षणा' इति लक्षणाशब्दा:। 'अभिधानवद्' वृक्षादिनामवत्।
—वही, पृ. 27

3 रूढिलक्षणायान्तु व्यंग्यप्रयोजनाभावात् शब्दस्य न व्यञ्जकता न व्यञ्जनव्यापार:।
—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44

कुशल पद में रूढि-लक्षणा का विरोध

चण्डीदास (1300 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की टीका में 'कर्मणि कुशलः' शब्द की **मम्मट**-कृत व्युत्पत्ति पर असहमति प्रकट की है तथा उसे वैय्याकरणों से अनुप्राणित होकर लिखी गयी वृत्ति माना है, अतः 'कुशान् लातीति कुशलः' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बाधित होकर दक्ष-रूप अर्थ रूढ्या परिणत हो जाना इन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि यदि व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को ही मुख्य अर्थ माना जाय तो 'गौः शेते' वाक्य में भी 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्ति से 'जो चलता है वह सोता है', यह मुख्यार्थ हुआ। इस वाक्य में मुख्यार्थ-बाध के कारण लक्षणा होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं है, अतः यह 'कुशल' पद भी रूढा-विषयक उदाहरण नहीं बन सकता है। इस प्रकार **चण्डीदास** ने इस वाक्य में रूढि-लक्षणा-विषयक अपनी असहमति प्रकट करते हुए अपना मत व्यक्त किया कि इसके स्थान पर 'कलिङ्गाः साहसिकाः' यह उदाहरण देना समीचीन होगा।[1]

विश्वनाथ(1300-1380 ई.) ने **साहित्यदर्पण** के अतिरिक्त **काव्यप्रकाश** की **दर्पण** नामक टीका में रूढा-लक्षणा का विवेचन किया। उन्होंने इन दोनों ही ग्रन्थों में **मम्मट**-प्रोक्त 'कर्मणि कुशलः' रूढा-विषयक इस उदाहरण का खण्डन करते हुए अपना 'कलिङ्गः साहसिकः' उदाहरण दिया है।[2] यहां यह ज्ञातव्य है कि इस विषय में दिए गए उनके तर्क **दीपिकाकार-चण्डीदास** से अनुप्राणित होकर ही प्रवर्तित हुए हैं।[3] आचार्य**विश्वनाथदेव** (1592 ई.)

---

1 वस्तुतस्तु भिन्ने एव व्युत्पत्तिप्रवृत्तिनिमित्ते। अन्यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या 'गौः शेते' इत्यादौ गोपदमपि लाक्षणिकमेव स्यात्। 'कलिङ्गाः साहसिकाः' इत्यादि रूढावुदाहार्यम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 41-42

2 इह कुशलशब्दे दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् मुख्यार्थबाधाभावाच्च लक्षणातः कुशग्राहिकरूपस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि मुख्यार्थत्वाभावात् अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि गमधातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यापि लाक्षणिकप्रसङ्गः इत्यन्ये (अस्मदादयः) तेनात्र 'कलिङ्गः साहसिकः' इति रूढावुदाहार्यम्। इह कलिङ्गशब्दो देशविशेषवाचकत्वात् मुख्यार्थबाधा-दाधार्याधारभावसम्बन्धाच्च कलिङ्गदेशस्थं पुरुषं लक्षयति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 18

ने भी दर्पणकार का अनुसरण किया है।[1] अधिकतर विद्वानों की यही धारणा बनी हुई है कि 'कर्मणि कुशलः' में रूढा-लक्षणा-विषयक खण्डन सर्वप्रथम दर्पणकार-विश्वनाथ ने किया है, किन्तु उक्त टीकाओं के अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि दर्पणकार ने उक्त विषय को टीका का विषय न बनाकर मूल-ग्रन्थ का विषय बना दिया, अतः यह तर्क विश्वनाथ के नाम से ही उन्हीं का प्रयत्न समझा जाने लगा।

टीकाकारों की दृष्टि में रूढि-लक्षणा

इनके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के टीकाकार श्री महेश्वरन्यायालङ्कार (1640 ई.) तथा गोकुलनाथ-उपाध्याय (1709 ई.) ने भी 'कर्मणि कुशलः' में रूढिलक्षणा मानने में अरुचि प्रदर्शित की है। महेश्वरन्यायालङ्कार 'कलिङ्गः साहसिकः' रूढा के सर्वसम्मत इस उदाहरण को मानने के लिए कहते हैं। गोकुलनाथ-उपाध्याय ने 'कलिङ्गः साहसिकः' के अतिरिक्त 'कौवलयं चक्षुः', 'गोदो ग्रामः' इत्यादिक वाक्यों को ही रूढि-लक्षणा का उदाहरण मानने के लिए आग्रह किया है। ये 'कर्मणि कुशलः' को रूढि का उदाहरण मानने के लिए तैयार नहीं हैं।[2] गोकुलनाथ ने चण्डीदास के समान ही कुशल-पद को दक्ष-अर्थ में रूढ माना है, योग को ये प्रवृत्ति का नियामक नहीं मानते हैं इन्होंने व्याकरण-विषयक व्युत्पत्ति को शक्ति का प्रतिपादक न मानकर शब्द-सिद्धिमात्र का ही प्रतिपादक माना है। अन्यथा गो शब्द गमनकर्तृत्व को प्रकट करता है। इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार 'पङ्कज' पद योगरूढ-शक्ति से कमल की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार यहां पर भी कुशल पद कुशग्रहण करने वाले के अर्थ में रूढ है।[3] उपाध्याय ने काव्यप्रकाश टीका में

---

1 केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इत्यत्र दर्भग्रहणरूपमुख्यार्थबाधाद् दक्षे लक्षणेति लक्षणोदाहरणं प्रयच्छन्ति तत्तु शक्तिसहोदरमित्यनादरणीयं गच्छतीति गौरित्यादिवद् योगः साधुत्वार्थः।
—साहित्यसुधासिन्धुः, पृ. 39

2 कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादिकन्तु सर्वमतसाधारणं रूढिलक्षणोदाहरणम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 49
अन्यच्च
'कलिङ्गः साहसिकः', 'कौवलयं चक्षुः', 'गोदो ग्रामः' इत्यादिकं निरूढ-लक्षणायामुदाहर्तव्यम्, न तु कर्मणि कुशलः'।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 60

3 ·······व्याकरणव्युत्पत्तिस्तु साधुत्वमात्रं प्रतिपादयति न तु शक्तिम्।

निरूढा के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं। प्रयोजनवती के ये दोनों भेद ध्वनि को व्यञ्जित करते हैं, ऐसी उनकी मान्यता है।[1] प्रसङ्गोपात्त होने के कारण गोकुलनाथ-उपाध्याय की एक अन्य कृति को भी यहां पर विवेचित किया जा रहा है। उपाध्याय ने रूढा-लक्षणा के विषय में जितने विस्तार के साथ चर्चा की है, उतने विस्तार के साथ अन्य आचार्यों ने नहीं की है। काव्यप्रकाश की विवरण नामक टीका तो उन्होंने लिखी ही है, साथ ही 'भक्ति(लक्षणा)विवेक' नामक कृति में जिस सूक्ष्मता से तथा दार्शनिक एवं क्लिष्ट भाषा में लक्षणा-विषयक निरूपण किया है, वह अप्रतिम है। निरूढि-लक्षणा का छन्दोबद्ध-लक्षण उपाध्याय ने जो प्रस्तुत किया, उससे प्रतीत होता है कि वे रूढा के स्थान पर निरूढि-लक्षणा को अङ्गीकार करते हैं।[2] ये व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ का प्राधान्य स्वीकार नहीं करते हैं। उनका तर्क है कि यदि व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को प्रधान मानें तो 'पङ्कज' शब्द से 'कुमुद' का, 'मण्डप' शब्द से 'मण्डपान' कर्ता का बोध होने लगेगा तथा पङ्कज पद में अतिव्याप्ति तथा तैलादि पदों में भी अव्याप्ति होने की सम्भावना बनी रहेगी।[3]

अन्यथा 'गमेर्डो' इत्यादिना साधितोऽपि गोशब्दोऽपि गमनकर्तारमभिदध्यात् कुशलपदं कुशग्रहणकर्तरि दक्षे [पङ्कजवद्योगरूढम्]।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ 61-62

अन्यच्च

सदसद्विवेचकत्वसाधर्म्यसम्बन्धं पुरस्कृत्य कुशलपदमेवमिदमनादिप्रसिद्धया प्रयोजनाभिसन्धानं ...... यौगिकेषु मुख्योऽर्थं इति वैय्याकरणरीत्योदाहृतम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 41

1 लक्षणा तावन्निरूढा क्वचिदुपादानरूपा, यथा—'तैलानि हेमन्ते सुखानि' इति। क्वचित् लक्षणास्वरूपा—'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ, देशबहिर्भावेन पुरुषमात्रप्रतीतेः। प्रयोजनवती तु यद्युपादानं यदि वा लक्षणम् उभयथा ध्वनिविशेषो व्यञ्जयति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 63

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 218

3 अत्र प्रकाशकारः कर्मणि कुशलपदं दर्भग्रहणकर्तुर्वियोगेन प्रवृत्तं विवेकत्वसाधर्म्याल्लक्षयतीति निरूढलक्षणामुदाजहार। अत्र वदन्ति—

पङ्कजादिष्वतिव्याप्तिर्मण्डपादिष्वसम्भवात्।

गोकुलनाथ के अनुसार सप्रयोजन-भेदवती-निरूढि

गोकुलनाथ-उपाध्याय के अनुसार निरूढि-लक्षणा प्रयोजनवती भी होती है। उन्होंने मम्मट-प्रदत्त कारिका—'व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ' में 'रहिता' पद के अनन्तर 'अपि' शब्द को जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत की है, न कि 'एवं' शब्द जोड़ने की। 'राजपुरुष' में पुरुष की आज्ञा अलङ्घनीय है—यह व्यङ्ग्यार्थं द्योतित होता ही है। इसी प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'सिंहो माणवकः', 'यजमानप्रस्तरः' इत्यादि वाक्यों में अनादि काल से चले आ रहे प्रयोग परम्परा के कारण निरूढा-गौणी-लक्षणा भी प्रयोजन-सापेक्ष है, यह अनुभव-वेद्य भी है।[1]

निरूढ-लक्षणात्व तथा प्रयोजनवल्लक्षणात्व ये विरुद्ध धर्म हैं, इनकी एक साथ अवस्थिति सम्भव नहीं है, ऐसा मानना एक भ्रम ही है, ऐसी उपाध्याय की मान्यता है, क्योंकि उन्होंने कहा कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों में निरूढा-लक्षणा के अनन्तर भी प्रयोजनावकाश पाया जाता है, क्योंकि यहां 'अग्निहोत्र' पद नित्यहोम-रूप रूढ अर्थ का अतिक्रमण कर अयन-नामक क्रतु का बाध करवाकर उसके वैशिष्ट्य को बतलाता है।[2]

तैलादिष्वपि चाव्याप्तेर्नैव योगः प्रवर्तकः ।। इति ।

....अतो मण्डपवत्कुशलशब्दस्य दक्षे रूढिरेव प्रत्युत कुशलग्रहणकर्त्तर्यैव रूढिपूर्विका लक्षणा सम्भवति ।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 12

1 यत्तु 'व्यंग्येन रहिता रूढौ' इति काव्यप्रकाशकारवचनं तत्र रहितेऽर्थेऽनन्तरमपिकारः प्रक्षेप्तव्यो नत्वेवकारः। ....यथा—राजपुरुषः (राज्ञः पुरुषः) इत्यत्र तु पुरुषस्यालङ्घनीयशासनत्वं व्यञ्जयत्येव। तथा .... 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'सिंहो माणवकः', 'यजमानप्रस्तरः' इत्यादौ चानादिप्रयोगवशान्निरूढापि गौणी लक्षणा प्रयोजनवत्तामपेक्ष्यत इति यथानुभवमूहनीयम् ।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 14-15

2 निरूढलक्षणात्वं प्रयोजनवल्लक्षणात्वं परस्परविरुद्धौ धर्मौ, इति भ्रमः। कुण्डपायिनामयननामनि क्रतौ प्रक्रान्ते 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति श्रूयमाणस्याग्निहोत्रपदस्य नित्यहोमे रूढस्याग्नये होत्रमिति केवलयोगार्थे निरूढलक्षणाया नित्याग्निहोत्रधर्माणामतिदेशकालदर्शनात् । लक्ष्यार्थेऽवगते लक्षकस्मारितानां व्यञ्जनया वैशिष्ट्यावगम एवेत्यतिदेशपदार्थः ।

—वही, पृ. 14

निरूढा-लक्षणा में सादृश्य-हेतुका-गौणी-वृत्ति ही प्रयोजन की अपेक्षा रखती है।[1]

सर्वदर्शनसंग्रहकार आचार्य-माधव (14 वीं श.) के अनुसार रूढि-लक्षणा में प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती है। यह अनादि काल से वृद्ध-व्यवहार-मूलक होने से शक्ति के समान है। यथा—'कर्मणि कुशलः' यहां पर 'कुशान् लातीति' व्युत्पत्ति के अनुसार दर्भ का आनयन-कर्ता अर्थ यौगिक अर्थ है। एतादृश-मुख्यार्थ, कर्म में बाधित होने से विवेचकत्वरूप सम्बन्ध से विचारशील में लाक्षणिक है। यह अनादि एवं वृद्ध-व्यवहार-मूलक होने से शक्ति के समान है। कहा भी गया है कि निरूढा-लक्षणा शक्ति के समान ही है, अतः यह लक्षणा प्रयोजन-सापेक्ष नहीं होती है।[2]

इसी प्रकार **आचार्य-माधव** के समान ही **अलंकारसार** के कर्ता **भावदेव** (1400 ई.) ने भी **मम्मट** का ही अनुगमन कर रूढि को निर्व्यङ्ग्या माना।[3] इसी प्रकार **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** (1490 ई.) भी **मम्मट**

---

1 निरूढापि या सादृश्यहेतुका गौणी वृत्तिः सैव प्रयोजनमपेक्ष्यत इत्यग्निहोत्रपदमिति कर्त्तव्यतातिदेशकमित्युपपद्यते। दृश्यते च लोकेऽपि निरूढलक्षणा प्रयोजनवतीति, तथाहि 'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि' इत्यत्र कुसुमायुधपिनाकपाणिशब्दावुत्तमपुरुषादस्मच्छब्दहरशब्दोपपत्तौ रूढ्यर्थौ परिहृत्य कुसुमाभिन्नायुधवति पाणिधृतपिनाकवति निरूढलक्षणया प्रवर्तमानौ सारायुधमपि हरमसारायुधोऽहं जयेमिति विभावनालङ्कारं व्यञ्जयतः।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 14

2 तत्र कर्मणि कुशल इत्यादिरूढिलक्षणाया उदाहरणं कुशान् लातीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात् प्रवीणे प्रवर्त्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेनाभिधानवत् प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्त्तते। तदाह—'निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्' इति।

—सर्वदर्शनसंग्रह, गंगाविष्णु लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, वि. सं. 1982, पृ. 296

3 कुशलस्यानुपपत्त्या कर्मणि कुशलस्य दक्ष इति रूढिः।
व्यङ्ग्येन सा तु रहिता.................................. ॥ 2. 9

—अलङ्कारसार, पृ. 344

के अनुयायी हैं ।[1] साहित्यरत्नाकर के कर्ता धर्मसूरि (15 वीं श.) ने रूढा-लक्षणा के उदाहरण में प्रवीण शब्द को उपन्यस्त किया है ।[2] पण्डितराज-जगन्नाथ (1620-1665 ई.) के अनुसार—आरम्भकाल से व्यवहार में आ जाने के कारण जब किसी लक्ष्यार्थ में पद की शक्ति (वृत्ति) निश्चित हो जाती है, तब निरूढा-लक्षणा होती है । इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम, लावण्य और नीलादि पद दिए हैं । 'धर्मस्यायमनुकूल:' इत्यादि वाक्यों में अनुकूल आदि पद से अनुगुण, अनुगामी आदि अर्थ, रूढि से लक्षित होते हैं । इसी प्रकार नीलादि पदों से नील-पद-वाच्यार्थ में गुण का वाचक है, परन्तु व्यवहार के कारण गुणी में उसकी लक्षणा रूढ हो गयी है ।[3] स्फोटचन्द्रिका के कर्ता मौनिश्रीकृष्णभट्ट (1628 ई.) के अनुसार 'द्विरेफ' पद भ्रमर-अर्थ में रूढ है । कोश में भ्रमर के पर्याय के रूप में 'द्विरेफ' शब्द का दिया जाना इसका प्रमाण है कि यहां लक्षणावृत्ति ग्राह्य नहीं हो सकती । इस 'द्विरेफ' पद में तार्किकों द्वारा 'स्ववाच्यपदवाच्यत्व-सम्बन्ध' से लक्षणा माना जाना समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो 'अक्रूर' पद भी लक्षणाग्राह्य हो जावेगा और यहां अतिव्याप्ति दोष आ

---

1 अत्र दर्भग्रहणाय अयोग्यत्वान्मुख्यार्थबाध: । विवेचकत्वञ्च सम्बध: एवमन्यत्राप्यूह्यम् । तथा च तैलङ्गादिजनपदशब्दा: जने, त्वक्शब्दस्त्वगिन्द्रिये ।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 27-28

2 प्रवीणो भवतो राम कृपाणो यदि यन्निजम् ।
कोशं चर्ममयं हित्वाऽगृहणाद्रत्नमयं द्विषाम् ।।
अत्र 'प्रवीण' इत्यत्र वीणाप्रकर्षस्य प्रकृतानुपयोगाद्रूढित: प्रसिद्धिरेव लक्षणाऽऽश्रीयते ।

—साहित्यरत्नाकर, पृ. 222

3 तत्र निरूढलक्षणाया अनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादय उदाहरणं नीलादयश्च । [उपपादयति] 'धर्मस्यायमनुकूल:' इत्यादौ·······कूलानुगतादिरूपशक्यस्य सादृश्येन सम्बन्धेनानुकूलादिशब्दैरनुगुणादयो लक्ष्यन्ते । एवं नीलादिपदानां·······गुणरूपशक्यस्य सम्बन्धेन नीलादिशब्दैर्गुणिनो लक्ष्यन्ते ।

—रसगङ्गाधर, पृ. 152-153

जावेगा[1] **बलदेव-विद्याभूषण** (18वीं श.) ने उक्त लक्षणा के विषय में अधिक खण्डन-मण्डन न कर **साहित्यकौमुदी** नामक कृति में जिसे **काव्यप्रकाश** की टीका की भी संज्ञा दी जाती है, उसमें 'कलिङ्गः साहसिकः' पद ही रूढि-लक्षणा के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है।[2] **काव्यप्रकाश** के टीका-कारों में **वामन-झलकीकर** (19 वीं श.) इस विषय में अपवाद हैं, वे पूर्णतः **मम्मट** के मत का समर्थन करते हुए कुशल-पद में रूढा-लक्षणा स्वीकार करते हैं।[3] **रामकर्ण-आसोपा** (1857 ई.) की रूढा-लक्षणा के विषय में स्पष्ट विमति है। वे कुशल, निपुण, आखण्डल आदि शब्दों को अभिधागम्य मानते हैं, क्योंकि कोषादि में इनके पर्याय मिलते हैं और इनमें प्रयोजनाभाव भी है।[4]

पूर्वोक्त प्रकार से अनेक आचार्यों ने अपनी कृतियों में **मम्मट**-प्रोक्त 'कर्मणि कुशलः' उदाहरण को रूढा-लक्षणा के उदाहरण के रूप में मानने में अरुचि प्रदर्शित की है, उनमें **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **चण्डीदास, गोकुलनाथ-उपाध्याय, विद्याभूषण, विश्वनाथ** तथा **साहित्यसुधासिन्धुकार-विश्वनाथदेव, साहित्यरत्नाकर** के कर्ता **धर्मसूरि** आदि प्रमुख हैं। **शब्दशक्ति** नामक पुस्तक के लेखक **पुरुषोत्तमदास-अग्रवाल** ने **विश्वनाथ** तथा **हेमचन्द्र** को ही उक्त रूढा

---

1 द्विरेफपदं भ्रमरे रूढमेव, कोशे भ्रमरपर्याये उपादानात्, नहि कोशे लाक्षणिकोपादानं पर्यायेष्वस्ति, एवञ्च स्ववाच्यपदवाच्यत्वसम्बन्धेन द्विरेफपदस्य भ्रमरे लक्षणेति तार्किकोक्तमपास्तम्, अक्रूरेऽपि उक्तसम्बन्धत्वेन तत्रातिव्याप्तेश्च।

—स्फोटचन्द्रिका, चौ. सं. सी. आ. वाराणसी, वि. सं. 1985, पृ. 2

2 —साहित्यकौमुदी, पृ. 11

3 कुशान् दर्भान् आदत्ते (गृह्णाति) इति व्युत्पत्त्या कुशलपदं कुशग्राहिणि शक्तम्। दक्षे (चतुरे) तु रूढ्या लाक्षणिकमिति भावः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), पृ. 42

4 'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः' इति हैमः। अत एव कुशलो निपुणः, आखण्डल इन्द्र इत्यर्थोऽभिधाशक्तिबोध्यः।…… तत्र संकेतितत्वात्। ……हठात्कपोलकल्पितार्थकल्पनां कृत्वा रूढालक्षणाङ्गीकारस्त्ववार्चीनानां महाप्रमादः।

—यशवन्तयशोभूषण, (कवि मुरारिदान, संस्कृत अनु. पं. रामकर्ण आसोपा), पृ. 73

लक्षणा तथा उसके उदाहरण को अस्वीकार करने वाले आचार्यों की कोटि में गिना है[1], परन्तु यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं है। वस्तुत: **हेमचन्द्र** ने तो न रूढा लक्षणा को ही माना और न ही हेतुत्रयों में ही उसे स्थान दिया।

इस प्रकार 'कर्मणि कुशल:' में रूढा लक्षणा न मानने वाले आचार्यों का बाहुल्य तो है ही, समर्थक आचार्यों की कोटि में आने वाले **विद्याधर, शारदातनय, आचार्य-माधव, भावदेव** आदि तथा **काव्यप्रकाश** के टीकाकारों में **गोविन्दठक्कुर, गोपालभट्ट** आदि आचार्यों की संख्या भी कम नहीं है। इस प्रकार रूढा-लक्षणा की स्वीकृति और अस्वीकृति के विषय में हमें आचार्यों की दो विचारधाराएं स्पष्टत: परिलक्षित होती हैं।

वस्तुतस्तु 'कुशान् लातीति कुशल:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशाओं को लाने वाले या छेदन करने वाले व्यक्ति को कुशल कहा जाता है। यही इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। यदि कुशल पद का अन्यत्र प्रयोग किया जाय। यथा—'कर्मणि कुशल:' कर्म करने में कुशाओं को छेदन करने वाला यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पाकादि एवं गमनादि अन्य कर्मों में बाधित हो जाता है। तदनन्तर विवेचकत्वादि सादृश्य-सम्बन्ध से दक्षरूप अर्थ की लक्षणा द्वारा ही प्रतीति होती है, यह **मम्मटाचार्य** (1050-1100 ई.) का कथन है। इसका सर्वप्रथम विरोध **आचार्य-हेमचन्द्र** ने, तदनन्तर **काव्यप्रकाश** के **दीपिकाटीकाकार-चण्डीदास** ने किया। वस्तुत: विरोध का प्रारम्भिक उद्गमस्थल यही **दीपिकाटीका** है। इसके परवर्ती अन्य टीकाकारों एवं ग्रन्थकारों ने भी रूढा-लक्षणा के उदाहरण के रूप में भी 'कुशल' शब्द को मान्यता प्रदान नहीं की तथा अन्य उदाहरणों को इसके स्थान पर उपन्यस्त करते रहे।

कतिपय **काव्यप्रकाश** के टीकाकार रूढा के व्याख्यान-स्थल में इससे भिन्न उदाहरण को उदाहृत करते रहे। प्रबल विरोधियों के रूप में **चण्डीदास** के बाद **दर्पणकार** का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने **काव्यप्रकाशदर्पण** तथा **साहित्यदर्पण** में युक्तिपूर्वक **मम्मट** का खण्डन किया, जो निम्न प्रकार से है—

प्रथम तर्क-पक्ष—भले ही व्युत्पत्ति से कुशल पद का कुशग्राहक-रूप अर्थ प्राप्त होता है, किन्तु मुख्यार्थ तो चतुर-रूप अर्थ ही है, कुशग्राहक नहीं।

---

1 अग्रवाल, पुरुषोत्तमदास, शब्दशक्तिप्रकाशिका, बोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1970 ई., पृ. 99

द्वितीय तर्क-पक्ष—शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कुछ और ही होता है तथा प्रवृत्ति का कुछ और ही।

तृतीय तर्क-पक्ष—यदि शब्दों के अर्थ में व्युत्पत्ति-निमित्त को ही कारण माना जाय तो 'डो' प्रत्ययान्त 'गम्' धातु से निष्पन्न 'गौ' पद से भी 'गच्छतीति गौः' व्युत्पत्ति से, चलने वाले व्यक्ति का ही बोध होगा। ऐसी स्थिति में 'गौः' पद का 'शेते' क्रिया से यदि हम सम्बन्ध करते हैं तो शक्यार्थ संगत नहीं होता है, क्योंकि चलने वाले गौ को सोते न ही देखा गया और न ही सोने वाली गाय को गमन करते हुए देखा गया है।

ऐसी स्थिति में मुख्यार्थबाधा-पुरस्सर यहां पर भी लक्षणा होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जब लोक-व्यवहार से ही गौ पद से शफवती, गलकम्बलवती, पशुविशेष का बोध हो जाता है, तो ऐसे स्थलों पर लक्षणा मानना निरर्थक है, अतः यह अनिवार्य नहीं है कि शब्दों का जो व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ है वही, प्रवृत्ति-निमित्तक अर्थ भी बन जाय। यदि अपवादरूप में उक्त विधा कहीं मिल भी जाए तो उसे सार्वत्रिक नियम नहीं माना जा सकता है।

यदि अवयवलभ्य-अर्थ के द्वारा लक्षणा स्वीकार करें तो मण्डप, कुण्डल आदि पदों में भी उक्त लक्षणा होने लगेगी। माना कि जलज, स्वर्णकार, कुम्भकार आदि शब्दों में व्युत्पत्तिलभ्य और अवयवलभ्य दोनों ही निमित्तक विद्यमान हैं, किन्तु उक्त सम्मिलित दोनों ही निमित्तकों के अभावस्थल—'गौः शेते' आदि में लक्षणा व्यभिचरित हो जाती है, अतः व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ को प्रधान या प्रमाण नहीं मानना चाहिए। जहां दोनों निमित्तकों के सहभाव में सामञ्जस्य नहीं होता, वहां प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ को भी अवसर देना चाहिए।

इस विचारधारा से अनुप्राणित होकर **मम्मट** के उक्त विरोधी-आचार्यों का साथ **साहित्यसुधासिन्धु** के कर्ता **विश्वनाथदेव** ने भी दिया। जिसका समर्थन **काव्यप्रकाश** के अन्य टीकाकार **उपाध्याय-गोकुलनाथ** ने भी किया है। वही तर्क वही उदाहरण, केवल शब्दावली में कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति का आधार भिन्न होता है और प्रवृत्ति का कुछ और ही होता है। **विश्वनाथ** का उक्त कथन वस्तुतः सत्य से उपेत है, किन्तु यह तो सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है, कि प्रयोग के नैरन्तर्य के कारण **रूढा** भी निरूढा में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार देश-विशेष, काल-विशेष, समाज-विशेष में एक ही पद का अर्थ-बोध लक्षणा के माध्यम

से हो सकता है, तो दूसरी जगह श्रोताओं को मानसिक धरातल की परिपक्वता के कारण रूढिमूला-लक्षणा के द्वारा भी हो सकता है।

वस्तुत: इस बात से सभी सहमत होंगे कि जिस प्रकार व्यञ्जना का आधार अभिधा है, उसी प्रकार लक्षणा का आधार भी अभिधा ही है। प्रयोजन विशेष के लिए ही लक्षणा का आश्रय भी लिया जाता है। ये लाक्षणिक प्रयोग जब इतने अधिक प्रचलित हो जाते हैं, कि लोग इन्हें वाचक पदों की तरह ही प्रयोजन की सहायता की अपेक्षा के बिना ही समझ लेते हैं, अत: पूर्वोक्त अनेक आचार्यों ने रूढिमती-लक्षणा का खण्डन किया तथा उसे अभिधा का अङ्ग माना। उपर्युक्त कतिपय आचार्यों ने रूढि के कारण होने वाली लक्षणा को रूढा अथवा निरूढा माना है, पर उसके भेद उन्हें मान्य नहीं हैं। प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है, कि इन आचार्यों ने रूढि के भेद क्यों नहीं माने ? प्रतीत होता है कि व्यवहार में इनके भेदों का स्पष्ट प्रतीत न होना ही इसका मुख्य कारण रहा होगा।

रूढि-लक्षणा भाषा के प्रवाह में स्वयमेव चल पड़ती है, मानव-वाणी की स्वतन्त्रता ही उसके निर्माण का कारण है। इसका प्रमाण है कुमारिलभट्ट का यह कथन—कुछ लक्षणाएं तो रूढ होती हैं, जो प्रचलन के कारण घिसते-घिसते अभिधेय की कोटि में आ जाती हैं, कुछ नवीन निर्मित होती हैं और कुछ असामर्थ्य के कारण प्रयुक्त नहीं की जा सकतो हैं, जो परवर्ती आचार्यों को प्रभावित करती हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से विभिन्न आचार्यों के मतानुसार सार-रूप में यह भी कहा जा सकता है कि निरूढा-लक्षणा उसे कहते हैं, जहां शब्द-प्रयोग-परम्परा के नाते अपने मूल अर्थ को सर्वथा छोड़कर एक-दूसरे अर्थ के लिए रूढ हो जाता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग दूसरे अर्थ के लिए पहले किसी व्यक्ति के द्वारा किसी प्रयोजन-विशेष के कारण किया गया होता है। बाद में लोगों ने बिना उस प्रयोजन पर ध्यान दिए परम्परागत रूप से उस शब्द का अर्थान्तर में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में उस शब्द का मूल-अर्थ तिरोहित हो गया तथा वह शब्द दूसरे अर्थ का ही वाचक जैसा हो गया। पूर्वोक्त 'कुशल' शब्द इसका उदाहरण है, जो कालान्तर में चतुर अर्थ में रूढ होकर इस दूसरे अर्थ को अभिधा के समान ही देने लगा है।

वैय्याकरणों की रूढा-विषयक मान्यता

कैयट (11 वीं श.) की मान्यता है कि, यद्यपि शब्द की शक्ति अनंत है, वह सर्वार्थ-बोधक होते हुए भी जब एक विशिष्ट अर्थ में व्यवहार के लिए

नियन्त्रित कर दिया जाता है, तब वह उसी अर्थ का बोध कराता है, अन्य का नहीं।[1]

नागेश (1700 ई.) ने रूढा-लक्षणा के विषय में विस्तार से चर्चा की है। ये शक्यापरपर्याय को निरूढा नाम से व्यवहृत करते हैं। किसी प्रयोजन के न रहने पर शक्य-सम्बन्ध को रूढा-लक्षणा कहते हैं, अर्थात् शक्यार्थ के बाध होने पर तत्प्रतिसन्धानपूर्वक तत्सम्बन्धी दूसरे अर्थ के बोध में अनादि-तात्पर्यवाली (प्रसिद्धा) लक्षणा कही जाती है, जिसका दूसरा नाम शक्ति भी है। यथा—'त्वचा ज्ञातम्' आदि में त्वचा शब्द की त्वगिन्द्रिय में निरूढ-लक्षणा है। 'त्वचा' स्वयं चेतन-रहित है, इससे ज्ञान नहीं हो सकता है, रूढि के कारण त्वगिन्द्रिय को 'त्वचा' पद से अभिहित किया जाता है।[2]

नागेश रूढा में प्रयोजनाभाव ही मानते हैं। इस विषय में **नागेश** की मान्यता है कि जहां कुशल आदि पदों में बाधप्रतिसन्धान पूर्वक ही दक्षरूप आदि अर्थों का बोध होता है, जो प्रामाणिक एवं अनुभवसिद्ध भी हो, वहां लक्षणा (रूढा) मानी जायेगी। इससे भिन्न स्थिति में रूढि, अर्थात् अभिधा का अपरपर्याय वाच्य ही माना जाएगा।[3]

नागेश की मान्यता है कि रूढि-शब्दों में क्रिया का निर्देश केवल उसकी व्युत्पत्ति-ज्ञान के लिए होता है। वस्तुतः उसका अर्थ रूढि-संज्ञा हो जाने के कारण समाप्त-प्राय हो जाता है, अतएव गमन-क्रिया के अभाव में भी उसे 'गौ' कहते हैं। अन्य वस्तुएं जो गमन क्रिया करती हैं, उसे भी 'गौ' नहीं

---

1 सर्वथाऽभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते, तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र।
—व्याकरणमहाभाष्य, भाग-1, वृत्तिसहित, (वृत्ति. कैयट), पृ. 257

2 असति प्रयोजने शक्यसम्बन्धो निरूढलक्षणा। त्वचा ज्ञातमित्यादौ, यथा—त्वचस्त्वगिन्द्रिये। इयं तु शक्त्यपरपर्यायैवेति बोध्यम्।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 49

3 वस्तुतो येषामेकार्थसम्बन्ध्यपरार्थबोधकत्वम्, तदर्थबाधप्रतिसन्धानपूर्वकमेव तेषु प्रयोजनाभावे निरूढलक्षणेति व्यवहारः। अन्यत्र रूढिशक्तिरेव। एवञ्च यदि कुशलादिपदे मुख्यार्थबाधप्रतिसन्धानपूर्वकं दक्षबोधः प्रामाणिकानुभवसिद्धः तदा लक्षणाः, अन्यथा रूढिशक्तिरेवेति दिक्।
—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 24

कहते हैं। वस्तुतः **नागेश** यहां पर **हेलाराज** से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। **हेलाराज** ने भी कहा कि गमन-क्रिया के कारण मनुष्य को 'गौ' नहीं कहते हैं और प्रक्षरण-क्रिया के कारण 'न्यग्रोध' को 'प्लक्ष' नहीं कहते हैं। वस्तुतः शब्द रूढ हो जाने पर अपने निर्वचनात्मक अर्थ को छोड़ देता है।

रूढि-लक्षणा के भेद मानने वाले आचार्य

अधिकतर **मम्मटादि** आचार्यों ने प्रयोजनाभाव आदि कारणों से निरूढा-लक्षणा के भेद आदि वर्णित नहीं किए हैं, किन्तु **जयदेव, विश्वनाथ, राजचूणामणिदीक्षित** तथा **आशाधरभट्ट**-प्रभृति कतिपय आचार्य इस पक्ष का समर्थन न कर निरूढा के भेदों का भी उल्लेख करते हैं।

विश्वनाथ (1300-1380 ई.) ने लक्षणा के अस्सी भेद माने हैं।[1] उन्होंने गौणी के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा ये भेद माने हैं। उनके मतानुसार शुद्धा, गौणी, उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा तथा सारोपा एवं साध्यवसाना इनके आधार पर आठ रूढि के तथा आठ प्रयोजनवती के भेद होते हैं। इस प्रकार **विश्वनाथ** रूढा लक्षणा के आठ भेद मानते हैं।

गोकुलनाथ-उपाध्याय (1709 ई.) ने भी निरूढा-लक्षणा के उपादान-लक्षणा और लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं। जैसा कि पूर्व में इसी प्रकरण में कहा जा चुका है। ये निरूढा-लक्षणा में प्रयोजन की सत्ता मानते हैं।[2]

अप्पयदीक्षित (16 वीं श.) भी उन्हीं आचार्यों में से हैं, जिन्होंने निरूढा के गौणी एवं शुद्धा दो भेद स्वीकार किए हैं।[3] गौणी-रूढिलक्षणा के उदाहरण के रूप में 'लावण्य' शब्द तथा शुद्धा-रूढिलक्षणा के उदाहरणरूप में 'द्विरेफ' शब्द को दिया है।[4]

---

1 एवमशीतिप्रकारा लक्षणा।
—साहित्यदर्पण, पृ. 120

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 219-229

3 गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्। इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा—निरूढलक्षणा फललक्षणा च।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 18

4 अत्र 'लावण्य'शब्दस्य लवणत्ववाचिनो हृदयङ्गमत्वसादृश्यात्सुषमाविशेषे रूढिलक्षणा। एवमालेख्यगजादौ गजादिशब्दस्यापि रूढिलक्षणानुसन्धेया। इदं गौण्या उदाहरणम्। शुद्धा यथा—क्वणद्विरेफावलि····अत्र 'द्विरेफ'-शब्दस्य 'द्वौ रेफौ यस्य' इति व्युत्पत्त्या भ्रमरशब्दवृत्तेस्तद्वाच्ये रूढि-लक्षणा।
—वही, पृ. 19

अच्युतराय (17 वीं श.) ने **साहित्यसार** में निरूढा के दीक्षित-वत् गौणी एवं शुद्धा दो भेद किए हैं।[1]

आशाधरभट्ट (18 वीं श.) ने भी **त्रिवेणिका** में लक्षणा के प्रथमत: जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा तीन भेद किए हैं। फिर इन तीनों को भी निरूढा एवं फलवती भेद से द्विधा विभाजित कर निरूढा-लक्षणा में भी जहत्, अजहत्, जहदजहत् की स्थिति मानी है।[2]

निष्कर्ष

लक्षणा के सामान्यत: दो भेद होते हैं—रूढि और प्रयोजनवती। इस रूढि-लक्षणा को आचार्यों ने अनेक नामों से अभिहित किया है। रूढि, निरूढ, निरूढि, रूढा तथा निरूढा ये अनेक नाम अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होते हैं। **आनन्दवर्धन, मम्मट, भोज, हेमचन्द्र, सोमेश्वरभट्ट, चण्डीदास, धर्मसूरि-प्रभृति** आलङ्कारिकों ने इसे रूढि नाम से, **पण्डितराज-जगन्नाथ, नागेश, अप्पयदीक्षित** आदि विद्वानों ने निरूढ नाम से, एकमात्र **आचार्य गोकुलनाथ-उपाध्याय** ने निरूढि नाम से, **मुकुलभट्ट, माणिक्यचन्द्र, आशाधरभट्ट** आदि विद्वानों ने निरूढा नाम से समुच्चरित किया है। आलङ्कारिकों ने इनमें परस्पर भेद भी माना है।

लक्षणा के भेदों में रूढि-लक्षणा प्रचलित-परम्परा के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ की प्रतीति कराती है। जहां वाच्यार्थ को छोड़कर

---

1 तत्र गौणीनिरूढानुकूल: कुशल इत्यपि।
साहश्यगुणयोगेनानुगुणश्च विवेचक: ।। 2. 67
शुद्धा निरूढानीलाख्ये घटाख्ये च पदे क्रमात्।
गुणजात्योर्वाचकेऽपि गुणी व्यक्तिश्च लक्ष्यते ।। 2. 68
—साहित्यसार, पृ. 43-44

2 सा त्रिविधा—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा च।........
त्रिविधापि पुनर्द्विविधा—निरूढा फलवती च।
—त्रिवेणिका, पृ. 18
अन्यच्च
'रवौ नीलं बुधे पीतम्' अत्र रविबुधशब्दाभ्यां तद्वारयोर्निरूढा जहदजहल्लक्षणा। ....'श्वेतो धावति' अत्र गुणवाचिना श्वेतशब्देन तदाश्रये हयादौ निरूढाऽजहल्लक्षणा।
—वही, पृ. 23-24

लक्ष्यार्थ में ही वाचक-शब्द अभिधावत् निरूढ हो जाता है, वहां निरूढा-लक्षणा होती है। **कोविदानन्द-कार** के अनुसार कुशल आदि पदों में बाध-प्रतिसन्धानपूर्वक भी दक्षरूप आदि अर्थों का बोध होता है, जो प्रामाणिक और अनुभवसिद्ध हों, वहां रूढा-लक्षणा मानी जाएगी। इससे भिन्न स्थिति में रूढि—शक्ति, अर्थात् अभिधा की अपरपर्याय ही मानी जाएगी।

कुमारिलभट्ट, मुकुलभट्ट-प्रभृति आचार्य निरूढा में अभिधावत् अर्थसमर्पकता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार बाध की स्थिति में रूढा तथा बाध के अभाव में अभिधावत् अर्थ देनेवाली निरूढा-लक्षणा मानी गई है। अभिधा में कभी भी बाध की स्थिति नहीं रहती है, किन्तु निरूढा के मूल में कभी बाध की सत्ता रही होती है। रूढा के उदाहरण 'कुशल' शब्द के मूल में प्रयोजन रहा होता है। कालान्तर में गूढप्रयोजन, अगूढ, फिर निर्व्यङ्ग्य, पुनः प्रयोगाधिक्य के कारण शुद्ध-अव्यङ्ग्या-लक्षणा के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर दक्ष-अर्थ की प्रतीति कराने लगा। पुनः भूरि प्रयोग के कारण केवल रूढि तक सीमित रह गया, अतः इसका नामकरण रूढा इस शब्द से किया गया।

रूढा के मूल में भले ही प्रयोजन रहा हो, फिर भी रूढा-लक्षणा सदा निर्व्यंग्या होती है, किन्तु **गोकुलनाथ उपाध्याय** आदि आचार्य निरूढा को भी सव्यंग्या मानने के पक्षपाती हैं तथा इसके भी उपादानलक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा भेद मानते हैं। **आनन्दवर्धन** के अनुसार जहां कारण न तो वाच्य रहता है और न व्यंग्य, ऐसे स्थान पर निरूढा-लक्षणा का स्थल है। व्यंग्य, प्रयोजनमूला-लक्षणा में रहता है, रूढा-लक्षणा में क्षीण, अर्थात् समाप्तप्राय रहता है।

अभिनवगुप्त प्रयोजनाभाव-स्थल में जहां उपचार रहता है, वहां निरूढा की स्थिति मानते हैं। प्रयोगसामर्थ्य से निरूढा-लक्षणाएं अभिधान के सदृश हुआ करती हैं। यह भी कहा जाता है कि निरूढा-लक्षणाएं प्रयोग के सम्बल से अभिधान के सदृश हुआ करती हैं, ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ-बाध के त्रितय का सन्निधान नहीं पाया जाता है। **हेमचन्द्र** रूढा-लक्षणा को इसलिए नहीं मानते हैं, क्योंकि कुशल आदि पद साक्षात् संकेत के विषय होने के कारण अभिधा से बोध्य हैं, अतः निमित्तत्रयों में हेमचन्द्र ने रूढा की चर्चा नहीं की। **हेमचन्द्र, कल्पलताविवेककार, भट्टसोमेश्वर, माणिक्यचन्द्र** आदि निरूढा-लक्षणा को अभिधावत् मानते हैं। **माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वरभट्ट** निरूढा को भ्रष्टोपचारप्रतीति मानते हैं।

विश्वनाथ, गोकुलनाथ-उपाध्याय आदि ने निरूढा के उपादान-लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा रूप से भी भेद किए हैं। ये व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की प्रधा-

नता स्वीकार नहीं करते हैं। **गोकुलनाथ-उपाध्याय,** निरूढा-लक्षणाओं में भी प्रयोजन की सत्ता मानते हैं तथा **मम्मट**-प्रोक्त 'व्यंग्येन रहिता रूढौ' में रहिता पद के बाद 'अपि' पद जोड़ने के समर्थक हैं। निरूढा-लक्षणात्व तथा प्रयोजनवल्लक्षणात्व, ये विरुद्धधर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं, ऐसा कहने वाले आचार्यों की विचारधारा को भ्रममूलक मानते हुए उपाध्याय ने 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि स्थलों में निरूढा के अनन्तर भी प्रयोजन की सत्ता मानते हुए, अपना मत दृढता-पूर्वक प्रस्तुत किया है तथा निरूढा में भी प्रयोजन की सत्ता स्वीकार की है।

नागेश रूढा-लक्षणा में प्रयोजना-भाव मानते हैं, रूढा-लक्षणा अनादि वृद्धव्यवहारमूलक होने के कारण शक्ति के समान है। **माधव** के अनुसार रूढि में प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती है। **भावदेव** एवं **गोविन्दठक्कुर** की भी यही मान्यता है। **आशाधरभट्ट,** जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा इन तीनों में निरूढा की स्थिति मानते हैं।

मम्मट-प्रोक्त 'कर्मणि कुशलः' इस उदाहरण को अनेक आचार्यों ने माना, परन्तु किन्हीं आचार्यों ने 'कलिङ्गः साहसिकः' उदाहरण को अधिक उपयुक्त कहा है। अधिकतर आचार्य निरूढा-लक्षणा के भेद के विषय में अपनी अरुचि प्रदर्शित करते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिन्हें निरूढा-लक्षणा के भी दो या दो से अधिक भेद भी मान्य हैं। इस प्रकार के आचार्यों में **अप्पयदीक्षित, अच्युतराय, आशाधरभट्ट, दर्पणकार-विश्वनाथ,** तथा **भक्ति(लक्षणा)विवेक** के कर्ता **गोकुलनाथ-उपाध्याय** प्रभृति विद्वान् प्रमुखरूपेण माने जा सकते हैं।

प्रयोजनवती शुद्धा एवं गौणी लक्षणा

रूढि-लक्षणा के विवेचन के अनन्तर प्रसङ्गोपात्त प्रयोजनवती-लक्षणा के शुद्धा और गौणी भेदों का विवेचन किया जा रहा है। आचार्यों की मान्यता के अनुसार उपचार के आधार पर प्रयोजनवती-लक्षणा के गौणी और शुद्धा दो भेद होते हैं। गौणी में उपचार, अर्थात् साधर्म्य पाया जाता है, परन्तु शुद्धा में उसका अभाव रहता है। प्राचीन-मीमांसक लक्षणा और गौणी को दो पृथक् वृत्तियों के रूप में मानते थे। इस अतीत के तथ्य को आज भी विद्वान् अपने ग्रन्थों में उल्लिखित करना नहीं भूलते हैं।[1] अधिकतर

---

1 गौणी तु स्वतन्त्रा वृत्तिः। अभिधातो लक्षणातश्च विलक्षणा इति वेदवादिनां मीमांसकानां सिद्धान्तः। स एव च मधुसूदनसरस्वतीपादेनाङ्गीकृतः।

—चौधरी, नरेन्द्रनाथ, काव्यतत्त्वसमीक्षा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1959 ई., पृ. 87

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा और गुणवृत्ति को एक वृत्ति के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें एक ही परिभाषा से परिभाषित करके शुद्धा और गौणी, लक्षणा के दो भेदों के रूप में उनके स्वरूप को निर्दिष्ट किया है।[1]

लक्षणा एवं गौणी-वृत्ति

लक्षणा तथा गौणी-वृत्ति का विवाद-पूर्ण इतिहास निम्न प्रकार से है। सादृश्य-मूलक लक्षणा को आलङ्कारिक गौणी-लक्षणा नाम से समुच्चरित करते हैं, परन्तु मीमांसक गौणी को भिन्न-वृत्ति ही मानते हैं। उनके अनुसार लक्षणा और गौणी का भेद यह है कि गौणी में शब्द प्रयोग होता है, परन्तु लक्षणा में शब्द प्रयोग नहीं होता है। यथा–'गौणे शब्दप्रयोगः न लक्षणायाम्', 'सिंहो माणवकः' यह गौणी का उदाहरण है। इसमें सिंह-शब्द गौणी-वृत्ति से शौर्यादिविशिष्ट-प्राणी का बोधक होता है और उसका माणवक पद के साथ सामानाधिकरण्य होता है। पदों के सामानाधिकरण्य का अभिप्राय भिन्न प्रवृत्ति वाले दो पदों का एक अर्थ में प्रवृत्त होना है। 'सिंहो माणवकः' अथवा 'गौर्वाहीकः' ये भिन्न प्रवृत्ति वाले सिंह और माणवक-पद तथा गौ और वाहीक-पद एक अर्थ में प्रवृत्त हुए हैं, अतः यहां सामानाधिकरण्य है। यहां दोनों शब्दों (उपमान-उपमेय) का प्रयोग हुआ है, अतः यह गौणी-वृति है।

इस प्रकार के शब्द का प्रयोग लक्षणा में नहीं होता है। यथा—'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणा के इस उदाहरण में तटार्थ के बोधक-शब्द के प्रयोग का अभाव पाया जाना इसकी पुष्टि करता है। यही लक्षणा और गौणी का भेद है। लक्षणा ऐसी प्रतीति को कहा जाता है, जो अभिधेय या मुख्यार्थ के साथ सम्बद्ध हो। यथा—'गङ्गायां घोषः'। दूसरी ओर लक्ष्यमाण गुणों के योग से होने वाली वृत्ति को गौणी कहा जाता है। यथा—'गौर्वाहीकः' यहां पर बैल के गुणों के योग से गौणी वृत्ति कही जाएगी।

अन्यच्च

मीमांसकास्तु गौणीमपि लक्षणातो भिन्नां स्वीकुर्वते। अपरे नैयायिकादयस्तु लक्षणातोऽभिन्नां लक्षणप्रभेदस्वरूपां वा मन्यन्ते।

—सिंह, बदरीनाथ, शाब्दबोधविमर्श, पृ. 265

1 आरोप्यारोपविषयौ यत्र वाक्ये स्थितौ समौ।
शुद्धा गौणी च साख्याता सारोपा युक्तिवेदिभिः॥ 2. 17
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 44

कुमारिलभट्ट ने लक्षणा और गौणी दोनों वृत्तियों को पृथक्-पृथक् मानकर उनकी परिभाषाएं दी हैं। इनके अनुसार अभिधेय से सम्बद्ध-अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहा जाता है। लक्ष्यमाण गुणों के योग की अपेक्षा रखने के कारण ही गौणी-वृत्ति कही जाती है।[1] मीमांसकों के मत के आलोक में यह उल्लेखनीय है कि आलङ्कारिकों के मत में यह शब्द-प्रयोग भी गौणी तथा लक्षणा का भेदक नहीं है, क्योंकि आलङ्कारिकों ने प्रकारान्तर से लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना भेद भी माने हैं।[2] इस प्रकार जिसे मीमांसक गौणी कहते हैं, आलङ्कारिकों के मतानुसार वहां भी लक्षणा व्याप्त रहती है। **प्रभाकर-मतानुयायी-मीमांसक** गौणी को अलग से वृत्ति मानते हैं, किन्तु **भाट्ट-मीमांसक** उसे लक्षणा के ही अन्तर्गत मानकर लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी, ये दो भेद उपचार के अमिश्रण तथा उपचार के मिश्रण के आधार पर करते हैं।

गौणी का स्वतन्त्ररूप तथा विकास

यास्क (700 ई. पू.) के समय से ही लक्षणा के बहुत से तत्त्वों पर प्रकाश पड़ने लगा था, किन्तु स्पष्ट रूप से इसकी परिभाषा तथा स्वरूप **आचार्य कुमारिलभट्ट** (7 वीं श.) से पहले नाममात्र को ही उपलब्ध होता है। भर्तृहरि (575-651 ई.) ने गुणवृत्ति या लक्षणा के लिए गौण-

---

1 अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥
—तन्त्रवार्तिक, चौ. सं. बुकडिपो, बनारस, 1903 ई., पृ. 318

2 विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्॥ 2. 8
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका।
—साहित्यदर्पण, पृ. 97

अन्यच्च
गौणी तु न पृथग्वृत्तिरिति ज्ञापयितुं सारोपासाध्यवसाने विभज्येते।
काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ), पृ. 70
अन्यच्च
नैयायिका आलङ्कारिकाश्च इमां गौणीं वृत्तिं लक्षणाया भेदकत्वेनाऽङ्गीकुर्वन्ति।
—काव्यतत्त्वसमीक्षा, पृ. 87

शब्द ही व्यवहृत किया है।[1] **कुमारिलभट्ट** (650-750 ई.) ही सर्वप्रथम आचार्य प्रतीत होते हैं, जिन्होंने गौणी तथा लक्षणा को भिन्न-वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हुए दोनों वृत्तियों का लक्षण अलग-अलग निरूपित किया है। इन्होंने गौण शब्द का अर्थ परिभाषित करते हुए कहा कि मुखवत्प्रथमत: प्रतीतिगम्य होने से शब्दार्थ किंवा वाच्यार्थ का ही मुख्यत्व है। वाच्यार्थ से ज्ञायमान गुणों के कारण होने वाले अन्यार्थ की गौणता मानी जाती है।[2] प्रतीत होता है कि लक्षणा के दो मुख्य भेद—गौणी तथा शुद्धा, आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं थे। इस काल में गौणी और लक्षणा दो स्वतन्त्र-वृत्तियां थीं, जैसा कि **तन्त्रवार्तिककार** के कथन से स्पष्ट होता है।

उद्भट (8 वीं श.) ने ध्वनि-विमर्श प्रकरण में लक्षणा[3] शब्द का प्रयोग किया है। रूपकालङ्कार वर्णनावसर पर लघुवृत्ति में गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] **वामन** (8 वीं श.) के **काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति** के द्वितीयाध्याय में गौण शब्द[5] का तथा वक्रोक्ति-अलङ्कार आदि के वर्णन के

---

1 सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वञ्चोपवर्ण्यते ॥ 2. 253
—वाक्यपदीय, पृ. 95

2 शब्दार्थस्यैव मुख्यत्वं मुखवत्प्रथमोद्गते:।
अर्थगम्यस्य गौणत्वं गुणागमनहेतुकम् ॥
....

परगुणानां परत्राभावादशक्यं गुणेभ्य आयात इत्येवं लक्षणं गौणत्वम्।
पराधीनप्रवृत्तिश्च गौणो नित्यं(नित्यं गौणं)प्रतीयते ॥
तन्त्रवार्तिक, पृ. 763-764

3 तत्सदृशस्य या लक्षणा तस्या अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमूलत्वात्।
—काव्यालङ्कारसार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, पृ. 428

4 गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ॥ 1. 11
—वही, पृ. 268
अन्यच्च
शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो गुणवृत्तिश्च।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 63

5 अरोचकिसतृष्णाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ. 13

अवसर पर अनेक स्थानों पर लक्षरणा[1] शब्द का प्रयोग किया है। **आनन्दवर्धन** (850-875 ई.) ने गौणी के लिए गुणवृत्ति तथा लक्षणा शब्द का प्रयोग किया एवं लक्षणा को ही मुख्य-व्यापार माना है।[2] भक्तिवादियों के निराकरण के सन्दर्भ में लक्षणा और गौणी को **आनन्दवर्धन** ने **ध्वन्यालोक** में वर्णित किया है।

खण्डदेव (17 वीं श.) के अनुसार स्वशक्यनिष्ठगुणवत्ता ही गौणीवृत्ति है।[3] इस प्रकार शताब्दी के अन्तराल में गुणवृत्ति और लक्षणा शब्द का अपना एक अलग इतिहास है। वस्तुत: किसी ने लक्षणा शब्द को प्रयुक्त किया है, किसी ने गुणवृत्ति के अन्तराल में लक्षणा को भी अन्तर्निविष्ट करते हुए गौणशब्द का या गुणवृत्ति-शब्द का प्रयोग किया है। **डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी** की मान्यता है कि गुणवृत्ति और लक्षणा ये दोनों शब्द प्राचीनकाल से आचार्यों द्वारा व्यवहृत होते आ रहे हैं। इस गुणवृत्ति का अर्थ **आनन्दवर्धन** एवं **अभिनवगुप्त** के शब्दों में निम्न रूप में है—गुण = साधारणधर्म, उसके आधार पर अन्य अर्थ में शब्द की वृत्ति = प्रयोग। तथा गुण = अमुख्य अर्थ में शब्द की वृत्ति = प्रयोग।[4]

वस्तुत: **कुमारिलभट्ट** के समय में जो गौणी, लक्षणा से भिन्न, स्वतन्त्ररूप से प्रतिष्ठित थी, वही गौणी **मुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** में लक्षणा के दो भेदों में से द्वितीय भेद, अर्थात् उपचार के भेदद्वयान्तर्गत द्वितीय भेद गौण-नामक स्थान को प्राप्त हो जाती है। **भट्ट** के अनुसार उपचार दो प्रकार का होता है, शुद्ध और गौण। दोनों उपचारों में से प्रत्येक के आरोप और अध्यवसान के आधार पर दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार उपचार चार प्रकार का होता है।[5]

---

1 सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।
—काव्यालङ्कारसूत्र, पृ. 164

2 गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रया भवति। ....तदेवं सति लक्षणैवमुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्।
—ध्वन्यालोक, पृ. 464-465

3 स्वशक्यनिष्ठगुणवत्ता गौणीवृत्तिलक्षणं युक्तमिति सिद्धम्।
—मीमांसाकौस्तुभ, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1923 ई., पृ. 293

4 द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, पृ. 243

5 आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 15

इस उपचार का परिशोधित स्वरूप काव्यप्रकाश में **मम्मट** के द्वारा प्रयोजनवती-लक्षणा के वर्णनावसर पर गौणी को लक्षणा के भेदरूप (लक्षणा के अंग-रूप) में उपन्यस्त कर सदा के लिए लक्षणा में अन्तर्निहित कर दिया जाता है। **डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी** के अनुसार **मुकुलभट्ट** सादृश्यमूलक उपचार को ही वास्तविक उपचार मानते हैं। **मम्मट** के अवचेतन में **मुकुलभट्ट** की स्थापना प्ररूढ थी, इसलिए उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा के निरूपण के अन्त में लिखा है—'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्'—'ये दो लक्षणाएं शुद्ध लक्षणा हैं, क्योंकि इनमें उपचार नहीं है।' स्पष्ट है कि उपचार का अर्थ **मम्मट** भी सादृश्यमूलक आरोप ही मानकर यह लिख रहे हैं।[1]

आलङ्कारिकों के अतिरिक्त **धर्मराजाध्वरीन्द्र, कणादतर्कवागीश, अन्नंभट्ट** आदि अन्य दार्शनिकों ने भी गौणी को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति न मानते हुए **मम्मट** का ही समर्थन किया है। वस्तुतः उक्त पृथक्तावादी धारणा अष्टम-शताब्दी तक मीमांसकों में ही बद्धमूल थी। आगे भी **शालिकनाथमिश्र, भोजराज, रुय्यक, गागाभट्ट**-प्रभृति ने भी उन पृथक्तावादियों का अनुसरण किया। प्रमाण-स्वरूप में **भट्ट** का मत दिया जा रहा है।

गागाभट्ट (17 वीं श.) ने गौणी को पृथक्-वृत्ति मानने पर बल इसलिए भी दिया है कि उनके मतानुसार 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वैदिक-वाक्यों में लक्षणा हो सकेगी, क्योंकि यहां यजमान और प्रस्तर का यागकारणतारूप गुणयोग से यजमान-पद प्रस्तर में गौण है, अतः गौणी-वृत्ति, लक्षणा से भिन्न है।[2]

गुणवृत्ति तथा लक्षणा

प्राचीन आलङ्कारिक भी प्रायः लक्षणा के स्थान पर गुणवृत्ति या अमुख्य-व्यापार शब्द का प्रयोग करने में अग्रसर थे[3], किन्तु मीमांसकों की

---

1 अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 17 पर उद्धृत विमर्श।

2 एवंविधगौणत्वाङ्गीकारे च शक्यार्थत्यागाभावेन न वेदाप्रामाण्यापत्ति-लेशोऽपि। अत एव यजमानः प्रस्तर इत्यादौ यजमानप्रस्तरयोर्यागकारणत्वरूपगुणयोगेन यजमानपदं प्रस्तरे गौणमतो भिन्नालक्षणातो गौणी।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 59

3 गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 33
अन्यच्च

तरह गौणी को लक्षणा से भिन्न मानना उन्हें अभिप्रेत नहीं था।[1] गुणवृत्ति का उक्त स्वरूप **आनन्दवर्धन** ने जैसा माना वह परवर्ती **मम्मट** द्वारा प्रस्तुत लक्षणा के स्वरूप से कुछ मिलता है, किन्तु पूर्ण रूप से नहीं।[2] **अभिनवगुप्त** ने गुणशब्द का प्रयोग अमुख्य तथा साधारण धर्म के अर्थ में किया है। गुण-रूप (अप्रधानरूप) से वृत्ति, अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति है।[3] **भट्ट-सोमेश्वर** ने **तन्त्रवार्तिक** की टीका में गौण-शब्द का अर्थ निम्न-प्रकार से किया है—जहां वाच्यार्थ आरोपित अवस्था को प्राप्त नहीं होता है, वहां प्रवर्त्तमान शब्द मुख्य कहा जाता है। अन्यत्र जघनवद् आरोप के कारण गौण कहलाता है। गुणवृत्तित्व गौणीवृत्ति का लक्षण है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं, जो गौणी-

---

काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा प्रकारः प्रकाशितः।
—ध्वन्यालोक, पृ. 34

1 लक्षणातो भिन्ना गौणीति ये मन्यन्ते तन्मतं रिक्ततरम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 50
अन्यच्च
गौणीवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकरः। तदयुक्तम्। तस्या लक्षणाया-मन्तर्भावादित्याह।
—प्रतापरुद्रीय, पृ. 44

2 द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, पृ. 243

3 गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्तिः।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ 470-471
अन्यच्च
गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना वृत्तिः अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामाना-धिकरण्यम्।
—वही, पृ. 471
अन्यच्च
यदाह—गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायामिति।
—वही, पृ. 160

4 वस्तुवृत्त्या स एवार्थो यत्र न पुनरारोप्यते तत्र प्रवर्त्तमानः शब्दो मुख्य इत्युच्यते, इतरत्र तु जघनवदारोपात् पश्चात्प्रवृत्तेर्ज्जघन्यो गुणतश्चारोपात् गौण इत्युच्यते।·········गुणयोगवृत्तितत्त्वं गौणवृत्तिलक्षणम्।
—न्यायसुधा, (तन्त्रवार्तिकटीका, टीका. सोमेश्वरभट्ट), चौ. सं. बुक-डिपो, वाराणसी, 1901 ई., पृ. 500-503

वृत्ति **कुमारिलभट्ट** के समय तक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में लक्षणा से भिन्न अस्तित्व बनाये हुए थी, आगे चलकर उसी गौणीवृत्ति और लक्षणा को **अभिनवगुप्त** ने भक्ति शब्द के अन्तर्गत समेटने का प्रयास किया है। **अभिनवगुप्त-पादाचार्य** ने खुले वृषभ-रूपी लक्षणा और गौणी को भक्तिशब्द-रूपी जुए के माध्यम से दोनों को एक साथ जोतकर इनके संयुक्तीकरण का स्तुत्य प्रयास किया।[1] इस प्रकार गौणी को लक्षणा के अन्तर्गत समेटने के प्रयास के साथ ही, मीमांसकों द्वारा पृथक्वृत्ति-रूप में स्वीकृत गौणी-वृत्ति के अस्तित्व पर प्रहार यहां से ही प्रारम्भ होता है।

मीमांसक गौणी की लक्षणा से पृथकत्व की अपरिहार्यता का राग चिरकाल तक आलापते रहे तथा स्वकीय-ग्रन्थों में विषय-वर्णन के माध्यम से गौणी को लक्षणा से अलग ही मानते रहे। यह विषय—मीमांसकों, नैय्यायिकों, वेदान्तियों, वैय्याकरणों तथा साहित्यिकों में एक विवाद का विषय बन गया। कतिपय आचार्यों ने इसका विरोध किया, कुछ लोगों ने अल्पशब्दावली में ही अपना विरोध प्रकट किया, कुछ विद्वान् इस विषय में उलझे ही नहीं तथा अपने प्रतिपाद्य विषयों में इस विवाद को स्थान ही नहीं दिया, यद्यपि लक्षणा के विषय में उन्होंने बहुत कुछ कहा। जिन लोगों ने इस विषय में अपने विचार जिस रूप में व्यक्त किए, उन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है।

गौणी की पृथक्ता के समर्थक आचार्य

शालिकनाथ (10 वीं श.) उन्हीं आचार्यों में से हैं, जिन्होंने गौणी को लक्षणा से भिन्न माना है।[2] **भोजराज** (10वीं श.) भी मीमांसकों के ही

---

1 भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 30-31

अन्यच्च

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः।

—वही, पृ. 31

2 प्रयोगश्च श्रुत्या लक्षणया गौण्या वा वृत्त्या नानुपपन्नः।

—प्रकरणपञ्चिका, पृ. 28

अन्यच्च

अनुयायी हैं। इन्होंने शब्दनिष्ठ शब्दार्थ-बोधिका अभिधा के ही तीन भेद किए हैं, जिसमें वे गौणी को लक्षणा से भिन्न रूप में वर्णित करते हैं। इनके **सरस्वतीकण्ठाभरण** के टीकाकार **रत्नेश्वर** के अनुसार अभिधेय में प्रवर्तमान शब्द वृत्तित्रय से युक्त होता है। ये वृत्तियां—मुख्या, लक्षणा और गौणी रूप से तीन प्रकार की होती हैं।[1] गम्यमान शौर्यादिगुण से व्यवहित अर्थ वाली गौणी वृत्ति होती है। इन्होंने **शृङ्गारप्रकाश** में गौणी का लक्षण भी लक्षणा से भिन्न रूप में किया है।[2]

हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) ने गौणी को भिन्न-वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।[3] **रुय्यक** के शिष्य **मङ्खक** (1129-1150 ई.) भी **भोज** तथा मीमांसकों के अनुयायी हैं। **मङ्खक** के अनुसार पदार्थ के प्रतिपादन में होने वाले पदों के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। जो मुख्या, लक्षणा और गौणी भेद से तीन प्रकार की होती है।[4] इन्होंने **कुमारिल** का अनुसरण करते हुए गौणी एवं लक्षणा का अलग-अलग लक्षण **कुमारिल** के शब्दों में ही स्वीकार किया है।[5]

यो वेदे तथाभूतार्थप्रयोगः स गौणेनार्थेन लाक्षणिकेन वा वर्णनीयः।
—वही, पृ. 150

1 अभिधेये प्रवर्त्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्याः, गौणी, लक्षणेति तिस्रः।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223
अन्यच्च
शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिरभिधा। सा च त्रिधा–मुख्या, गौणी लक्षणा च।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, (टीका. रत्नेश्वरमिश्र), पृ. 279

2 गम्यमानशौर्यादिगुणयोगव्यवहितार्था गौणी।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223

3 तत्र संकेताभावान्नाभिधा, नापि गौणी लक्षणा वा, मुख्यार्थबाधादिलक्षणाभावात्।
—काव्यानुशासन, पृ. 254

4 वृत्तिः पदानां व्यापारः पदार्थप्रतिपादने।
सा मुख्या लक्षणा गौणीत्येवं त्रैविध्यमास्थिता॥
—साहित्यमीमांसा, पृ. 2

5 अभिधेयाविनाभूतं स्पृशन्ती लक्षणोच्यते।
स्पृशत्यर्थान्तरं गौणी लक्ष्यमाणगुणान्वयात्॥
वही, पृ. 2

गागाभट्ट (1605 ई.) ने लक्षणा और गौणी को अपर पद-वृत्ति के रूप में माना है।[1] **भट्टशङ्कर** (1635 ई.) ने लक्षणा और गौणी दोनों में दौर्बल्य बीज माना है। प्रथम में शक्यसम्बन्ध की अपेक्षा करना ही दौर्बल्य-बीज है, द्वितीय में शक्यसम्बन्धी गुणसम्बन्ध की अपेक्षा करना दौर्बल्य-बीज है।[2] **वृत्तिप्रभाकरकार निखिलदास** के अनुसार जैसे पद की वृत्ति, शक्ति और लक्षणा होती है, वैसे ही तीसरी गौणी-वृत्ति भी होती है, अर्थात् पद के शक्यार्थ में जो गुण हो, उस गुणवाले अशक्यार्थ में पद की गौणी-वृत्ति कहलाती है।[3] **श्रीधरस्वामी** (1650-1709 ई.) ने भी गौणी-वृत्ति लक्षणा से भिन्न ही मानी है, अर्थात् वह लक्षणा नहीं है।[4]

लक्षणा में गौणी को अन्तर्भूत करने वाले आचार्य

गौणी के पृथक् अस्तित्व का विरोध करने के साथ ही उसे लक्षणा में ही अन्तर्भूत करने वाले आचार्यों में निम्न-लिखित आचार्य प्रमुख हैं। **अजितसेन** (1266 ई.) ने **अलङ्कारचिन्तामणि** में लक्षणा-विशेष को गौणी-वृत्ति माना है, क्योंकि दोनों के सम्बन्धों का आधार एक ही है।[5] **चण्डीदास** (1300 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की टीका में लक्षणा को गौणी से भिन्न-वृत्ति मानने वालों का मत सार-रहित माना है।[6]

विश्वनाथ (1300-1380 ई.) ने भी गौणी को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति नहीं माना, भले ही गौणी को उन्होंने शुद्धा के समान ही अष्टधा विभाजित

---

1 लक्षणा, गौणी च अपरा पदवृत्तिः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 57

2 लक्षणयापि गौणी बाध्यते। ··· दौर्बल्यबीजन्तु लक्षणायां शक्यसम्बन्धमात्रापेक्षणात्। गौण्यां शक्यसम्बन्धिगुणसम्बन्धापेक्षणात्।
—मीमांसाबालप्रकाश, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1902 ई., पृ. 141

3 हिन्दीवृत्तिप्रभाकर, निखिलदास, (अनु. आत्मानन्द), पृ. 83

4 श्रीधरस्वामिना गौणी वृत्तिर्भिन्नैवेत्युक्तम्।
—त्रिवेणिका, पृ. 32 पर उद्धृत।

5 लक्षणाविशेष एव गौणवृत्तिः। तयोः सम्बन्धमूलत्वाविशेषात्।
—अलङ्कारचिन्तामणि, पृ. 266

6 लक्षणातो भिन्ना गौणीति ये मन्यन्ते तन्मतं रिक्ततरमिति सूचनपरम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 50

किया है।[1] विद्यानाथ (13 वीं-14 वीं श.) ने भी गौणी-वृत्ति को लक्षणा का प्रभेद स्वीकार किया है, क्योंकि दोनों में सम्बन्ध की अनुपपत्ति, अर्थात् मुख्यार्थबाध मुख्यरूप से विद्यमान रहता है।[2]

धर्मसूरि (1360-1477 ई.) ने भी गौणी के अलग अस्तित्व का प्रतिवाद किया है। मीमांसकों को लक्ष्य कर उन्होंने कहा कि 'अग्निर्माणवक:' यहां पर अग्निगत पैङ्गल्यादिगुणों के सादृश्य के कारण माणवक को अग्नि-शब्द से अभिहित करते हुए, जो लोग यहां पर गौणी-वृत्ति मानने के साथ ही इस गौणी-वृत्ति को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति के रूप में अङ्गीकार करते हैं, उनसे हमारा प्रश्न है कि सम्बन्धानुपपत्ति, अर्थात् मुख्यार्थ-बाधादि जो लक्षणा के प्रयोजन हैं, वे यहां भी हैं या नहीं ? यदि हैं तो लक्षणा व्यवहार ने कौनसा अपराध किया है ? यदि आप यह कहें कि यहां लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों का अभाव है, तो आपका यह तर्क भी समीचीन नहीं है, क्योंकि अग्नि और माणवक का सम्बन्ध कितना ही दुर्निरूप्य क्यों न हो, वह सादृश्य-सम्बन्ध की परिधि में तो आता ही है और इस प्रकार से यहां भी लक्षणा मानना युक्तियुक्त है।[3]

---

1 सादृश्येतरसम्बन्धा: शुद्धास्ता: सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिता:॥
—साहित्यदर्पण, पृ. 99

2 गौणीवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव। सम्बन्धानुपपत्तिमूलत्वात्।
—प्रतापरुद्रीय, पृ. 45

3 आचार्या: पुन'रग्निर्माणवक:' इत्यत्र अग्निगतपैङ्गल्यादिगुणसादृश्यान्माणवकेऽग्निशब्दप्रवृत्तिरिति गौणी नाम वृत्यन्तरमुररीचक्रिरे। तथा चोक्तम्—

अग्नित्वलक्षितादर्थाद् यत्पैङ्गल्यादि गम्यते।
तेन माणवके बुद्धि: सादृश्यादुपजायते॥ इति।

मतद्वयनिरास:—तान्पृच्छाम: सम्बन्धानुपपत्तिप्रयोजनानि खलु लक्षणाबीजानि। तानीहापि सन्ति किम् ? न सन्ति वा ? आद्ये किमपराद्धं तत्र लक्षणाव्यवहारेण। न द्वितीय:, तेषां दुरपह्नवत्वात्। नन्वत्र सम्बन्धो दुर्निरूप:। कस्तवायमभिप्राय: ? अभिधेयाविनाभावो न सम्भवतीति चेत्, मा सम्भवतु। सादृश्यं तु भविष्यति। न हि स एव सम्बन्धो लक्षणोपयोगीति निर्बन्ध:।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 260-261

जगदीशतर्कालङ्कार (1653 ई.) ने भी गौणी-वृत्ति को लक्षणा के अन्तर्गत ही माना है। उनका कथन है कि 'अग्निर्माणवकः' आदि स्थलों में लक्षणा से ही अग्न्यादि सादृश्य, अर्थात् अग्निसदृश-तेजस्विता से युक्त माणवक की प्रतीति होती है।[1] **तर्कालङ्कार** ने **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में लक्षणा-विभाजन के अवसर पर लक्षणा के साथ गौणी-वृत्ति की पृथक् रूप से चर्चा तक नहीं की।[2] इससे प्रतीत होता है कि वे मीमांसकों की विचारधारा का विरोध ही नहीं करते, अपितु उनकी उस विचारधारा (गौणी-वृत्ति की पृथक् सत्ता) की उपेक्षा भी करते थे।

धर्मराजाध्वरीन्द्र (1560 ई.)-प्रभृति वेदान्ती लोग गौणी-वृत्ति को पृथक्-वृत्ति नहीं मानते हैं। ये लक्षितलक्षणा में ही गौणी का अन्तर्भाव करते हैं। 'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थल में सिंह शब्द वाच्य के सम्बन्धी शौर्य-क्रौर्य आदि धर्म हैं, तादृश क्रौर्यादि-धर्मसम्बन्ध से माणवक की प्रतीति लक्षणा-वृत्ति से ही होती है, अतः उक्त स्थल में अलग से गौणी-वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।[3] **कणादतर्कवागीश** (1560 ई.) ने गौणी और लक्षणा दोनों को अभिन्न माना है। उन्होंने अपने **भाषारत्न** नामक कृति में इस मान्यता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नैयायिक प्रभृति आचार्य गुणयोग से यह गौणी-लक्षणा होती है, ऐसा कहकर गौणी का वृत्यन्तरत्व निराकरण करते हैं। वस्तुतः गौणी-लक्षणा

---

1 गौणीवृत्तिरपि लक्षणैव, यथाऽग्निर्माणवकः, गौर्वाहीकः, अत्र लक्षणया अग्न्यादिसादृश्यं प्रतीयते।
—तर्कामृत, पृ. 51

2 जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थनिरूढाऽऽधुनिकादिकाः।
लक्षणा विविधास्ताभिर्लक्षकं स्यादनेकधा ॥
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 154

3 गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा—'सिंहो माणवकः' इत्यत्र सिंहशब्दवाच्य-सम्बन्धिक्रौर्यादितत्सम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः।
—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 21

अन्यच्च

अयं भावः—'सिंहो माणवकः' इत्यत्र माणवके सिंहपदस्य लक्षितलक्षणात्मिकैव वृत्तिः। न गौणी नाम्नी काचनातिरिक्तावृत्तिः।
—वेदान्तपरिभाषा, (भगवतीव्याख्या), पृ. 170

का आधार सादृश्यात्मक सम्बन्ध ही है।[1] **अप्पयदीक्षित** (16 वीं श.) ने लक्षणा से सर्वथा भिन्न गौणी-लक्षणा मानने वाले मीमांसकों का खण्डन किया तथा इस बात की स्थापना की है, कि सादृश्य भी एक प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण गौणी का समावेश लक्षणा में ही हो जाता है, अतः सादृश्य-गर्भ से गौणी और तदन्य सम्बन्ध से शुद्धा होने के कारण, लक्षणा द्विधा विभाजित है।[2]

नागेश (1700 ई.) ने भी गौणी के अलग अस्तित्व का पूर्ण प्रतिवाद किया है।[3] **अन्नंभट्ट** (16 वीं-17 वीं श.) ने **तर्कसंग्रह** एवं स्वकीय **दीपिका-टीका** में गौणी को लक्षणा के ही अन्तर्भूत माना है, क्योंकि गौणी भी गुण-सम्बन्ध-रूपा लक्षणा ही है।[4]

गोकुलनाथ-उपाध्याय (1709 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की टीका में **नृसिंह** के मत को उपस्थापित किया है, जिन्होंने गौणी के पृथक् अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए कहा है कि गौणी पृथक्-वृत्ति नहीं है, इसी बात को बतलाने के लिए

---

1 नैयायिकादयस्तु गुणयोगादेषा गौणी लक्षणेति व्याचक्षाणा वृत्त्यन्तरत्व-मस्या प्रतिक्षिपन्ति।.... तत्र सादृश्यात्मकशक्यसम्बन्धो लक्षणा गौणी।

—भाषारत्न, पृ. 216

अन्यच्च

लक्ष्यमाणा जाड्यादयः तैरेव यदि योगः शक्यसम्बन्धस्तदा गौणीवृत्ति-रिति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), पृ. 71

2 तत्सादृश्येन प्रतिपादकस्वरूपा गौण्यपि लक्षणा प्रभेद एव,........तस्मात्—सादृश्यगर्भतदन्यसम्बन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 18

3 यत्तु, गौणी न लक्षणान्तर्गता, विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धे सत्येव लक्षणा-ऽप्रवृत्तेः। ....स्वनिरूपितविरोधाधिकरणत्वसम्बन्धेऽपि तस्याः क्लृप्तत्वात्।

—वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 22-23

4 गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसम्बन्धरूपा। यथा—अग्निर्माणवक इति।

—तर्कसंग्रहदीपिका, पृ. 188

सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद शुद्धा के ही नहीं अपितु गौणी के भी होते हैं।[1]

निष्कर्ष

मीमांसक गौणी को लक्षणा से भिन्न और अतिरिक्त वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। **कुमारिलभट्ट**-प्रभृति मीमांसकों ने लक्षणा तथा गौणी की परिभाषा भी भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में की है। आठवीं शताब्दी पर्यन्त गौणी एवं लक्षणा वृत्ति का पार्थक्य बना रहा। सर्वप्रथम **मुकुलभट्ट** ने **अभिधावृत्ति-मातृका** में लक्षणा के द्वितीय भेद, जिसको उन्होंने उपचार नाम से अभिहित किया, के अन्तर्गत इस गौणी-वृत्ति को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया।

तदनन्तर मम्मट ने **काव्यप्रकाश** में गौणी को लक्षणा के अङ्गरूप में उपन्यस्त कर सदा के लिए इसे लक्षणा के अन्तर्गत ही अन्तर्भावित कर दिया। जिसका समर्थन आगे चलकर **अजितसेन, विश्वनाथ, विद्यानाथ, धर्मसूरि, अप्पयदीक्षित** आदि विद्वानों के अतिरिक्त **जगदीशतर्कालङ्कार, धर्मराजाध्वरीन्द्र, कणादतर्कवागीश, अन्नंभट्ट**-प्रभृति परवर्ती दार्शनिकों एवं वैय्याकरणों ने भी किया। साथ ही कुछ विद्वान्, जो मीमांसकों से अधिक प्रभावित थे, दोनों ही वृत्तियों को भिन्न-रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए, पूर्ण-मनोयोग से एकीकरणवादियों का समय-समय पर अपनी कृतियों में खण्डन करते रहे। इस प्रकार के आचार्यों में **शालिकनाथमिश्र, भोजराज, रुय्यक, गागाभट्ट** आदि प्रमुखरूपेण दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राचीनकाल में लक्षणा के लिए आलङ्कारिक भी यद्यपि गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग करते थे, किन्तु इन्हें मीमांसकों की तरह गौणी को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति रूप में मानना कभी भी अभिप्रेत नहीं रहा।

प्रयोजनवती-शुद्धा-उपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्था)

गौणी और शुद्धा के विषय में भेदवादियों तथा अभेदवादियों की मान्यताओं को प्रस्तुत करने के पश्चात् यहाँ प्रयोजनवती-शुद्धा के सर्वप्रथम उपादानलक्षणा भेद को विवेचित किया जा रहा है। आचार्यों ने इस उपादानलक्षणा को अजहत्स्वार्था, अजहल्लक्षणा आदि नामों से भी अभिहित

---

1 गौणी तु न पृथग्वृत्तिरिति ज्ञापयितुं सारोपासाध्यवसाने विभज्येते। भेदाविमौ च सादृश्यात्

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 70-71

किया है। उपलब्ध-प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम, अर्थात् **काव्यप्रकाशकार** से भी पहले **मुकुलभट्ट** (883-925 ई.) ने शुद्धा-मूलक-लक्षणा के जो दो भेद किये, वे हैं—उपादान एवं लक्षण।[1]

उपादानलक्षणा

आचार्यों की मान्यता के अनुसार उपादानलक्षणा का स्वरूप निम्न प्रकार से होगा—लक्षणा में सदा मुख्यार्थ का त्याग होता है, अतः मुख्यार्थ का तिरस्कार उसमें कहां तक पाया जाता है, इस दृष्टि से लक्षणा के दूसरे ढंग से भेद किए जाते हैं। एक भेद वह है, जिसमें मुख्यार्थ का पूरा तिरस्कार नहीं होता है। वहां मुख्यार्थ के साथ ऊपर से कुछ और भी जोड़ दिया जाता है तथा शब्द अपने मुख्य अर्थ को भी नहीं छोड़ता (अजहत्) तथा दूसरे अर्थ का ग्रहण (उपादान) करता है, अतः इसे उपादानलक्षणा (अजहल्लक्षणा) कहते हैं। इसी उपादान को **मम्मट**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने उपादानलक्षणा, वैय्याकरणों ने अजहत्स्वार्था, नैय्यायिकों एवं वेदान्तियों ने अजहल्लक्षणा नाम से अभिहित किया।

इसी प्रकार **भट्ट** के लक्षण को परवर्ती आचार्यों ने क्रमशः लक्षणलक्षणा, जहत्, जहत्स्वार्था, जहल्लक्षणा आदि नामों से अभिहित किया। उपादान-लक्षणा का तात्पर्य है—वस्तुभूत मुख्यार्थ-सम्बन्ध से अवस्तुभूत (लक्ष्य) अर्थ की मुख्यार्थ के साथ लक्षणा। यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' में 'कुन्ता' पद की कुन्तयुक्त पुरुषों में लक्षणा होती है।

भट्ट ने उपादानलक्षणा के विषय में कहा है कि यह लक्षणा, वहीं होती है जहां अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। उक्त लक्षणा के उदाहरण के रूप में **भट्ट** ने 'गौरनुबन्ध्य' यह वाक्य दिया है।[2] जिसका अर्थ है कि याग में गौ (वृषभ) का अनुबन्धन किया जाय।

---

1 उपादानलक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 12

2 स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत् ॥ 3 ॥ उपादानम्।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 13

अन्यच्च

यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा—'गौरनुबन्ध्यः' इति।
—वही, पृ. 13

मीमांसक 'गौ' शब्द का वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति को लेते हैं, अतः उस वाक्य के अनुसार समस्त गो जाति को मारना कदापि सम्भव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उक्त वाक्य को सङ्गत करने के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर 'गौ' का अर्थ गो जाति न लेकर गोत्व से युक्त गौ-व्यक्ति को लेंगे, क्योंकि गोत्वरूपी विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई अभिधा-शक्ति किसी भी प्रकार से गौ व्यक्तिरूप-विशेष्य का बोध नहीं करा सकती, ऐसी भट्ट की मान्यता है।

वस्तुतः यह मुख्य अर्थ गोत्व है। वह व्यक्ति, अर्थात् गौ-शरीर के आक्षेप के बिना याग का साधन नहीं बनता, अतः यहां उसके यज्ञ-साधनत्व की सिद्धि के लिए गौ-व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है।[1]

भट्ट ने उपादानलक्षणा का द्वितीय उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' (देवदत्त स्थूल है, दिन को नहीं खाता) दिया है। यहां दिन में न खाने के साथ-साथ प्रतीयमान स्थूलत्व प्रतिपाद्य है, अतः वह अपनी सिद्धि के लिए, कारणभूत रात्रि-भोजन को आक्षेप के द्वारा अपनाता है।[2]

---

1 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते, 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति-विशेषणे' इति न्यायात्।

—काव्यप्रकाश, पृ. 55

तुलनीय—अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 13

अन्यच्च

गौरनुबन्ध्य इत्यत्र स्वानुबन्धनसिद्धये ॥ 6. 198
व्यक्तिराक्षिप्यते जात्या न शब्देनाभिधीयते।
'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे ॥'
इति न्यायादुपादानलक्षणा नात्र शङ्क्यताम्।

—भावप्रकाशन, पृ. 163-164

2 अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति। ....अथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेना-र्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 13

मम्मटाचार्य ने यद्यपि उपादानलक्षरणा का लक्षण **भट्ट** के अनुसार ही किया[1], किन्तु भट्ट-प्रदत्त उपादानलक्षरणा के उक्त दोनों उदाहरण उन्हें मान्य नहीं हैं। **मम्मट** 'गौरनुबन्ध्य' में लक्षणा को मानने के लिए इसलिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि यहां न तो रूढि है और न ही कोई प्रयोजन ही दृष्टि-गोचर हो रहा है, अतः **मम्मट** के अनुसार रूढि या प्रयोजनान्यतर वाली तृतीय शर्त पूरी नहीं होती है। **मम्मट** ने यहां पर दूसरा तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि जाति से व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है, क्योंकि जाति बिना व्यक्ति के रह ही नहीं सकती है, अतः यहां 'गौ' जाति से व्यक्ति का बोध उसी प्रकार हो जायेगा, जैसे—'गच्छ' क्रिया से 'त्वं' पद का तथा 'कुरु' से कर्म की आकाङ्क्षारूप में कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है।[2]

भट्ट ने उपादानलक्षरणा का उदाहरण देते हुए कहा कि 'देवदत्त मोटा है, परन्तु दिन में नहीं खाता है।' इस वाक्य में देवदत्त के पीनत्व की सार्थकता सिद्ध करने के लिए 'रात्रि में खाता है', इस अर्थ को उपादान से ग्रहण करना पड़ता है, अतः उपादानलक्षरणा है। उपादानलक्षरणा का यह उदाहरण भी **मम्मट** को मान्य नहीं है। वे मीमांसकों की मान्यता को ही अस्त्र बनाकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—आपके (मीमांसकों) अनुसार किसी

---

1 स्वसिद्धये पराक्षेपः.......उपादानम्।

—काव्यप्रकाश, पृ. 53

अन्यच्च

—शब्दव्यापारविचार, पृ. 8

2 इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा—'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता। 'कुरु' इत्यत्र कर्म। 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादौ 'गृहम्', 'भक्षय' इत्यादि च।

—काव्यप्रकाश, पृ. 55-56

अन्यच्च

रूढिप्रयोजनाभावाज्जातिव्यक्त्योरभेदतः॥ 6. 199
क्रियादीनामभावाच्च नैवोपादानलक्षणा।
अकारि कारय कुरु क्रियतामिति यद्वचः॥
भावः कारयिता कर्म कर्ता चाक्षिप्यते यतः।
इत्यादावप्युपादानलक्षणा नैव शङ्क्यताम्॥

—भावप्रकाशन, पृ. 164

असङ्गत अर्थ को देखकर उसके उपपादकीभूत-अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापत्ति-प्रमाण कहा जाता है।[1] आपके द्वारा स्वीकृत इस अर्थापत्ति-प्रमाण से ही उक्त अर्थ की प्रतीति हो जायेगी, अतः यहां उपादानलक्षणा मानना व्यर्थ है। **मम्मट** की उक्त विचारधारा का समर्थन **शारदातनय, कविकर्णपूर** तथा **विद्याभूषण** ने भी किया है।[2]

मुकुलभट्ट तथा **मम्मट** की उपादानलक्षणा-विषयक मान्यताओं के विवेचन के अनन्तर, अन्य आचार्यों के मतों को भी उपन्यस्त किया जा रहा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कुछ आचार्यों ने उपादानलक्षणा का अपरनाम अजहत्स्वार्था व्यवहृत किया है। जिस प्रकार **मम्मटादि** आचार्यों ने 'उपादानेन इयं लक्षणा' कहकर उपादानलक्षणा की व्युत्पत्ति की है, उसी प्रकार अजहत्स्वार्था को भी—'अजहत् अपरित्यजन् स्वार्थः शक्यार्थो यां सा' अथवा

---

1 अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं 'अर्थापत्तिः'।
—तर्कभाषा, साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1971 ई., पृ. 46

2 यत्र स्यादर्थसामर्थ्यं तत्रार्थापत्तिरुच्यते।
श्रुतसामर्थ्ययोगेन श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥
देवदत्तादिपुरुषपीनत्वानुपपत्तितः।
भोजनस्य निसिद्धस्य दिवा रात्रौ प्रकल्प्यते॥
अर्थापत्तिर्भवेद्वा श्रुतार्थापत्तिरेव वा।
—भावप्रकाशन, पृ. 164

अन्यच्च

यत्र यत्राविनाभावोऽर्थापत्तिर्वा तत्र तत्र नोपादानलक्षणा, प्रयोजनरूढ्योरभावात्। यथा 'गौरनुबन्ध्य'।........पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, रात्रौ भुङ्क्त इत्यर्थापत्त्यैव गम्यत इत्यादिषु नोपादानलक्षणा। केवलं 'कुन्ताः प्रविशन्तीति' इत्यादिषु सा।

—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 46-47

अन्यच्च

यत्र त्वविनाभावोऽर्थापत्तिर्वा तत्र नेयं लक्षणा रूढिफलयोरभावात्। यथा—'गौरनुबन्ध्य' इति श्रुतिचोदितमनुबन्धनं मे कथं स्याद् इति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते।........'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र रात्रिभोजनमर्थापत्त्यैव लभ्यते, न तु लक्ष्यते असिद्ध्यर्थं दृष्ट्वा साधकान्यर्थकल्पनं ह्यर्थापत्तिः।

—साहित्यकौमुदी, निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई, सं. 1982, पृ. 13

'न जहाति पदानि स्वार्थं यस्यां सेति' निर्वचन के माध्यम से व्याख्यात किया जा सकता है। इन दोनों ही नामों के माध्यम से लक्षरणा के इस भेद को विवेचित करने वाले आचार्यों के मतों का आकलन यहां प्रस्तुत है—

अमरचन्द्रयति (11-13 वीं श.) का कथन है—अपने अर्थ की सिद्धि के लिए जहां पर दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय वहां उपादानलक्षरणा होती है। इसका उदाहरण **यति** ने 'पुरे कुन्ताः प्रविशन्ति' (नगर में भाले प्रविष्ट हो रहे हैं) दिया है। यहां पर 'कुन्त' पद अपने प्रवेश की सिद्धि के लिए स्वसंयोगी-पुरुषों का आक्षेप कर लेता है, अतः यहां उपादानलक्षरणा है।[1] **चण्डीदास** (1300 ई.) के अनुसार उपादानलक्षरणा वहां होती है, जहां तात्पर्यवृत्ति से बोध्य-पदार्थों की सङ्गति हेतु, अर्थात् दूसरे अर्थ की प्रतीति के लिए वाच्यार्थ के माध्यम से आक्षेप द्वारा अर्थ की सङ्गति कर ली जाती है।[2]

अजितसेन (1266 ई.) ने यद्यपि जहत्स्वार्था के समान अजहत्स्वार्था का लक्षरण नहीं दिया, किन्तु उनके द्वारा श्लोकबद्ध अजहत्स्वार्था का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह अतीव सुन्दर होने के साथ लक्षरण की समग्र सामग्री को अपने में समेटे हुए है। यथा—'मध्य में विराजमान सिंहासन को मुकुटों ने विविध रत्नमरीचियों से अलङ्कृत किया।' यहां मुकुट स्वयं किसी के पास जाकर अलङ्कृत नहीं कर सकते हैं, अतः अलङ्कृति की सिद्धि के लिए तदाश्रयीभूत इन्द्र आदि अर्थ लक्षित होते हैं।

दर्पणकार-विश्वनाथ (1300-1380 ई.) ने प्रयोजनवती-लक्षरणा के अन्तर्गत शुद्धा के उक्त दो भेद **मम्मट** के अनुसार ही किए हैं। **विश्वनाथ** रूढा के भी दो भेद मानते हैं, अतः प्रयोजनवती तथा रूढा-उपादानलक्षरणा के उदाहरण क्रमशः 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं) 'श्वेतो धावति' (श्वेत दौड़ रहा है) दिए हैं। प्रथम उदाहरण प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना-उपादानलक्षरणा का है, द्वितीय उदाहरण रूढा-शुद्धा-साध्यवसाना-उपादानलक्षरणा का है। उनके अनुसार जहां वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के

---

1 उपादानं स्वसिद्ध्यर्थं पराक्षेपः। यथा—'पुरे कुन्ताः प्रविशन्ति' अत्र कुन्तैः स्वप्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षरणा।

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44

2 तात्पर्यवृत्तिबोध्यपदार्थान्वयानुप्रवेशनिष्पत्तये परस्यान्वयमुख्याङ्गस्याक्षेपो झटित्युपनयनं यया सा उपादानेन स्वार्थापरित्यागेन लक्षरणा।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 42

लिए मुख्य-अर्थ से भिन्न अर्थ का आक्षेप हो, उसे निज मुख्य-अर्थ का भी उपादान (ग्रहण) होने से उपादानलक्षणा कहते है।[1] भावदेव (1412 ई.) ने लक्षण तथा उदाहरण श्लोकबद्ध-रूप में उपन्यस्त किए हैं।[2]

विजयवर्णी (14 वीं श.) ने भी लक्षण स्पष्ट रूप से किया है, उनके मतानुसार जहां शब्द मुख्यार्थ का परित्याग न करता हुआ तत्सम्बन्ध से युक्त अन्यार्थ में प्रवृत्त होता है, वहां अजहल्लक्षणा होती है।[3]

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य (1323-1380 ई.) ने स्वार्थ-सिद्ध्यर्थ पराक्षेप को उपादान माना तथा इस उपादानलक्षणा को इन्होंने अजहत्स्वार्था नाम से अभिहित किया। उपादान का उदाहरण 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं से दधि की रक्षा करो) दिया है।[4] यहां भोजन के निमित्त रक्षा में वक्ता का तात्पर्य है, वह कौओं के साथ-साथ बिडालादिकों से भी दधि-रक्षण के बिना सम्भव नहीं होता है, अतः काक पद की सभी दधि उपघातकों में अजहल्लक्षणा होती है।

धर्मसूरि (1360-1477 ई.) ने प्रयोजनवती लक्षणा को शुद्धा, सारोपा तथा साध्यवसाना नाम से त्रिधा विभाजित कर एक नई दिशा देने का प्रयास किया तथा शुद्धा के भी जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, जहदजहत्स्वार्था ये तीन भेद किए। सारोपा और साध्यवसाना को भी गौणी तथा शुद्धा भेद से द्विधा

---

1 मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥
रूढावुपादानलक्षणा, यथा—'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति'।
—साहित्यदर्पण, पृ. 95

2 कुन्ता विशन्तीत्यादौ यः पराक्षेपः स्वसिद्धये।
परोपादानतः साऽऽद्या स्मृतोपादानलक्षणा॥ 2. 12
—अलङ्कारसार, पृ. 344

3 अपरित्यज्य मुख्यार्थं शब्दोऽन्यत्र प्रवर्तते।
तत्सम्बन्धयुते यत्र साजहल्लक्षणेतरा॥ 17॥
शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 8

4 यत्स्वार्थेन पराक्षेपः··········उपादानम्।
एते एव जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थेति प्रकीर्तिते॥ 1. 3॥ यथा—काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।
—काव्यपरीक्षा, पृ. 3

विभाजित कर इस प्रकार प्रयोजनवती को सप्तधा विभाजित किया।[1] उन्होंने यह भी बतलाया कि यह अजहत्स्वार्था, समासोक्ति का भी बीज है, क्योंकि प्रस्तुत-विशेषण साम्य से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति होती है। वहां प्रस्तुत स्वरूप के अनुमर्दन से विशेषण की महिमा से अप्रस्तुत का आक्षेप होता है।[2]

धर्मसूरि ने अजहत्स्वार्था के स्पष्टीकरण में कहा है कि जहां शब्द स्वार्थ की क्रिया की सिद्धि के लिए स्वार्थ-अपरित्याग के माध्यम से तद्विशिष्ट-अर्थान्तर-स्वार्थयुक्त होकर लक्षित कराता है, वहां अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है। जैसे–'कुन्त प्रविष्ट हो रहे हैं', इत्यादि स्थल में कुन्तप्रवेश की सिद्धि के लिए तद्वान् पुरुष लक्षित होते हैं।[3] इसका दूसरा श्लोकबद्ध उदाहरण राम की सभा-विषयक है—राम की सभा को लक्ष्य कर किसी ने कहा—'हे राम! धर्मराज के सदृश आपकी सभा में दया, दाक्षिण्य, दानवदान्यता, धैर्य, धर्म आदि गुण प्रवेश कर रहे हैं।' यहां दया, धर्म आदि गुणों का प्रवेश असम्भव होने के कारण दयादि शब्द स्वार्थ के उपादान-पुरस्सर तत्सम्बन्धी पुरुषों को लक्षित करते हैं।[4]

---

1 प्रयोजनलक्षणावैचित्र्यम्—प्रयोजनलक्षणा तु प्रथमं 'शुद्धा सारोपा, साध्यवसाना च' इति त्रिविधा। तत्राद्या—जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्था, जहदजहत्स्वार्था चेति त्रिधा। इतरे तु 'प्रत्येकं गौणी शुद्धा चेति' द्विविधे इति फलतो लक्षणा सप्तविधेति।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 224

2 इयमजहल्लक्षणा समासोक्त्यादेर्बीजम्। प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे हि समासोक्तिः, तत्र प्रस्तुतस्वरूपानुमर्दनैव विशेषणमहिम्नाऽप्रस्तुताक्षेपात्।
—वही, पृ. 235

3 शब्दः स्वार्थक्रियासिद्ध्यै स्वार्थत्यागेन लक्षयेत्।
अर्थान्तरं स्वार्थयुतं साऽजहत्स्वार्थिका भवेत्॥
यत्र शब्देन स्वार्थगतक्रियासिद्धये स्वार्थपरित्यागेनैव तद्विशिष्टमर्थान्तरं लक्ष्यते। यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तप्रवेशाय तद्वन्तः पुरुषा [लक्ष्यन्ते]।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 232

4 दयादाक्षिण्यदातृत्वधैर्यधर्मादयो गुणाः।
विशन्ति भवतो राम! सुधर्मासन्निभां सभाम्॥
अत्र दयादिगुणानां स्वतः सभाप्रवेशासम्भवात् तत्सिद्धये दयादिशब्दाः स्वार्थोपादानेनैव तत्सम्बन्धिनः पुरुषान् लक्षयन्ति।
—वही, पृ. 232

परमानन्द (1416 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की **विस्तारिकाव्याख्या** में उपादानलक्षणा की व्याख्या करते हुए कहा कि जहां आत्मीय, अर्थात् शक्यार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे शब्दान्तर-वाच्य अर्थ का आक्षेप, अर्थात् तद्वाचक शब्द के विना तदर्थ का उपस्थापन करा लिया जाये, वहां उपादानलक्षणा होती है। लक्ष्यवाचक शब्द से तदर्थ की उपस्थिति में इसका विषय नहीं होगा। परार्थवाचक शब्द के अनुपादान होने पर परार्थ की प्रतीति हो जाना स्व-समर्पण का फल है।[1]

धर्मराजाध्वरीन्द्र (1360 ई.) के अनुसार, जहां शक्यार्थ को बीच में लेकर अर्थान्तर की उपस्थिति हो वहां अजहल्लक्षणा होती है। यथा—'शुक्लो घटः' इस स्थल में शुक्ल-शब्द अपने शुक्ल-गुणरूप अर्थ को बीच में लेकर ही शुक्ल गुणवाले घटरूप द्रव्य का लक्षणा द्वारा बोधक है।[2] **भट्ट-शंकर** (1575-1625 ई.) ने **मीमांसाबालप्रकाश** में **गौतम** के मतानुसार कहा कि जहां शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ इन दोनों का प्राधान्य हो वहीं ही अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है। जैसे—कौओं से दही की रक्षा करना।[3]

भट्ट की मान्यता के अनुसार यह (लक्षणलक्षणा) उपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्था) के द्वारा बाधित हो जाती है, क्योंकि अजहल्लक्षणा में मुख्यार्थ

---

1 स्वस्यात्मीयस्यार्थस्य शक्यस्य सिद्धये अन्वयप्रतियोगित्वाय परस्य शब्दान्तरवाच्यस्याक्षेपस्तद्वाचकशब्दं विना तदुपस्थापनमाक्षेपस्य तथैव प्रसिद्धेः, तेन लक्ष्यवाचकशब्दात्तदुपस्थितौ नास्या विषयः। कुन्ताः प्रविशन्तीत्यत्र कुन्तपदेन कुन्तोपस्थापनात्। एवं विवक्षायां फलं वक्ष्यामः—परार्थं परप्रतीतये, स्वस्यात्मीयस्य समर्पणमुपस्थापनमात्रम्, नान्वयप्रवेशः। प्रयोजनापरपर्यायेण स्वपदेन फलत्वावगतिः। परवाचकशब्दानुपादान एव परप्रतीतौ स्वसमर्पणस्य फलम्, उपादाने तु तत एव तत्सिद्धिरेतत् फलत्वं न स्यात्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्दचक्रवर्ती), पृ. 51

2 यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राऽजहल्लक्षणा। यथा—'शुक्लः पट' इत्यत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्त्तते।

—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 101

3 गौतमीयास्तु यत्र शक्यलक्ष्ययोरुभयोरपि प्राधान्यं 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ तत्रैव अजहत्स्वार्था लक्षणेत्याहुः।

—मीमांसाबालप्रकाश, पृ. 142

की सङ्गति हो जाती है, जबकि जहल्लक्षणा में इसका अभाव रहता है।[1]

आचार्यविश्वनाथदेव (1592 ई.) ने उक्त लक्षणा को उपादानलक्षणा नाम से अभिहित करते हुए कहा है—जहां अपने अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की कल्पना की जाती है, वहां अपने अर्थ को ग्रहण करने के कारण बुद्धिमानों के द्वारा वह उपादानलक्षणा कही जाती है।[2]

कविकर्णपूर (16 वीं श.) ने उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा का लक्षण संक्षिप्त एवं सम्मिलित-रूप से एक ही कारिका के माध्यम से किया है।[3] उपादानलक्षणा के उदाहरण के रूप में 'वेणुर्गायति' (वीणा गाती है) 'वीणाः श्रुतिमनुकुर्वन्ति इति' (वीणाएं श्रुति का अनुकरण कर रही हैं) उदाहरण दिए गए हैं।[4] **अप्पयदीक्षित** भी **मुकुलभट्ट**-प्रदत्त उपादानलक्षणा के दोनों उदाहरणों का **मम्मट** के समान ही खण्डन करते हैं। उक्त लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस उदाहरण को देने की अपनी सम्मति प्रकट करते हुए, निर्दय-प्रहर्तृत्वादि द्योतन करना ही इस लक्षणा का फल मानते हैं।[5] **गागाभट्ट** के अनुसार अपने शक्यार्थ विशेष्यक, अर्थात्

---

1 तत्र लक्षणानां मध्ये अजहत्स्वार्थया जहत्स्वार्था बाध्यते। पूर्वस्यामुख्यार्थस्य वाक्यार्थान्वयात् उत्तरस्यां तदभावात्।
—मीमांसाबालप्रकाश, पृ. 142

2 यत्र स्वार्थान्वयाय स्यादपरार्थस्य कल्पनम्।
उपादानादियं प्रोक्ता लक्षणा सा विचक्षणैः॥ 2. 15
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 42

3 पराक्षेपः स्वसिद्ध्यर्थं परस्मिन् स्वसमर्पणम्।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादानलक्षणे॥ 2. 26
—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 45

4 'वेणुर्गायति' वीणाः श्रुतिमनुकुर्वन्तीति, वेण्वादिभिः स्वसिद्ध्यर्थं स्वस्ववादकानां परेषां श्रीकृष्णललितादीनामाक्षेपः कृतः इत्युपादानलक्षणा।
—वही, पृ. 46

5 'कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्ट्यश्च' इति। अत्र 'कुन्ता'दिपदस्य तद्वत्सु पुरुषेषु लक्षणा। कुन्तादेरपि पुरुषसाहित्येन प्रवेशक्रियान्वयाद् अजहल्लक्षणा। तेषां निर्दयप्रहर्तृत्वादिद्योतनं फलम्।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 20

वाच्यार्थ के अन्वय-बोध की प्रयोजिका अजहत्स्वार्था लक्षणा है।[1]

पण्डितराजजगन्नाथ (1620-1665 ई) ने **रसगङ्गाधर** के द्वितीय आनन में सप्तविधा लक्षणाओं के अन्तर्गत जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था भेदों को गिनाया है, किन्तु उनका लक्षण नहीं दिया। लक्षणा से पूर्व ध्वनि-निरूपण के अवसर पर उक्त दोनों लक्षणाओं की सोदाहरण संगतिमात्र बिठायी है। **जगदीशभट्टाचार्य** (1625 ई.) ने **तर्कामृत** में लक्षणा को जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्थारूपेण द्विधा विभाजित तो किया, किन्तु इनका लक्षण नहीं दिया। इनके उदाहरण 'गङ्गायां घोष:', 'सर्वे छत्रिणो यान्ति', 'दधि पश्यति' आदि दिये हैं।[2]

विश्वनाथन्यायपञ्चानन (1634 ई.) ने इस लक्षणा के विषय में अधिक न कहते हुए इतना ही कहा है, कि 'कौओं से दधि की रक्षा करो।' 'छाता-धारी जाते हैं' ये अजहत्स्वार्था के उदाहरण हैं।[3]

महेश्वरन्यायालङ्कार (1640 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की टीका में उपादान-लक्षणा की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि यही अजहत्स्वार्था अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्या लक्षणा है।[4] **जगदीशतर्कालङ्कार** के अनुसार जहां वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ इन दोनों वृत्तियों से अथवा वाच्यार्थ के माध्यम से वाक्यार्थ

---

1 स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका, अजहत्स्वार्था।
—भाट्टचिन्तामणि, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1933 ई., पृ. 57

2 लक्षणा द्विविधा—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च। ······ दधि पश्यतीत्यादौ द्वितीयालोपस्थले दधिशब्द एवाजहत्स्वार्थलक्षणया दधिकर्मत्वं बोधयति।
—तर्कामृत, पृ. 52, 54

3 एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा। इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यते। एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात्।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 22

4 स्वं स्वीयमुख्यार्थस्य विवक्षितरूपेणान्वय:, तस्य 'सिद्धये' बोधाय 'परस्य' मुख्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नस्य, 'आक्षेप:' प्रत्यायनं ययेति शेष:, 'सा उपादानं' नाम लक्षणा। ···· अजहत्स्वार्थेयं लक्षणेत्यर्थ:। इयमेवार्थान्तर-संक्रमितवाच्या लक्षणा।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 51-52

सङ्गत होता है, वहां अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है।[1]

गोकुलनाथ-उपाध्याय (1560-1740 ई.) ने **धर्मसूरि** तथा **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के समान ही लक्षण किया है। उपाध्याय ने **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक कृति में कहा है कि मुख्यार्थ के परिहार से लक्ष्यार्थ को बोधित कराता हुआ, वाच्यार्थ जहां शब्दार्थ-सम्बन्ध को सङ्गत बनाए, वहां उपादानलक्षणा होती है।[2] इन्होंने **काव्यप्रकाश** की **विवरण** नामक टीका में आक्षेप का अर्थ स्मरण किया है।[3] **अन्नंभट्ट** (16 वीं-17 वीं श.) ने भी **तर्कसंग्रह** की **दीपिका** टीका में कहा है—जहां अन्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का भी अन्वय रहे वहां अजहत् (अजहल्लक्षणा) होती है।[4] ये उपादान लक्षणा को अजहल्लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं। **राजचूड़ामणिदीक्षित** (17 वीं श.) के अनुसार जहां स्वार्थ को त्यागकर अन्य-वृत्ति से पर का आक्षेप हो, वहां अजहत्लक्षणा होती है।[5]

नागेश (1700 ई.) ने इसका स्पष्ट-लक्षण करते हुए कहा है कि शक्यार्थ के अपरित्याग से अन्य-अर्थ का लक्षण, अजहत्-स्वार्था है। शक्यार्थ-अपरित्याग का अभिप्राय है कि शक्यार्थ के माध्यम से जिस किसी प्रकार लक्ष्यार्थ का अन्वित हो जाना, इसी स्थिति में अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है। इसके उदाहरण इन्होंने 'छत्रिणो यान्ति', 'कुन्ताः प्रविशन्ति' वाक्य दिये हैं।[6]

---

1 काचिच्छक्यलक्ष्योभयवृत्तिना शक्यवृत्तिनैव वा रूपेणानुभावकत्वादजहत्स्वार्था।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 155

2 मुख्यार्थपरिहारेण लक्ष्यार्थमपि बोधयन्।
शक्यशब्दार्थसम्बन्धः स्यादुपादानलक्षणा॥
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 15

3 स्वसिद्धये परस्य अमुख्यार्थस्य आक्षेपः स्मरणम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 64

4 यत्र वाच्यार्थस्याप्यन्वयस्तत्राजहदिति। यथा—छत्रिणो यान्ति।
—तर्कसंग्रहदीपिका, पृ. 188

5 स्वसिद्धये पराक्षेपे त्वजहल्लक्षणोच्यते।
वीक्ष्यानुद्रवतः कुन्तान् द्रवन्तिच्छत्रिणो रणात्॥
—काव्यदर्पण, पृ. 56

6 शक्यार्थपरित्यागेनेतराथलक्षणमाद्या। शक्यार्थपरित्यागश्च शक्यार्थस्य येन केनापि रूपेण लक्ष्यार्थान्वयिनान्वयित्वम्। अतः 'छत्रिणो यान्ति'

भीमसेन (1779 ई.) ने **काव्यप्रकाश** की टीका में कहा है—स्वार्थ के अपरित्याग से परार्थ का लक्षण, अर्थात् द्योतन जहां हो वहीं उपादानलक्षणा होती है।[1]

आशाधरभट्ट (18 वीं श.) के अनुसार जिस लक्षणा की स्थिति में शब्द शक्यार्थ का त्याग नहीं करता है, वहां अजहल्लक्षणा होती है।[2] इसका उदाहरण उन्होंने 'छत्रिणो यान्ति', 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' ही दिए हैं। इनके मतानुसार प्रथम-वाक्य में छत्री पद से छत्री-धारियों के साथ चलने वाले छत्र-रहित व्यक्तियों का भी बोध होता है, अतः यह फलवती अजहल्लक्षणा नाम से अभिहित की जाती है। इस वाक्य में बहुवचन का प्रयोग तात्पर्य-ग्राहक है तथा मुख्यतया जाने वालों में छत्रधारी हैं, इस अर्थ की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। द्वितीय उदाहरण में कौओं से दधि की रक्षा करना, वाक्य में 'काक' पद से दधि को खराब करने वाले सभी प्राणियों का लक्षणा से बोध होता है। यहां पर भी उक्त लक्षणा ही है। लाक्षणिक-प्रयोग का फल कौए की दुष्टता की प्रतीति है। इसी प्रकार भट्ट ने यहां 'राजा गच्छति', 'धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः' उक्त लक्षणा के ये दो उदाहरण और भी दिए हैं।[3]

'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', 'कुन्तान् प्रवेशय' इत्यादौ न दोषः······ लक्ष्यार्थान्वयिक्रियान्वयित्वात्।

—वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 23

अन्यच्च

स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिका अजहत्स्वार्था।

—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 39

1 स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानमित्यर्थः। अतः काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यस्य न तृतीयभेदत्वं, काकपदेन दध्युपघातकं लक्ष्यत इति भावः। ······ कुन्तादयः स्वतोऽसम्भवत्प्रवेशाः तत्सिद्धये स्वसंयोगिपुरुषान्तरं लक्षयन्ति।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), पृ. 66

2 यत्सत्त्वे शब्दः शक्यार्थं न जहाति चेदजहल्लक्षणा।

—त्रिवेणिका, पृ. 18

3 'छत्रिणो यान्ति' अत्र छत्रधारिवाचिना छत्रिशब्देन तत्सहचरेषु अच्छत्रिष्वपि व्यधिकरणविषया फलवती अजहल्लक्षणा। बहुत्वं तात्पर्य-

निरूढा-अजहल्लक्षणा

भट्ट ने निरूढा-लक्षणा में भी अजहल्लक्षणा की उपस्थिति मानी है। उनके मतानुसार जब वक्ता का कोई प्रयोजन-विशेष न हो, उस स्थिति में यह निरूढा-अजहल्लक्षणा मानी जाती है। इसका उदाहरण इन्होंने 'श्वेतो धावति' दिया है। यहां श्वेत-शब्द से श्वेत-गुण के आश्रयीभूत, गुणी—अश्वादि की लक्षणा से प्रतीति होगी और इसे निरूढा अजहल्लक्षणा कहा जायेगा। यहां पर श्वेत आदि शब्द गुण के वाचक हैं, इसका एक अन्य उदाहरण—'सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव' दिया है। इस वाक्य में भी असुर सामान्य वाचक 'सुरद्विष' शब्द से राहु-रूप विशेष-अर्थ की प्रतीति निरूढा-अजहल्लक्षणा के माध्यम से होती है।[1]

गौणी-अजहल्लक्षणा

इन्होंने शुद्धा के अतिरिक्त गौणी-लक्षणा में भी दर्पणकार के समान ही अजहल्लक्षणा की स्थिति मानी है। इनके मतानुसार सादृश्य-सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होने पर गौणी-अजहल्लक्षणा होती है। गौणी-लक्षणा के सारोपा एवं साध्यवसाना दोनों भेदों में उक्त लक्षणा होती है। भट्ट ने 'मुखं चन्द्रः' तथा 'चन्द्र एवाऽयम्' वाक्यों में क्रमशः गौणी-सारोपा-अजहल्लक्षणा तथा गौणी-साध्यवसाना-अजहल्लक्षणा मानी है।

इसी प्रकार 'गौर्वाहिकः', 'गौरेवायम्' इत्यादि वाक्यो में 'गौ' में विद्यमान जड़ता और मन्दता गुण-विशिष्ट, अतएव सदृश 'वाहीक' को 'गौ' पद से लक्षित कराया गया है। यहां भी क्रमशः सारोपा-गौणी-अजहल्लक्षणा तथा

ग्राहकम्। फलं तु छत्रिबाहुल्यप्रतीतिः। 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' अत्र काकशब्देन दध्युपघात(क)मात्रे फलवती अजहल्लक्षणा। फलं तु काक-दुष्टताप्रतीतिः। 'राजा गच्छति' अत्र राजन्शब्देन गजतुरगादिष्वपि फलवती अजहल्लक्षणा। फलं तु राजप्रसिद्धिप्रतीतिः। 'धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः' अत्र धनुष्शब्देन आयुधसामान्ये फलवती अजहल्लक्षणा। एवं ब्राह्मणग्रामादिष्वपि द्रष्टव्यम्।

—त्रिवेणिका, पृ. 20

1 निरूढाऽजहल्लक्षणा, 'श्वेतो धावति' अत्र गुणवाचिना श्वेतशब्देन तदाश्रये हयादौ निरूढाऽजहल्लक्षणा। ·········'सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव' अत्रासुरसामान्यवाचिना सुरद्विष्शब्देन राहुरूपविशेषो लक्ष्यते।

—त्रिवेणिका, पृ. 24

साध्यवसाना-गौणी-अजहल्लक्षणा है। यहां पर अतिशय जड़ता एवं मन्दता की प्रतीति कराना लक्षणा का फल है, इसी प्रकार 'अग्निर्माणवकः', 'अग्निरेवाऽयम्' में भी उक्त लक्षणा है। इन वाक्यों में 'माणवक' की अतिशय तीक्ष्णता या तेजस्विता द्योतन करना लक्षणा का फल है। 'पण्डितोऽयम् अपरः सूर्यः', 'सूर्य एव अयम्' तथा 'सिंहो देवदत्तः', 'सिंह एवायम्' इत्यादि वाक्यों में भी उक्त 'सारोपा-गौणी-अजहल्लक्षणा' तथा 'साध्यवसाना-गौणी-अजहल्लक्षणा' है।[1]

अगूढफला-अजहल्लक्षणा

भट्ट के अनुसार यद्यपि इस भेद का पृथक् विवेचन अलग से नहीं होना चाहिए था, क्योंकि यह भी फलवती-लक्षणा ही है, तथापि प्राचीन-आचार्य इस नाम से लक्षणा का विभाजन करते आये हैं, अतः आशाधर ने भी इसे पृथक् स्थान देने का प्रयत्न किया है। इसका उदाहरण उन्होंने दिया है—'गड्डुद्वयमिदं पीडयिष्यति किं तदेवाग्रे कथयिष्यति' आदि वाक्य में 'कथन' शब्द से बोधन-मात्र में लाक्षणिक प्रयोग किया गया है और यहां लक्षणा का फल अगूढ, अर्थात् सुविदित है। वह फल है, 'सुखी करेगा' इस अर्थ की प्रतीति कराना।

इसका दूसरा उदाहरण भी भट्ट ने दिया है, वह है—'वसन्तस्तरून् नर्तयति' (वसन्त पेड़ों को नचा रहा है), इस वाक्य में वसन्त-शब्द से बसन्तकाल में बहने वाली वायु की प्रतीति होती है, यहां भी अगूढ-फलाजहल्लक्षणा है। इस लक्षणा का फल मन्द-गति के द्वारा वृक्षों में सौन्दर्य देना है।[2]

---

1 सादृश्यसम्बन्धेतु गौणी अजहल्लक्षणा। यथा—'मुखं चन्द्रः', 'चन्द्र एवायम्', 'पण्डितोऽयमपरः सूर्यः', सूर्य एवायम्। 'सिंहो देवदत्तः', 'सिंह एवायम्', इत्यादिष्वजहल्लक्षणा, पूर्वार्थापरित्यागेन गुणरूपाधिकार्थग्रहणात्।
—त्रिवेणिका, पृ. 23

2 यद्यप्यगूढफला नावश्यं वक्तव्या तथापि प्राचीनानुसारेणोच्यते—'गड्डुद्वयमिदं पीडयिष्यति, किं तदेवाग्रे कथयिष्यति' अत्र कथनशब्देन बोधनमात्रेऽगूढफलाऽजहल्लक्षणा। फलं तु सुखयिष्यतीति प्रतीतिः। 'वसन्तस्तरून्नर्तयति' अत्र वसन्तशब्देन तद्वर्तिनि मारुतेऽगूढफलाऽजहल्लक्षणा फलं तु मन्दगत्या तरुचारुतापादकत्वप्रतीतिः।
—वही, पृ. 22

नरसिंह-कवि (18 वीं श.) का उक्त लक्षणा का लक्षण अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उनके अनुसार जहां शब्द स्वार्थगत क्रिया की सिद्धि के लिए, स्वार्थ के परित्याग से विशिष्ट अन्यार्थ को लक्षित कराता है वहां अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है।[1]

निष्कर्ष

प्रयोजनवती-लक्षणा का एक भेद उपादानलक्षणा भी **मम्मट**-प्रभृति आलङ्कारिकों को स्वीकार्य है। जहां शब्द अपने मुख्य-अर्थ को नहीं छोड़ता (अजहत्) तथा दूसरे अर्थ का ग्रहण (उपादान) करता है, उसे उपादान-लक्षणा नाम से आलङ्कारिक अभिहित करते हैं। वैय्याकरण इसे अजहत्स्वार्था तथा नैयायिक एवं वेदान्ती अजहल्लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं। **धर्मसूरि** के अनुसार इस लक्षणा में समासोक्ति का बीज निहित रहता है। **भट्ट-शंकर** के अनुसार उपादानलक्षणा द्वारा लक्षणलक्षणा बाधित कर ली जाती है, क्योंकि उपादानलक्षणा में मुख्यार्थ की संगति हो जाती है। जबकि लक्षण-लक्षणा में इसका अभाव पाया जाता है।

विभिन्न आचार्यों ने अनेक प्रकार से इसकी परिभाषा की है। **मम्मट**-परवर्ती **अजितसेन** ने इसकी परिभाषा तो नहीं की, किन्तु उदाहरण-रूप में जो श्लोक उपन्यस्त किया है, वह इस लक्षणा का भी पूरक कहा जा सकता है। **काव्यप्रकाश** की **विस्तारिकाव्याख्या** के कर्ता **परमानन्दचक्रवर्ती** ने अधिक व्यापक-रूप से इस उपादानलक्षणा को परिभाषित किया है—जहां आत्मीय (शक्यार्थ की) सिद्धि के लिए शब्दान्तरवाच्य अर्थ का आक्षेप (तद्वाचक शब्द के बिना तदर्थ का उपस्थापन) करा लिया जावे, वहां उपादानलक्षणा होती है। **भट्टशंकर** ने इस लक्षणा का उदाहरण 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' देते हुए इस उदाहरण के अनुरूप ही लक्षण करते हुए कहा—**गौतमीय** मतानुसार जहां शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ इन दोनों का प्राधान्य हो, वहीं उपादान-लक्षणा होती है।

आचार्य-विश्वनाथदेव ने कहा—जहां अपने अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की कल्पना की जाती है, वहां अपने अर्थ को ग्रहण करने के कारण वह उपादानलक्षणा कही जाती है।

---

1 यत्र शब्दः स्वार्थगतक्रियासिद्धये स्वार्थापरित्यागेन विशिष्टान्तरं लक्षयति तत्र अजहद्वाच्या।

—नञ्जराजयशोभूषण, पृ. 15

इसी प्रकार **गोकुलनाथ-उपाध्याय** ने **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक कृति में कहा—मुख्यार्थ के परिहार से लक्ष्यार्थ को बोधित करता हुआ वाच्यार्थ जहां शब्दार्थ-सम्बन्ध को सङ्गत बनाए वहां उपादानलक्षणा होती है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए **नागेश** ने कहा कि शक्यार्थ के अपरित्याग से अन्य-अर्थ का लक्षण, अजहत्स्वार्था है। शक्यार्थ-अपरित्याग का अभिप्राय है कि शक्यार्थ के माध्यम से, जिस किसी प्रकार लक्ष्यार्थ का अन्वित हो जाना ही अजहत्स्वार्था-लक्षणा कहलाती है। **नरसिंहकवि** ने और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उपादानलक्षणा का लक्षण किया—जहां शब्द स्वार्थगत-क्रिया की सिद्धि के लिए, विशिष्ट-अन्यार्थ को लक्षित कराता है, वहां अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है।

प्रयोजनवती-शुद्धा-लक्षणलक्षणा (जहत्स्वार्था)

प्रयोजनवती-शुद्धा-उपादानलक्षणा के विवेचन के पश्चात् अब प्रयोजनवती-शुद्धा-लक्षणलक्षणा का विवेचन किया जा रहा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कुछ आचार्य लक्षणलक्षणा नाम के स्थान पर 'जहत्स्वार्था' अथवा 'जहल्लक्षणा' आदि नामों का प्रयोग करते हैं।

लक्षणलक्षणा

लक्षणलक्षणा का भी प्रारम्भ हमें **मुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** में मिलता है। **मुकुलभट्ट** ने लक्षणलक्षणा के विषय में कहा है—लक्षण(लक्षण-लक्षणा) नामक भेद में उपादानलक्षणा के विपरीत जहां पूर्वोक्त उपादान के स्वरूप का उल्टा रूप अपनाकर अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य-अर्थ का आक्षेप नहीं किया जाता, प्रत्युत अन्य-अर्थ की सिद्धि के लिए अपना अर्थ छोड़ दिया जाता है, वहां 'लक्षण' (लक्षणलक्षणा) नामक भेद होता है। यथा—'गङ्गा पर घोष' (गङ्गायां घोषः) यह वाक्य। इस उदाहरण में तट ही घोष का आधार बन सकता है। गङ्गा का मुख्यार्थ 'प्रवाह' धारण-क्रिया में अन्वित नहीं रहता, इसलिए गङ्गा-शब्द उस तट को अपना मुख्य-अर्थ गङ्गात्व समर्पित कर देता है। उसे उसी रूप में परिणत कर देता है, अर्थात् गङ्गारूप ज्ञानधारा को तटरूप ज्ञानधारा में परिवर्तित कर देता है। वह उसी रूप में आ जाती है, उसका वही स्वरूप जिसे संस्कृत में लक्षण कहते हैं, हो जाता है।

इस प्रकार क्योंकि यहां अन्य-अर्थ जो तट है, उसकी प्रतीति कराने के लिए गङ्गा-शब्द ने अपना जो विशिष्ट जलप्रवाह रूप वाच्यार्थ है, उसे समर्पित कर दिया, अतः यहां अन्य की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का समर्पण

हुआ और इसीलिए यहां पूर्वोक्त उपादान-रूप लक्षणा का विपर्यास होने से लक्षणा में लक्षणलक्षणात्व है, अर्थात् 'घोष' पद के आधेयत्वरूप से अन्वय का उपपादन करने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जलप्रवाह-रूप' मुख्यार्थ का परित्याग कर, सामीप्य-सम्बन्ध से तट-रूप अन्य-अर्थ बोधित कराता है। इसे प्रयोजनवती-लक्षणलक्षणा का उदाहरण माना गया है।[1]

लक्षणलक्षणा के विषय में **आचार्य-मम्मट** के मतानुसार—दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए जहां अपने अर्थ का परित्याग किया जाता है, वहां लक्षण-लक्षणा होती है[2], अर्थात् जहां वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य-अर्थ का बोधक हो जाता है, वहां लक्षणलक्षणा होती है। **अमरचन्द्रयति** ने भी उक्त लक्षणा का लक्षण **मम्मट** की अनुकृति पर ही किया, किन्तु कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। उनका कथन है कि जहां शब्द सर्वथा स्वार्थ को न त्यागता हुआ अन्य-अर्थ को लक्षित कराता है, वहां तटादि अर्थ के ज्ञापन कराने के कारण लक्षणलक्षणा होती है।[3]

---

1 यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्याससंश्रयान्नस्वार्थसिद्ध्यर्थतयार्थान्तरस्याक्षेपः, अपि त्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्, तत्र लक्षणम्, यथा—पूर्वमुदाहृतं 'गङ्गायां घोषः' इति। अत्र हि तटस्य घोषाधारतया धारणक्रियान्वितस्य गङ्गाशब्देन स्वसमर्पणं क्रियते। अतोऽर्थान्तरभूतं तटमवगमयितुं गङ्गाशब्देन स्ववाच्यभूतः स्रोतो विशेषोऽत्र समर्प्यते इत्यर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्। एवं चात्र पूर्वोदितोपादानरूपविपर्यासाल्लक्षणत्वम्।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 13

2 परार्थं स्वसमर्पणम् ...... लक्षणम्।

—काव्यप्रकाश, पृ. 53

अन्यच्च

—शब्दव्यापारविचार, पृ. 8

3 परार्थं स्वार्पणं लक्षणेन लक्षणलक्षणा।

यथा—'गङ्गायां घोषः'। अत्र तटस्य घोषाधिकरणतासिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयतीत्यादौ लक्षणेन लक्षणा। अयमभिप्राय—यत्र शब्दः सर्वथा स्वार्थमत्यजन् अन्यमर्थं लक्षयति तत्र लक्षणेन तटादिज्ञापनेन लक्षणा स्यात्।

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 44

जयदेव ने लक्षणलक्षणा को अर्पणा-लक्षणा नाम से अभिहित किया है।[1] जयदेव के अनुसार लक्ष्यार्थ के बोध में मुख्यार्थ का बोध न हो तो, अर्पणलक्षणा होती है। दर्पणकार ने भी 'अर्पण' शब्द का प्रयोग करते हुए लक्षणलक्षणा का लक्षण किया है।[2] जयदेव ने अर्पणलक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोष:' दिया है। यहां गङ्गा पद से तीर की प्रतीति होती है। तीर (लक्ष्यार्थ) के बोध में गङ्गा-पद अपने मुख्यार्थ (प्रवाह) का त्याग (अर्पण) कर देता है, अत: अर्पणलक्षणा है।[3]

इसी प्रसङ्ग में जहत्स्वार्था के विषय में तथा व्याकरण की दृष्टि से उसके अर्थ के विषय में चर्चा करना अप्रासङ्गिक न होगा। 'जहत् परित्यजन् स्वार्थो यां सा जहत्स्वार्था अर्थात् शक्यार्थ के परित्याग से अशक्य-अर्थ की प्रतीति कराने वाली जहत्स्वार्था-लक्षणा होती है। विद्याधर ने अत्यल्प शब्दों में लक्षण करते हुए इस लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था नाम से अभिहित किया है।[4]

अन्यच्च

परस्यान्वयाङ्गस्य मुख्यसम्बन्धिनस्तटादे: प्रतीत्यर्थं स्वस्यात्मीयस्व समर्पणं प्रत्याज(य?)नमुत्थापयति यत्सा उपलक्षणमात्रेण लक्षणा।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 42

1 उपादानार्पणद्वारे द्वे चान्ये इति षड्विधा।

—चन्द्रालोक, पृ. 285

2 अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये। (2. 7)

—साहित्यदर्पण, पृ. 96

3 'गङ्गायां घोषो निवसति' इत्यत्र च गङ्गारूपमुख्यार्थत्यागेन तीरार्थबोध इति मुख्यार्थार्पणादर्पणलक्षणा।

—चन्द्रालोक, सटीक, (टीका.) नन्दकिशोर शर्मा), पृ. 286

4 शब्दोऽर्पयति परार्थे यद्यात्मानं तदा जहत्स्वार्था।

—एकावली, पृ. 63

अन्यच्च

काचिल्लक्षणा शक्यावृत्तिरूपेण बोधकतया जहत्स्वार्थेत्युच्यते।

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 154

अन्यच्च

स्वार्थं हित्वा परोक्तिश्चेज्जहत्स्वार्था तदा भवेत्।

—साहित्यरत्नाकर, पृ. 225

इसी प्रकार **विजयवर्णी** तथा **नागेश** ने भी लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था (जहल्लक्षणा) नाम से अभिहित किया है तथा कहा भी है कि अपने अर्थों को छोड़कर दूसरे अर्थों को बताने वाली लक्षणा जहत्स्वार्था कहलाती है।[1] **श्रीवत्सलान्छनभट्टाचार्य** के अनुसार जहां स्वार्थ के त्यागपुरस्सर अन्यार्थ की कल्पना की जाए वहां उक्त लक्षणा होती है।[2] **साहित्यदर्पणकार** ने पूरी कारिका में लक्षणलक्षणा का लक्षण करते हुए कहा कि वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिए जहां स्व(मुख्य) को अन्य-अर्थ के अर्पण कर दिया जाये, तो उसे अन्य का उपलक्षण होने से लक्षणलक्षणा कहते हैं।[3]

अन्य आचार्य उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा को प्रयोजनवती-शुद्धा

अन्यच्च

स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका, जहत्स्वार्था च।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 57

अन्यच्च

स्याज्जहल्लक्षणा यत्र स्वार्थं त्यक्त्वान्यवृत्तिता।

—काव्यदर्पण, पृ. 53

1 यत्र स्वार्थं परित्यज्य शब्दोऽन्यत्र प्रवर्तते।
तत्सम्बन्धयुते प्रोक्ता सा जहल्लक्षणा बुधैः ॥ 2. 15
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 8

अन्यच्च

स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्त्या(जहत्स्वार्था)।

—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 39

अन्यच्च

—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, 23

2 यत्⋯ स्वार्थं हित्वान्यकल्पनम्। ⋯लक्षणम्।
—काव्यपरीक्षा पृ. 3

3 अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ॥ 2. 7
—साहित्यदर्पण, पृ. 96

अन्यच्च

'गङ्गायां घोष' इत्यादौ परार्थं स्वसमर्पणात्।
लक्षणाल्लक्षणा या स्यादसौ लक्षणलक्षणा ॥ 2. 13
—अलङ्कारसार, पृ. 344

के भी भेद मानते हैं, किन्तु **विश्वनाथ** ने रूढिमूला-लक्षणा के भी उपादान-लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दो भेद माने हैं तथा रूढि-मूला लक्षणलक्षणा एवं प्रयोजनवती-लक्षणलक्षणा के उदाहरण के रूप में क्रमशः 'कलिङ्गः साहसिकः' (कलिङ्ग साहसी है), 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में अहीरों का गांव है) दिए हैं।[1] लक्षणलक्षणा (जहल्लक्षणा) का एक भेद विपरीत-लक्षणा है, जिसमें लाक्षणिक-पद न केवल अपने मुख्य-अर्थ को त्यागता है, अपितु मुख्य-अर्थ के विरुद्ध-अर्थ की प्रतीति कराता है। इसी सन्दर्भ में **दर्पणकार** ने लक्षणलक्षणा का एक अन्य उदाहरण दिया है। यह उदाहरण वाक्यरूप में न होकर श्लोक-रूप में दिया गया है। इसको विपरीत लक्षणा का उदाहरण माना गया है।

इस उदाहरण की उक्ति अत्यन्त अपकारी के प्रति किसी भुक्तभोगी की है, अतः यहां अपकार आदि अन्वय की सिद्धि के लिए उपकृत आदि पद अपने अर्थ को अर्पित कर (स्वार्थ का परित्याग करके) प्रकरणगत विरोधादि सम्बन्ध से अपकृत आदि विरुद्ध-अर्थ की प्रतीति कराते हैं। अतिशय-अपकार का बोध कराना प्रयोजन है।[2] **अप्पयदीक्षित** इस विपरीतलक्षणा को व्यतिरेकलक्षणा भी कहते हैं।[3]

कोविदानन्दकार ने भी विपरीतलक्षणा का समुल्लेख किया है। उनका कथन है कि वैपरीत्य-सम्बन्ध के कारण विपरीतलक्षणा भी आचार्य-

---

1 रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा। यथा--'कलिङ्गः साहसिकः', 'गङ्गायां-घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गा-शब्दावात्मानमर्पयतः।
—साहित्यदर्पण, पृ. 96

2 यथा वा—
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥
अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्य-लक्षणः सम्बन्धः फलमप्यपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते।
—साहित्यदर्पण, पृ. 96

3 व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणा प्रभेद एव। यथा—'उपकृतं बहु तत्र' ....इत्यत्रापकारिण्यन्वयायोग्ये 'उपकृता'दिपदैः स्वार्थं विरुद्धं लक्ष्यते।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 20

गण स्वीकार करते हैं। यथा—'इह साधु कृतम् तेन शम्भुः येन न पूजितः' जिसने शम्भु की पूजा नहीं की, उसने अच्छा किया। वाक्य में विपरीत-लक्षणा से साधु पद द्वारा असाधु (अनुचित) अर्थ की प्रतीति होती है।[1]

यद्यपि **विश्वनाथ** ने रूढा के भी उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं, किन्तु तदुत्तरवर्ती विद्वानों ने इनको मान्यता नहीं दी। **विश्वनाथ** ने गौणी के भी उक्त दो भेद स्वीकार किए हैं[2], किन्तु तदुत्तरवर्ती **काव्यप्रकाश** के प्रसिद्ध टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** गौणी-लक्षणा के इन दो भेदों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं।[3] इसी प्रकार अन्य आचार्य भी **गोविन्दठक्कुर** के कथन का समर्थन करते हैं।

कुछ ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने **विश्वनाथ** की विचारधारा का समर्थन किया है। इनमें प्रमुखतम आचार्य हैं, **गोकुलनाथ-उपाध्याय**। इनकी लक्षणा के लक्षण की शब्दावली अन्य आचार्यों से भिन्न है। उनके अनुसार जो शब्द-वृत्ति मुख्यार्थ को ग्रहण करने में असमर्थ रहती है, उसे लक्षणा कहते हैं। उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा भेद से वह दो प्रकार की है। इन्होंने लक्षणलक्षणा का लक्षण करते हुए यह भी स्पष्ट किया कि शुद्धा में ही लक्षणलक्षणा नहीं होती है, अपितु गौणी में भी यह भेद हो सकता है।[4] ये

---

1 विरुद्धा व्यतिरेके च लक्षणोक्ता मनीषिभिः।
इह साधु कृतं तेन शम्भुर्येन न पूजितः॥ 21 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 21

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 183-184

3 स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणमित्यर्थः। एताभ्यामुपाधिभ्यां शुद्धैव द्विविधोक्ता, न तु गौण्यपीत्यर्थः।
—काव्यप्रदीप, पृ. 28

4 या शब्दवृत्तिर्मुख्यार्थग्रहणं प्रत्यसाम्प्रतम्।
द्विधा शुद्धा च गौणी चेत्यसौ लक्षणलक्षणा॥
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 16
अन्यच्च
यद्धर्मावच्छिन्ने यत्पदस्य लक्षणा मुख्यार्थस्मरणं प्रत्यसमर्था तद्धर्मिणि तत्पदलक्षणा लक्षणलक्षणेत्युच्यते।……गौणी तूपादानलक्षणा सम्भवत्येवेति शुद्धानिरूढोपादानलक्षणा। शुद्धाप्रयोजनवत्युपादानलक्षणेति द्विधैव लक्षणलक्षणा।
—वही, पृ. 16

निरूढा के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो भेद करते हैं। जिसके इन्होंने 'सफेद दौड़ रहा है', 'लम्ब कर्ण को लाओ', 'तेल हेमन्त में सुखद है' आदि उदाहरण दिए हैं।[1] **नागाभट्ट** लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था नाम से अभिहित करते हैं। उनके मतानुसार अपने शक्यार्थ के समर्पण-पुरस्सर अन्वयबोध कराने वाली लक्षणा, लक्षणलक्षणा है।[2]

महेश्वरन्यायालङ्कार-कृत **आदर्शटीका** के संशोधक **श्रीअमरेन्द्रमोहन** एवं **उपेन्द्रमोहन** ने अपने टिप्पण में लक्षणलक्षणा का लक्षण करते हुए कहा कि जिस लक्षणा में वाक्यार्थ का दूसरे अर्थ, अर्थात् अशक्यार्थ की वाक्यार्थ में अन्वयसिद्धि हेतु समर्पण होता है, अर्थात् अमुख्यार्थ के वाक्यार्थ में बोध-विषयक-फल-निष्पत्त्यर्थ शक्यार्थ का ही त्याग होता है, उसे लक्षणलक्षणा नाम से अभिहित किया जाता है।[3]

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार जिस स्थल में शक्यार्थ को बीच में न लेकर अर्थान्तर की उपस्थिति हो, वहां जहल्लक्षणा होती है। यथा—किसी मित्र ने अपने मित्र को उसके भोजनार्थ शत्रुगृह-गमनकाल में कहा कि 'विषं भुङ्क्ष्व', अर्थात् 'विष खाओ' तो वहां वाक्यार्थ 'विष-भक्षण' को छोड़कर

अन्यच्च

लक्षणा तु शुद्धा रूढौ लक्षणलक्षणा, शुद्धाप्रयोजनलक्षणलक्षणा, गौणी रूढौ लक्षणलक्षणा, गौणी प्रयोजने लक्षणलक्षणा चेति चतुर्धा।

—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 16

1 तत्र निरू(ढो)पादानलक्षणा 'श्वेतो धावति' इत्यत्र श्वेतपदस्य गुणिनि, 'राजपुरुषः' इत्यत्र राजपदस्य राजसम्बन्धिनि 'लम्बकर्णमानय' इत्यादौ लम्बकर्णपदयोर्लम्बाभिन्नकर्णसम्बन्धिनि 'तैलानि हेमन्ते सुखानि' इत्यत्र तैलपदस्य तिलस्नेहरूढस्य सस्यप्रभवस्नेहसामान्ये तिलपदस्य स्नेहवति सस्ये, 'मुखेन्दुरसौ तव' इत्यत्रेन्दुपदस्य चन्द्रसदृशे चोदाहरणीया।

—वही, पृ. 16

2 स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका जहत्स्वार्था।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 57

3 यया लक्षणया परार्थे परार्थम् अशक्यार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयसिद्ध्यर्थमिति-यावत् स्वसमर्पणं भवति अमुख्यार्थस्यैव वाक्यार्थबोधविषयीभावाय फलतः शक्यार्थस्य त्याग एव भवति सा लक्षणा लक्षणं नाम।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 51

शत्रु के गृह में भोजन की निवृत्ति लक्षित होती है, अर्थात् कहने वाले ने इस अभिप्राय से कहा—हे मित्र ! यह तुम्हारा शत्रु है, इसलिए तुम इसके यहां भोजन मत करो ।[1] **आचार्यविश्वनाथदेव** ने लक्षणलक्षणा का छन्दोबद्ध-लक्षण किया है । उनके अनुसार स्वार्थ के परित्याग से जहां अन्यार्थ की कल्पना की जाती है, वहां विद्वानों ने लक्षणलक्षणा मानी है ।[2]

राजचूड़ामणि भी लक्षणलक्षणा को जहल्लक्षणा नाम से अभिहित करते हैं । स्वार्थ को त्याग कर जब शब्द अन्यवृत्तित्व, अर्थात् अन्यार्थ को धारण करता है, तब जहल्लक्षणा होती है ।[3] **जगदीशतर्कालङ्कार** के अनुसार जहां शक्यार्थ (वाच्यार्थ) की अवृत्ति—राहित्य, अर्थात् वाच्यार्थ-परित्याग-पुरस्सर अर्थावबोध होवे, वहां लक्षणलक्षणा होती है ।[4] **नागेश** के अनुसार अपने अर्थों को छोड़कर, दूसरे अर्थों को बताने वाली लक्षणा 'जहत्स्वार्था' लक्षणा कहलाती है ।[5] ये गौणी-लक्षणा में भी जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दो भेद मानते हैं । 'वाहीक बैल को देखो' यह उदाहरण गौणी लक्षणा का है ।[6] शुद्धा का उदाहरण 'शुक्ल को लाओ' यह दिया है ।[7] **भीमसेन** ने **काव्यप्रकाश**

---

1 तत्र शक्यमन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिः, तत्र जहल्लक्षणा, यथा—विषं भुङ्क्ष्वेति तत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहभोजननिवृत्तिलक्षणात् ।
—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 121

2 **यत्र** स्वार्थपरित्यागादपरार्थस्य कल्पना ।
अङ्गीकृतास्ति विद्वद्भिरेषा लक्षितलक्षणा ॥ 2. 16
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 43

3 स्याज्जहल्लक्षणा यत्र स्वार्थं त्यक्त्वान्यवृत्तिता । 2. 27
—काव्यदर्पण, पृ. 53

4 काचिल्लक्षणा शक्यावृत्तिरूपेण बोधकतया जहत्स्वार्था, इत्युच्यते ।
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 154

5 स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्त्या (जहत्स्वार्था) ।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 39

6 स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थलक्षणं द्वितीया, अतः 'गां वाहीकं पश्य' इत्यादौ न दोषः । अत्र गोसदृशे लक्षणायामपि न गोस्तदन्वयिदर्शनक्रियान्वयित्वम् ।
—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ. 23

7 तत्र शुद्धा आद्या यथा—'शुक्लमानय' इत्यादौ गुणशक्तानां शुक्लादिपदानां तद्वति द्रव्ये ।
—वही, पृ. 23

की सुधासागरी नामक टीका में स्वार्थ के परित्याग से परार्थ के लक्षण को लक्षणलक्षणा कहा है।[1] वामन-झलकीकर लक्षण का अर्थ स्वार्थसमर्पण करते हैं।[2]

जहल्लक्षणा

आशाधरभट्ट ने यद्यपि पद्यात्मक-कृति कोविदानन्द में लक्षणा के जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा भेदों की चर्चा संक्षेप में एक ही कारिका में की[3], किन्तु बाद में स्वरचित अन्य गद्यात्मक-कृति त्रिवेणिका में अति विस्तार से अनेकों उदाहरणों के माध्यम से उक्त विषय को स्पष्ट किया। उनके द्वारा प्रदत्त कुछ उदाहरण अन्य ग्रन्थों से भिन्न होने के साथ ही मौलिक भी हैं, अतः उनका यहां वर्णन करना आवश्यक है। प्रयोजक-सम्बन्धों के समान ही उक्त लक्षणा के भेदों को प्रस्तुत करने में भट्ट की एक मौलिक-देन स्वीकार की जा सकती है। उन्होंने प्रयोजनवती-लक्षणा के अतिरिक्त निरूढा एवं गौणी-लक्षणाओं में भी उक्त भेदों की सोदाहरण विवृत्ति की है।

भट्ट ने सर्वप्रथम उक्त त्रिधा विभाजित लक्षणा को निरूढा एवं फलवती भेद से षड्धा विभाजित किया, अतः निरूढा और फलवती-लक्षणाओं में उक्त सभी भेदों का वर्गीकरण किया गया। भट्ट के अनुसार जिस लक्षणा की स्थिति में शब्द, शक्यार्थ का पूर्णतः त्याग कर देता है, वह जहल्लक्षणा है।[4] इसका प्रथम उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है, जो सर्वविदित ही है। दूसरा उदाहरण 'द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ' दिया है, अर्थात् वह वनेचर द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास आया, इस वाक्य में 'सरोवर'-विशेष्यवाचक

---

1 स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणमित्यर्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), पृ. 66

2 लक्षणेन स्वार्थसमर्पणेन(उपलक्षिता) एषा लक्षणा लक्षणलक्षणा इत्यर्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन), पृ. 46

3 प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा।
सङ्कोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा ॥ 3 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 15

4 यत्सत्त्वे शब्दः शक्यार्थं जहाति सा जहल्लक्षणा।
—त्रिवेणिका, पृ. 18

द्वैतवन शब्द से तीर में लक्षरणा होती है। यहां व्यधिकरणविषया-फलवती-जहल्लक्षरणा है।[1]

निरूढा-जहल्लक्षणा

भट्ट ने निरूढा-जहल्लक्षरणा का उदाहरण दिया, 'रवौ नीलम् बुधे पीतम्', अर्थात् रवि में नीला और बुध में पीला इस वाक्य में रवि से रविवार, बुध से बुधवार इस अर्थ की प्रतीति होती है, क्योंकि यहां रवि और बुध-अर्थ का ग्रहण सर्वथा नहीं होता है, अतः इसे निरूढा-जहल्लक्षरणा नाम से अभिहित किया जायेगा। इसी प्रकार **भट्ट** ने एक उदाहरण और दिया है, वह है—'मातृविद्धो गणेश्वरः' इस वाक्य में मातृ-शब्द से तृतीया तिथि तथा गणेश-शब्द से चतुर्थी-तिथि का लक्षरणा द्वारा बोध होता है, यहां भी निरूढा-जहल्लक्षरणा है। इसी प्रकार 'हस्तिहस्तः', 'करिकुम्भः' आदि शब्दों से सादृश्य के काररण हाथी की सूंड और शिरःपिण्ड का लक्षरणा द्वारा बोध होता है। यहां भी निरूढा-लक्षरणा है।[2]

नरसिंह एवं **विश्वेश्वर** ने उक्त लक्षरणा का नामोल्लेखमात्र किया है। **अच्युतराय** ने व्यस्तकोटि में जहत्स्वार्था मानी है, इसे अर्पणलक्षरणा नाम से भी अभिहित किया है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की आधारभूता मानते हुए इसका उदाहरण उन्होंने 'गङ्गायां घोषः' दिया है।[3]

---

1 एवं 'द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ' इत्यत्र सरोविशेषवाचिना द्वैतवनशब्देन तत्तीरे व्यधिकरणविषया फलवती जहल्लक्षरणा। युधिष्ठिरसमागमस्तात्पर्यग्राहकः। फलं तु विविक्तताप्रतीतिः।
—त्रिवेणिका, पृ. 19

2 निरूढा यथा—'रवौ नीलं बुधे पीतम्' अत्र रविबुधशब्दाभ्यां तद्वारयोर्निरूढा जहदजहल्लक्षरणा। 'मातृविद्धो गणेश्वरः' अत्र मातृशब्देन तृतीया गणेशशब्देन चतुर्थी लक्ष्यते। ···· ·· 'हस्तिहस्तः', 'करिकुम्भः' अत्र हस्तकुम्भशब्दाभ्यां सादृश्यात् शुण्डायां शिरःपिण्डयोश्च निरूढा जहदजहल्लक्षरणा।
—वही, पृ. 23

3 व्यस्तकोटौ तु जहती लक्षरणार्पणसंज्ञिका।
गङ्गायां घोष इत्यत्रात्यन्तं वाच्यतिरस्कृतः ॥ 2. 77
—साहित्यसार, पृ. 46

उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा का प्रयोजन

उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा में वाच्यार्थगत किसी धर्म-विशेष की ही लक्ष्यार्थ में प्रतीति कराना प्रयोजन होता है। यथा— 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले जा रहे हैं) तथा 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में आभीरों की पल्ली है) ये दोनों उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा के सर्व-सम्मत उदाहरण हैं। यहां वाच्यार्थ भाला एवं प्रवाह है, इन्हीं वाच्यार्थों की क्रमशः तीक्ष्णता और शीतलता एवं पवित्रता को, लक्ष्यार्थ—भाला तथा तीर में प्रतीत कराना कवि का प्रयोजन है।[1] उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा इन दो लक्षणाओं से लक्षणा-मूलाध्वनि के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद बन जाते हैं।

निष्कर्ष

लक्षणलक्षणा वहां होती है, जहां शब्द अपने मुख्य-अर्थ को छोड़ (जहत्) देता है तथा केवल दूसरे लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता (लक्षण) है। इसी लक्षणा को आलङ्कारिक लक्षणलक्षणा और वैय्याकरण जहत्स्वार्था तथा नैयायिक एवं वेदान्ती जहल्लक्षणा नाम से समुच्चरित करते हैं। कुछ विद्वान् इस लक्षणा की सत्ता शुद्धा में ही मानते हैं, कुछ लोगों की विचारधारा के अनुसार गौणी में भी इसकी सत्ता होती है, कुछ अन्य विचारक निरुढा में भी इसका होना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार विभिन्न विचारधाराएं दृष्टि-गोचर होती हैं। प्रथम-कोटि के समर्थक, अर्थात् जो प्रयोजनवती-शुद्धा में ही लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा की सत्ता का समर्थन करते हैं, उनमें **मम्मट, शारदातनय, कविकर्णपूर, बलदेवविद्याभूषण** तथा **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** आदि प्रमुख हैं।

द्वितीय-कोटि में, अर्थात् जो आचार्य प्रयोजनवती-शुद्धा के अतिरिक्त प्रयोजनवती-गौणी में भी लक्षणलक्षणा तथा उपादानलक्षणा इन दोनों लक्षणाओं की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनमें **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **महेश्वरन्यायालङ्कार** तथा वैय्याकरण **नागेश**-प्रभृति आचार्यों को लिया जा सकता है

---

1 उपादानलक्षणायां शक्यस्यापीतरपदार्थान्वयः। इह [लक्षणलक्षणायां] लक्ष्यस्यैवेति भेदः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), पृ. 46

तृतीय-कोटि में वे आचार्य आते हैं, जो प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी में उक्त दोनों भेदों को स्वीकार करने के साथ ही निरूढा-लक्षणा में भी उक्त दोनों भेदों का होना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के आचार्यों में **साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ**, **काव्यप्रकाश** के टीकाकार एवं **भक्ति(लक्षणा)विवेक** के कर्ता **गोकुलनाथ-उपाध्याय** और **आशाधरभट्ट**-प्रभृति विद्वानों को लिया जा सकता है। **आशाधरभट्ट** ने अपनी **त्रिवेणिका** नामक कृति में इन समस्त भेदों को सोदाहरण वर्णित किया है। उनके अनुसार लक्षणा—जहत्, अजहत्, जहदजहत् नाम से त्रिधा विभक्त होती है।

पुन: इन तीनों भेदों के निरूढा तथा फलवती (प्रयोजनवती) भेद से द्विधा विभाजित होने के कारण निरूढा में भी जहल्लक्षणा (लक्षणलक्षणा), अजहल्लक्षणा (उपादानलक्षणा) भेद तो होते हैं, इन दोनों का सम्मिश्रणात्मक भेद, जिसे जहदजहल्लक्षणा के नाम से अभिहित किया जाता है, उसके भी निरूढा में भेद होंगे। इसी प्रकार प्रयोजनवती (गौणी, शुद्धा) के भी जहल्लक्षणा (लक्षणलक्षणा), अजहल्लक्षणा (उपादानलक्षणा) इन दोनों का सम्मिश्रणात्मक जहदजहत्स्वार्था नामक भेद भी होगा। **आशाधरभट्ट**, जो जहदजहल्लक्षणा में भी रूढा तथा फलवती (गौणी, शुद्धा) लक्षणा मान रहे हैं, के अनुसार एक चतुर्थ प्रकार भी माना जा सकता है।

ताटस्थ्य-सिद्धान्त का विवेचन

उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा का विवेचन करने के पश्चात् अब यहां प्रसङ्गोपात्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त का विश्लेषण किया जा रहा है। इस सिद्धान्त को लेकर **मुकुलभट्ट** तथा **मम्मट** में गहरा मतभेद है। उनकी विप्रतिपत्तियों को भी प्रसङ्गोपात्त होने के कारण विवेचित किया जा रहा है।

मुकुलभट्ट का ताटस्थ्य-सिद्धान्त तथा उसके भेदक-तत्त्व

मुकुलभट्ट को लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ में परस्पर भेद होने पर शुद्धा तथा अभेद होने की स्थिति में गौणी-लक्षणा मान्य है। **मुकुलभट्ट** के अनुसार शुद्ध-लक्षणा होगी तटस्थ में, आरोप होगा अदूरवर्ती में, अर्थात् उपादान और लक्षण नाम से विभाजित शुद्धा-लक्षणा जिसमें होती है, वह लक्ष्यपदार्थ, लक्षकपदार्थ से अनुपरक्त प्रतीत होता है, अत: वह उससे तटस्थ (भिन्न) रहता है, यहां लक्ष्य-पदार्थ की प्रतीति लक्षकपदार्थ से उपरक्त (आवृत्त) रूप से

नहीं होती है।[1] वही भेदरूप वाला इनका ताटस्थ्य-सिद्धान्त है, किन्तु उनके परवर्ती आचार्य मम्मट उपचार को ही गौणी एवं शुद्धा का भेदक-तत्त्व मानते हैं। मुकुलभट्ट शुद्धोपचार एवं गौणोपचार भेद से उपचार को दो भागों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार शुद्धा एवं गौणी दोनों प्रकारों की लक्षणाओं में उपचार का मिश्रण रहता है।[2]

इनमें से शुद्ध वह है, जहां मूलभूत उपमानोपमेयभाव नहीं होता, इसलिए उपमानगत गुणों के समान गुणों के सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा हो नहीं पाती, फलत: कार्य-कारणभाव के आधार पर लक्षणा होती है और उससे एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर उपचार होता है। यथा—'आयु घृत है' यह वाक्य।[3] यहां मूलभूत उपमान-उपमेय-भाव नहीं होता है, अत: कार्य-कारणभाव से लक्षणा होती है। यहां पर वक्ता ने आयु के लिए विशेष-कारणभूत-घृत के लिए आयु-शब्द का प्रयोग किया, अतः शुद्धोपचार-लक्षणा है।

इससे भिन्न गौण-उपचार वहां होता है, जहां मूलभूत उपमानोपमेयभाव द्वारा उपमानगत गुणों के समान, गुणों के सम्बन्ध से हुई लक्षणा के आधार पर उपमेय पर उपमानवाचक शब्द तथा उसका अर्थ इन दोनों का अध्यारोप होता है। यह उपचार गुणों के आधार पर होता है, अत: गौण कहलाता है। इसका उदाहरण है—'वाहीक बैल है।' यहां, बैलगत जाड्यमान्द्य के कारण जाडयमान्द्य-सम्बन्ध के आधार पर वाहीक पर गौ शब्द तथा गोत्व

---

1 तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे ॥ 5 ॥ यैषा लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विप्रभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 20

2 शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता ॥ 2 ॥

—वही, पृ. 11

3 तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृश-गुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, यथा—'आयुर्घृतमि'ति। अत्र हि आयुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावाल्लक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वं कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभय-मुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।

—वही, पृ. 16

दोनों का उपचार होता है।[1] उपमान एवं उपमेय-भाव के आधार पर समान गुण होने पर यह लक्षणा होती है।

यह उपचार, गुण के आधार पर होता है। यहां 'गौर्वाहीक:' वाक्य में वाहीक देशवासी किसी व्यक्ति के लिए जाडयमान्द्य आदि गुणों के कारण गो शब्द का प्रयोग, गुण के कारण किया गया है, अत: यहां पर गौण उपचार है। भट्ट शुद्धोपचार एवं गौणोपचार भेद से उपचारमिश्रा-लक्षणा के दो भेद करके उनके भी सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद पुन: करते हैं। मम्मट ने मुकुलभट्ट के समान ही शुद्धा के उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं[2], किन्तु गौणी एवं शुद्धा के भेदक-धर्म के विषय में दोनों आचार्यों में मतैक्य नहीं है। सर्वप्रथम इस मतभेद को ही उपस्थित किया जाता है।

मुकुलभट्ट तथा मम्मट का ताटस्थ्य-सिद्धान्त-विषयक मतभेद

उक्त दोनों आचार्यों के मतभेद का आधार 'गङ्गायां घोष:' यह लक्षणा-परक वाक्य है, क्योंकि यहां पर तटरूप-अर्थ की प्रतीति के विषय में दोनों विद्वानों में मतभेद है। यह स्पष्ट है कि मुख्यार्थबाध होने पर गङ्गा-शब्द तट-रूप अर्थ की प्रतीति कराता है, किन्तु बाधित गङ्गा-शब्द 'तटे घोष:' यह प्रतीति कराता है अथवा गङ्गा-शब्द के अर्थ का सम्बन्ध भी तट के साथ जुड़ा रहता है? इसके कारण ही यह गङ्गा-पद 'तटे घोष:' इत्याकारक प्रतीति कराता है।

इस विषय में मुकुलभट्ट अपना समाधान देते हैं कि गङ्गा शब्द से तट-रूप अर्थ ही उपस्थित होता है। गङ्गा से सम्बद्ध तट-रूप अर्थ की उपस्थिति नहीं होती है, गङ्गा-शब्द के प्रयोग की उपयोगिता भी यही है कि तट गङ्गा से भिन्न अन्य नदियों का न होकर गङ्गा नदी का ही है, इत्याकारक प्रतीति

---

1 गौण: पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरस्सरीकृत्योपमेय उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचार:।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 16

2 काव्यप्रकाश, पृ. 53

अन्यच्च

—वही, पृ. 11

बनी रहती है ।[1] इसका अर्थ यह है कि उक्त वाक्य में घोष के अधिकरण के रूप में तट को मन में रखकर 'गङ्गा पर घोष है, वितस्ता नदी पर नहीं' इस प्रकार जब गङ्गा-शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, तब तट का एक विशिष्ट जल-प्रवाह से हुआ उपराग प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह जल-प्रवाह-विशेष उस तट की प्रतीति तटस्थ, अर्थात् भिन्न रूप से कराता है। मुकुलभट्ट का उक्त सिद्धान्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त के नाम से अभिहित किया जाता है ।[2]

मम्मट ने **मुकुलभट्ट** की उक्त मान्यता का खण्डन किया है, क्योंकि **मम्मट, मुकुलभट्ट** के उक्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, वे शुद्धा में उपचार का मिश्रण मानने को तैयार नहीं हैं । **मम्मट** के अनुसार शुद्धा-लक्षणा में उपचार का राहित्य रहता है, अतः सादृश्य-सम्बन्ध से विरहित-लक्षणा के प्रयोजक होने पर ही शुद्धा-लक्षणा होती है । **मुकुलभट्ट, मम्मट** के उपचार की जगह ताटस्थ्य, अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ के भेद को शुद्धा तथा गौणी का भेदक-धर्म मानते हैं ।

भट्ट के अनुसार गौणी-लक्षणा स्थल में सादृश्य के आधिक्य के कारण लक्ष्य तथा लक्षक में अभेद की प्रतीति होती है । यथा—'गौर्वाहीकः' गौणी-लक्षणा स्थल में 'गौ' एवं 'वाहीक' पदार्थों में अभेद की प्रतीति स्पष्ट ही है, किन्तु शुद्धा-लक्षणा के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा नामक दोनों भेदों में लक्ष्य तथा लक्षकार्थ का भेद पाया जाता है । गौणी एवं शुद्धा के भेदक-धर्म के रूप में **भट्ट** द्वारा स्वीकृत ताटस्थ्य-सिद्धान्त का **मम्मट** एवं अधिकतर **काव्यप्रकाश** के टीकाकारों ने खण्डन किया । उन्होंने उसके स्थान पर गौणी और शुद्धा का भेदक-धर्म, आरोप को स्वीकार किया है । कतिपय परवर्ती आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने ताटस्थ्य का समर्थन करते हुए उपचार के लिए अरुचि प्रदर्शित की है, किन्तु बहुमत उपचार के समर्थक आचार्यों का ही है ।

---

1 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणभूत-तटोपलक्षणाभिसन्धानेन 'गङ्गायां घोषो न वितस्तायामि'ति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतो विशेषेणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते, तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात् ।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 20

2 तटस्थे लक्षणाशुद्धा ।

—वही, पृ. 20

ताटस्थ्य-सिद्धान्त के समर्थक आचार्य

महेश्वरन्यायालङ्कार-भट्टाचार्य ने **काव्यप्रकाश** की टीका में ताटस्थ्य-सिद्धान्त का समर्थन किया है, इनके अनुसार घोष के अन्वय की सिद्धि के लिए गङ्गा-पद से तीर अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु गङ्गात्वेन नहीं होती है, यदि गङ्गात्वेन प्रतीति हो जाय तो वहां लक्षणा हो ही नहीं सकेगी। लक्षणा की सिद्धि के लिए गङ्गापद से बाध-पुरस्सर तटरूप-अर्थ की प्रतीति होना आवश्यक है। यदि गङ्गात्वेन तट की प्रतीति मानी जाय तो वहां घोषान्वय कैसे हो सकेगा ? गङ्गा के प्रवाह के समान ही प्रवाहान्वयावच्छिन्न-तट में भी घोष का होना अशक्य है, अतः गङ्गा और तट का ताटस्थ्य, अर्थात् भिन्नत्वेन प्रतीति का होना समीचीन है।[1]

गोकुलनाथ-उपाध्याय ने **मुकुलभट्ट** के उक्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त का समर्थन **काव्यप्रकाश** की टीका में किया है। ये तट में गङ्गा के धर्म, शीतत्व-पावनत्वादि की प्रतीति मानते हैं, किन्तु उस प्रतीति में लक्ष्य-लक्षक गङ्गा और तट का ताटस्थ्य बना रहता है।[2]

भट्टाचार्य एवं **गोकुलनाथ-उपाध्याय** का अनुकरण करते हुए **अलङ्कार-कौस्तुभ** नामक कृति में **विश्वेश्वर** अपना मत व्यक्त करते हैं—जिस प्रकार प्रवाह में घोष की उपस्थिति बाधक है, उसी प्रकार गङ्गात्वप्रकारक-तीर भी घोष की उपस्थिति में बाधक है।[3]

---

1 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ घोषान्वयार्थं तीरप्रतिपादने स्वार्थस्य गङ्गाया अप्रतिपाद्यत्वात्, तद्बाधार्थमेव तत्प्रतिपादनात्। (परार्थतीरमात्रस्यैव घोषान्वयप्रतीतेः)।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य), पृ. 52

2 तटादौ गङ्गाधर्मस्य पावनत्वादेरवगम इति प्रक्रिया। सा लक्ष्यलक्षकयोस्ताटस्थ्येन सम्भवतीति भावः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोकुलनाथ-उपाध्याय), पृ. 68

3 अत एव 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावपि गङ्गात्वेनैव तटस्य नान्वयः, गङ्गात्वेन प्रकारेण प्रवाहे घोषबाधबुद्धौ तेनैव प्रकारेण तीरेऽपि तदन्वयानुपपत्तेः। न च गङ्गात्वेन प्रवाहे घोषबाधबुद्धेर्गङ्गात्वप्रकारकप्रवाहविशेष्यकघोषान्वयबुद्धित्वमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकम्, न तु गङ्गात्वप्रकारकतीरविशेष्यकबुद्धित्वमिति वाच्यम्। समानप्रकारत्वेनैव बाधबुद्धीनां प्रतिबन्धकत्वात्। अन्यथा पर्वतत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्य पर्वते वह्न्यभाववत्ताज्ञाने पर्वतत्वमेव धर्मितावच्छेदकीकृत्य महानसविशेष्यकवह्निमत्ता-

ताटस्थ्य के स्थान पर उपचार को मानने वाले आचार्य

मम्मट ने मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य-सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हुए यह तर्क उपस्थित किया है, कि यदि लक्ष्य और लक्षक अर्थ में भेद मानें तो अनिष्टापत्ति होती है, अर्थात् गङ्गा के जलप्रवाह और तट में भेद-प्रतीतिरूप-ताटस्थ्य का समर्थन करने पर शीतत्वपावनत्वाधिक्य की प्रतीति न हो सकेगी, जो लक्षणा का वस्तुतः मुख्य प्रयोजन है। उक्त प्रतीति तो गङ्गा-शब्द के मुख्यार्थ-जलप्रवाह का तटरूप-अर्थ के साथ अभेद की प्रतीति होने पर ही सम्भव है। इस प्रतीति के लिए 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य उपन्यस्त किया गया है, अन्यथा 'गङ्गातटे घोषः' इस मुख्य-शब्द के कथन में तथा 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकार के बाधित शब्द के प्रयोग में अन्तर ही क्या रह गया ?[1]

गङ्गात्व और तट में ऐक्य की प्रतीति भी निहित है। दोनों की अलग-अलग उपस्थिति में उक्त प्रयोजन की प्रतीति अतिशयरूप में नहीं हो सकेगी, अतः लक्ष्य एवं लक्षक अर्थ में, अर्थात् गङ्गा के जल के प्रवाह एवं तट में अभेद न मानकर ताटस्थ्य का सिद्धान्त, अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ में परस्पर भेद मानना समीचीन नहीं है। यदि तट के साथ गंगा का सम्बन्ध मात्र ही प्रतीति होता हो, तो शीतत्वपावनत्वातिशय के लिए जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया पद 'गङ्गायां घोषः' के स्थान पर 'गङ्गातटे घोषः' कहने में क्या क्षति है ? सम्बन्धमात्र की प्रतीति तो यहां भी होती है। इस प्रकार आचार्य-मम्मट ने

ज्ञानप्रसङ्गात्। अतस्तत्रापि लाक्षणिकशाब्दबोधोत्तरं व्यञ्जनयैव गङ्गाद्यभेदबुद्धिरिति न्यायपञ्चाननादयः।

—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 211-212

1 अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

—काव्यप्रकाश, पृ. 61

अन्यच्च

'प्रतिपादने' प्रतिपादनदशायाम् 'तत्त्वप्रतिपत्तौ' सामान्यतः प्रयोजनवत्त्वप्रतिपत्तौ सत्याम्। 'प्रतिपिपादयिषितस्य' लक्षणया लक्ष्यार्थज्ञापनेन प्रतिपादयितुमिष्टस्य तटादौ पावनत्वादेः कुन्ताद्यविरलत्वादेश्च प्रयोजनस्य, 'सम्प्रत्ययः' इत्यर्थः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 57

मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य-सिद्धान्त का सतर्क खण्डन किया। **मम्मट** की उक्त मान्यताओं का समर्थन **मम्मट**-परवर्ती जिन आचार्यों ने किया, वे निम्न प्रकार से हैं—

मम्मट के उपचार के समर्थक आचार्य

अमरचन्द्रयति ने **मम्मट** का समर्थन करते हुए कहा कि लक्षणा द्वारा तटरूप अर्थ की प्रतीति गङ्गात्वेन होती है। वस्तुतः गङ्गा से युक्त तट में पुण्यत्व, मनोरमत्व तथा शैत्यादि प्रयोजनरूप-व्यङ्ग्य का भान किया जाना शक्य है।[1] **श्रीनिवासाचार्य** तो गङ्गा-शब्द का जो प्रवाह-रूप विशेष-वाच्यार्थ है, उस वाच्यार्थ से सम्बद्ध-तट में ही लक्षणा अङ्गीकार करते हैं।[2] **विद्यानाथ** ने भी **मम्मट** का समर्थन करते हुए कहा—गङ्गा-शब्द से तटरूप मात्र-अर्थ की प्रतीति होने पर घोषगत पवित्रता आदि की प्रतीति नहीं हो सकेगी।[3] **चण्डीदास** ने भी **मुकुलभट्ट**-प्रोक्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त का खण्डन किया, तथा 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' इस सिद्धान्त को दूषित माना।[4]

गोपालभट्ट ने काव्यप्रकाश की टीका में भेदरूप-ताटस्थ्य के प्रति अपनी असहमति प्रकट की है।[5] **गोविन्दठक्कुर** ने भी गङ्गादि पदों के द्वारा

---

1 गङ्गाशब्दस्तटं लक्षयति। गङ्गात्वे एकार्थसमवेतपुण्यत्वमनोरमत्वशैत्यादि-प्रतिपादनं व्यङ्ग्यंप्रयोजनम्। न हि तत्पुण्यादि गङ्गातट इत्यादिशब्दा-न्तरैः स्प्रष्टुमपि शक्यते।

—काव्यकल्पलतावृत्ति, सटीक, (टीका. अमरचन्द्रयति), पृ. 43

2 तत्र पूर्वेण प्रवृत्तिर्लक्षणा। यथा—'गङ्गायां घोषः प्रतिवसती'त्यत्र गङ्गा-शब्दस्य प्रवाहविशेषरूपवाच्यसम्बन्धिनि तीरे।

—न्यायपरिशुद्धि, पृ. 338

3 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गासम्बन्धविशिष्टस्योपलक्षणत्वे घोषगतपवित्र-त्वाद्यसिद्धेः।

—प्रतापरुद्रीय, पृ. 45

4 'तटस्थे लक्षणा शुद्धे'तिमतं दूषणपरं वा, न त्वन्ययोगव्यवच्छेदपरं मन्तव्यम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. चण्डीदास), पृ. 49

5 अनयोः.........भेदरूपमन्योन्याभावस्वभावं ताटस्थ्यलक्षणं माध्यस्थ्यं न विद्यते।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 54-55

तीरादि के प्रतिपादन के करने के रूप में तीर की प्रतीति मानी है, न कि तीरत्व के रूप में। वस्तुत: तीर की प्रतीति तो 'तीरे घोष:' इस कथन से भी सम्भव थी ही।[1] गङ्गा-शब्द से जलप्रवाह से युक्त तट की प्रतीति निर्बाध रूप से कैसे हो सकती है ? इसका भी समाधान **प्रदीपकार** ने दिया है।[2]

वैय्याकरण नागेशभट्ट ने भी **मम्मट** का समर्थन करते हुए लक्ष्य एवं लक्षक की अभेद-प्रतीति, शैत्यपावनत्वादि प्रतीति के लिए आवश्यक मानी है।[3] इस विषय में **डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी** ने **मुकुलभट्ट** तथा **मम्मट** की विचारधारा को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है। **काव्यप्रकाशकार** ने **मुकुलभट्ट** के इस कथन का विरोध किया है कि लक्षणावृत्ति से जो लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है, वह वाच्यार्थ से सर्वथा अपने आपको भिन्न रखते हुए, यदि **मुकुलभट्ट** के इस मत का खण्डन हो जाता है, तो नैयायिकों एवं मीमांसकों की धारणा का भी खण्डन ही समझिये।

प्रकाशकार का कहना है कि यदि गङ्गा-शब्द से लक्षणा-वृत्ति के द्वारा तीर-अर्थ की प्रतीति तीरत्व-धर्म से विशिष्ट-रूप में हुई—उसमें गङ्गात्व या प्रवाहत्व की प्रतीति न हुई—उसमें, अर्थात् तीर तीर रूप से ही ज्ञात हुआ, प्रवाह से तादात्म्य प्राप्त करता हुआ न जान पड़ा, तो 'गङ्गा' जैसे लाक्षणिक-शब्द से तीर-अर्थ का बोध करना अथवा गङ्गा जैसे वाचक-शब्द से बोध करना—दोनों बराबर ही हैं। कारण यह है कि गङ्गा जैसे लाक्ष-

---

1 अस्ति हि गङ्गादिपदैस्तीरादिप्रतिपादने गङ्गादिनिष्ठपावनत्वादिरूपप्रतिपिपादयिषितप्रयोजनप्रत्ययः। तत्र गङ्गात्वादितितीरे एव बीजम्, न तु तीरत्वादिप्रतीतिरेव। 'तीरे घोषः' इत्यत्रापि तत्प्रतीति प्रसङ्गात्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 31

2 कथं गङ्गाशब्दादिभिर्गङ्गात्वादिकं तीरे बोध्यत इति चेत्, उच्यते। शब्देन लक्ष्येऽर्थे प्रतिपादिते तत्र मुख्याभेदो व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते। तदेतदुक्तम्—'तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः' इति।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 31

3 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गागतशैत्यादिप्रतीतये मध्ये तीरादौ गङ्गाऽभेदप्रतीतिः।
—वैय्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृ. 101

णिक-शब्द से भी प्रवाह से सर्वथा पृथक् रूप में ही तीर की प्रतीति होती है और 'गङ्गा-तीर' से भी, तो दोनों प्रयोगों का अन्तर क्या ?

जिस प्रयोजन से प्रेरित होकर वक्ता ने 'गङ्गा-तीर' जैसे वाचक-शब्द के रहते हुए भी उसका प्रयोग नहीं किया और लाक्षणिक पद का प्रयोग किया—वह प्रयोजन है कि तीरगत गङ्गा के धर्म, शीतलता एवं पवित्रता। गङ्गा या प्रवाह के इन धर्मों की प्रतीति तीर में तभी सम्भव है, जब तीर प्रवाह से तादात्म्य-प्राप्त करके प्रतीत हो। यदि प्रवाह से तीर भिन्नरूपेण प्रतीत हो, तो प्रवाह का धर्म तीर में नहीं प्रतीत हो सकता। तीर की प्रवाह से पृथक्-रूप में प्रतीति मानने वालों का कहना है कि तीर में प्रवाह की विशेषताएं प्रवाह से तादात्म्य के कारण नहीं, प्रत्युत प्रवाह से सम्बद्ध होने के कारण भी प्रतीत हो सकती हैं, परन्तु साहित्यिकों की ओर से आपत्ति यह दी जाती है कि प्रवाह से सम्बद्ध-तीर तो नजदीक भी हो सकता है और दूर भी। प्रवाह से दूर के तीर में प्रवाह की विशेषताएँ कैसे आ सकेंगी ? कहा जा सकता है कि उस स्थिति में इस लाक्षणिक प्रयोग की निरर्थकता यह सूचित करती है कि तीर नजदीक का ही लिया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि गङ्गा-तीर-शब्द जैसे मुख्यार्थ-वाचक-शब्द के प्रयोग से भी सभी तीर लिए जा सकते हैं, चाहे नजदीक का हो या दूर का।

यह कोई नियम नहीं है कि मुख्य गङ्गा-तीर शब्द से जब भी तीर की प्रतीति हो, तो दूरस्थ तीर की ही हो। इसके विपरीत जैसा प्रकरण होगा, उसके अनुसार दूर एवं नजदीक—दोनों प्रकार के तीरों की प्रतीति हो सकती है। इस प्रकार साहित्यिकों ने यह सिद्ध किया है कि गङ्गा आदि लाक्षणिक-पदों से प्रतीत होने वाला लक्ष्यार्थ सदा वाच्यार्थ से तादात्म्यापन्न होकर ही प्रतीत होता है, तटस्थ होकर नहीं।[1]

निष्कर्ष

इस सिद्धान्त के प्रवर्तन-कर्ता के रूप में **मुकुलभट्ट** को माना जाता है। उनकी मान्यता के अनुसार—लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ में भेद होने पर शुद्धा तथा अभेद होने की स्थिति में गौणी-लक्षणा होती है, किन्तु परवर्ती **मम्मट**-प्रभृति आचार्य उपचार को गौणी और शुद्धा-लक्षणा का भेदक-तत्त्व मानते हैं। इन दोनों मान्यताओं के कारण लक्षणा का प्रतिपादन करने वाले आचार्य दो भागों में विभाजित हो जाते हैं।

---

1 त्रिपाठी, राममूर्ति, लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. 398

उक्त मतभेद का आधार है—'गङ्गायां घोषः' यह लक्षणा-परक वाक्य, क्योंकि तटरूप-अर्थ की प्रतीति के विषय में दोनों मतों में मतभेद है। यह स्पष्ट है कि मुख्यार्थ-बाध होने पर गङ्गा-शब्द तट-रूप अर्थ की प्रतीति कराता है, किन्तु बाधित गङ्गा-शब्द 'तटे घोषः' यह प्रतीति कराता है अथवा गङ्गा-शब्द के अर्थ का सम्बन्ध भी तट के साथ जुड़ा रहता है तथा उसके कारण 'गङ्गा तटे घोषः' इत्याकारक प्रतीति कराता है? इस विषय में **मुकुलभट्ट** अपना समाधान देते हैं कि गङ्गा-शब्द से तट-रूप अर्थ ही उपस्थित होता है। गङ्गा से सम्बद्ध-अर्थ तट-रूप की उपस्थिति नहीं होती है। गङ्गा शब्द के प्रयोग की उपयोगिता भी यही है कि तट गङ्गा से भिन्न अन्य नदियों का न होकर गङ्गा-नदी का ही है, एक मात्र यह प्रतीति बनी रहती है।

मम्मट ने **मुकुलभट्ट** की मान्यता का खण्डन करते हुए कहा कि यदि लक्ष्य एवं लक्षक-अर्थ में भेद मानें तो अनिष्टापत्ति होती है, क्योंकि गङ्गा के जलप्रवाह और तट में भेद-प्रतीतिरूप-ताटस्थ्य का समर्थन करने पर शीतत्वपावनत्वाधिक्य की प्रतीति न हो सकेगी, जो लक्षणा का वस्तुतः प्रयोजन है। उक्त प्रतीति तो गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ-जलप्रवाह का तटरूप-अर्थ के साथ अभेद की प्रतीति होने पर ही सम्भव है। इस प्रतीति के लिए 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य उपन्यस्त किया गया, अन्यथा 'गङ्गातटे घोषः' इस मुख्य-शब्द के कथन में तथा 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकार बाधित-शब्द के प्रयोग में अन्तर ही क्या रह गया? अतः गङ्गा के जल के प्रवाह एवं तट में अभेद न मानकर ताटस्थ्य का सिद्धान्त, अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ में भेद मानना समीचीन नहीं है।

इस प्रकार **मम्मट** ने **मुकुलभट्ट** के ताटस्थ्य-सिद्धान्त का तर्कपूर्ण खण्डन किया, जिसका समर्थन **अमरचन्द्रयति, श्रीनिवासाचार्य, विद्यानाथ, चण्डीदास, गोपालभट्ट, गोविन्दठक्कुर, नागेश-प्रभृति** आचार्यों ने किया। दूसरी ओर **मुकुलभट्ट**-निर्मित ताटस्थ्य-सिद्धान्त का समर्थन भी **काव्यप्रकाश के टीकाकार महेश्वरन्यायालङ्कार भट्टाचार्य** तथा **गोकुलनाथ-उपाध्याय** एवं **अलंकारकौस्तुभ** के कर्ता **विश्वेश्वर**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने भी किया।

उक्त ताटस्थ्य-सिद्धान्त, कथन में तर्कपूर्ण होते हुए भी व्यावहारिक-दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यदि 'गङ्गातट' के स्थान पर एकमात्र 'गङ्गा' शब्द के कथन का अभिप्राय यही है कि गङ्गा की शीतलता एवं पवित्रता आदि तट में भी दृष्टिगोचर हो, अथवा प्रतीत हो, ऐसा तभी माना जा सकता है, जब तट और प्रवाह को हम अभिन्न रूप में स्वीकार करेंगे।

वस्तुतः प्रवाह और तट में ताटस्थ्य मानने पर, प्रवाह का धर्म तट में

न तो आ ही सकता है और न माना ही जा सकता है, अतः यदि तीर में प्रवाह का धर्म अभिप्रेत हो तो तीर को प्रवाह-धर्मत्वावच्छिन्न स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रकार **मुकुलभट्ट** का 'तटस्थ्ये लक्षणा शुद्धा' का सिद्धान्त प्रयोजन की सिद्धि में पूर्ण सहायक न होने के कारण मान्य नहीं हो सकता है।

प्रयोजनवती-शुद्धा-जहदजहल्लक्षणा

शुद्धा के दो भेदों—उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा का विवेचन किया जा चुका है। मुख्यतः वेदान्ती तथा कुछ आलङ्कारिक आदि इन दो भेदों के सम्मिश्रणात्मक-रूप की स्थिति में जहदजहल्लक्षणा (जहदजहत्स्वार्था) नामक लक्षणा का तृतीय-भेद भी स्वीकार करते हैं।[1] उसी का विवेचन यहां किया जा रहा है।

वेदान्तियों का अभिमत

वेदान्तियों ने प्रमुख-रूप से महावाक्य की संगति के लिए उक्त लक्षणा की कल्पना की है। उन्होंने इसे जहदजहत्स्वार्था, भागलक्षणा और भागत्याग-लक्षणा ये नाम भी दिये हैं। **शङ्कराचार्य** ने 'तत्त्वमसि', 'सोऽयम्' इत्यादि में भागलक्षणा अङ्गीकार की है। उनकी मान्यता है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' पद के अर्थ में 'गङ्गायां घोषः' के समान जैसे जहल्लक्षणा सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त नहीं होती है, वैसे यहां 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है) इस वाक्य के समान वह अजहल्लक्षणा भी प्रवृत्त नहीं होती,[2] अतः उक्त

---

1 तत्त्वमसीत्यादौ जहदजहल्लक्षणा च तृतीयेति वेदान्तिनः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 58
अन्यच्च
यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्द एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा। यथा सोऽयं देवदत्त इति।
—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 101

2 गङ्गायां घोष इत्यादौ या जहल्लक्षणा मता ॥ 734 ॥
न सा तत्त्वमसीत्यत्र वाक्य एषा प्रवर्तते।
अत्र शोणो धावतीति वाक्यवन्न प्रवर्तते ॥ 743 ॥
अजहल्लक्षणा वापि सा जहल्लक्षणा यथा।
—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रह, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी, वि. सं. 2028, पृ. 113-114

महावाक्य की सिद्धि के लिए जहदजहल्लक्षणा माननी पड़ती है। **शंकराचार्य** ने इसका लक्षण भी अपनी कृतियों में किया।[1] **मधुसूदनसरस्वती**[2] आदि परवर्ती वेदान्तियों, टीकाकारों[3] तथा आलङ्कारिकों[4], ने इसके लक्षण को अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। उनका कथन है कि जहां शक्यार्थ का अपरित्याग तथा परित्याग की सम्मिलित स्थिति हो वहां जहदजहल्लक्षणा होती है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जहां शक्यार्थ के 'एकदेश' को त्याग कर 'अन्यदेश' का ग्रहण करना वक्ता का तात्पर्य हो वहां भागत्यागलक्षणा होती है। 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य के समान 'तत्त्वमसि' वाक्य में इस लक्षणा को व्याख्यात किया गया है। **सदानन्दयति** का कथन है कि 'सोऽयं देवदत्तः' का अर्थ तत्काल तथा एतत्काल-विशिष्ट-

---

1 तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्य पदयोरिव नापरा ॥ 48 ॥
—वाक्यवृत्ति, पृ. 37
अन्यच्च
तस्मात्तत्त्वमसीत्यत्र लक्षणा भागलक्षणा।
....
भागं विरुद्धं सन्त्यज्याविरोधी लक्ष्यते यदा।
सा भागलक्षणेत्याहुर्लक्षणज्ञा विचक्षणाः ॥ 753 ॥
—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसङ्ग्रह, पृ. 116

2 सोऽयं देवदत्त इत्यादौ, अत्र हि तत्कालवैशिष्ट्यैतत्कालवैशिष्ट्ययोर्युगपद् अन्वयविरोधात्तदुपलक्षितदेवदत्तस्वरूपमेव शक्त्यैकदेशलक्षणया पदाभ्यामुपस्थाप्यते, इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।
—वेदान्तकल्पलतिका, पृ. 81

3 सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते तत्कालतद्देशविशिष्टस्य देवदत्तस्यैतत्कालैतद्देशविशिष्टस्य देवदत्तस्य चोभयोरेकत्वानुपपत्तौ तद्देशतत्कालैतद्देशतत्कालविशिष्टमेकमंशं त्यक्त्वोभयत्रानुगतदेवदत्तमात्रांशे शब्दस्य वर्तमानता भागलक्षणा सैव जहदजहल्लक्षणोच्यते ॥ 47 ॥
—वाक्यवृत्ति, सटीक, (टीका. विश्वेश्वर), पृ. 36-37

4 तत्त्वमसीत्यादिमहावाक्येऽपि 'तत्त्वं'पदार्थगतविरुद्धांशत्यागेनाविरुद्धचिन्मात्रोपादानेन च उभयोपलक्षितमेकखण्डं वस्तुभागत्यागलक्षणया प्रतिपाद्यते।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 244

देवदत्त के बोधक वाक्यार्थ के अंश में विरोध होने के कारण, विरोधी तत्काल एवं अपरोक्ष एतत्कालविशिष्टस्वरूप-अंश का परित्याग करके अविरोधी-देवदत्त-रूप अंशमात्र को लक्षित करता है। उसी प्रकार 'तत् त्वमसि' यह वाक्य या उसका अर्थ परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्य की एकता के बोधक वाक्यार्थ के अंश में विरोध होने के कारण विरोधी (परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट विरोधरूप) अंश का परित्याग करके अविरोधी अखण्ड-चैतन्यमात्र को लक्षित करता है।[1]

सदानन्द द्वारा अभिहित भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा में लक्ष्य-लक्षणभाव-सम्बन्ध 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वह देवदत्त है) यहां वह (सः) और यह (अयम्) शब्दों या उनके अर्थों का विरोधी अतीतकाल एवं वर्तमानकालरूप विशेषता के परित्याग में अविरोधी देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी वह (तत्) और तुम (त्वम्) पदों का या उनके अर्थों का विरोधी परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट के परित्याग से अविरोधी-चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध है। यही भागलक्षणा कहलाती है।[2]

वेदान्तपरिभाषा के कर्ता **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने उपर्युक्त स्थलों पर शक्ति, अर्थात् अभिधा के अभेदान्वय हो जाने के कारण मुख्यार्थ का बाध नहीं[3] होने

---

1 तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा 'तत्त्वमसीति' वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।
—वेदान्तसार, पृ. 37-38

2 लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु—यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥ 23 ॥
—वही, पृ. 33-34

3 वयन्तु ब्रूमः—'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' इत्यादौ विशिष्टवाचकपदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा। शक्त्युपस्थितविशिष्टयोरप्यन्वयानुपपत्तौ

से वहां जहदजहल्लक्षरणा को अस्वीकार किया है, उनके अनुसार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में जहदजहल्लक्षरणा मानी जानी चाहिए ।[1] यहां शक्य—काक के परित्याग से अशक्य—दध्युपघातकत्व के उपादान से विडालादियों में भी काक-शब्द की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार यही उक्त लक्षरणा का समीचीन उदाहरण है ।

वैय्याकरणों में **नागेश** के अतिरिक्त इस लक्षरणा का किसी अन्य वैय्याकरणों के ग्रन्थों में नाम तक देखने को नहीं मिलता है । आलङ्कारिकों में **विद्याधर, विजयवर्णी, धर्मसूरि, अप्पयदीक्षित, राजचूड़ामणि, आशाधरभट्ट, विश्वेश्वर** आदि ने इस जहदजहल्लक्षरणा को माना है । अधोवर्णित आचार्यों की मान्यताएं इस कथन को पुष्ट करती हैं, अतः डॉ. **राममूर्ति शर्मा** का यह कथन कि किसी भी काव्यशास्त्री ने भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षरणा के रूप में लक्षणा की कल्पना नहीं की है[2],—यह कथन विचारसापेक्ष है ।

आलङ्कारिकों में एकमात्र आलङ्कारिक **अप्पयदीक्षित** ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने उक्त जहदजहल्लक्षरणा को सभेद वरिणत किया तथा उदाहरण के रूप में 'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादि वाक्यों को उपन्यस्त किया है। जिस प्रकार जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था का सभेद मूल उद्गमस्थल **मुकुल-भट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** में पाया जाता है, उसी प्रकार किञ्चित् शब्द-परिवर्तन के साथ उक्त दोनों भेदों की उचित संघटना **काव्यप्रकाश** में भी पायी जाती है, वैसे जहदजहत्स्वार्था के विषय में इन ग्रन्थों में चर्चा उपलब्ध नहीं होती है ।

विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेव अभेदान्वयाविरोधात् ।
—वेदान्तपरिभाषा, रामकृष्ण मिशन शारदापीठ, वेलूरमठ, हावड़ा, 1942 ई., पृ. 102

1 जहदजहल्लक्षरणोदाहरणस्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्याद्येव । तत्र शक्यकाकपरित्यागेन अशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेणाऽकाकेऽपि 'काक' शब्दस्य प्रवृत्तेः ।
वही, पृ. 105

2 ग्रन्थकार (सदानन्द) ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्य बोध के लिए जिस भाग-लक्षणा की अवतारणा की है, वह उनकी अपनी सूझ है, क्योंकि मेरे विचार से किसी भी काव्यशास्त्री ने भागलक्षणा, भागत्यागलक्षणा या जहदजहल्लक्षरणा के रूप में लक्षणा की कल्पना नहीं की है ।
—वेदान्तसार, विवेक व्याख्या सहित, (व्या. डॉ. राममूर्ति शर्मा), पृ. 99

जहदजहल्लक्षणा को मानने वाले आलङ्कारिक

आलङ्कारिकों में **विद्याधर** ने जहदजहल्लक्षणा का लक्षण करते हुए कहा है—जहां शब्द अपने वाच्यार्थ के एकांश का त्याग कर दे और एकांश का न करे, वहां जहदजहत्स्वार्था लक्षणा होती है।[1] इसके बाद **धर्मसूरि** ने भी प्रकारान्तर से **एकावलीकार** के शब्दों को दुहरा दिया।[2] यद्यपि उक्त लक्षणा के विषय में **धर्मसूरि** ने कोई नयी बात नहीं कही, तथापि उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण श्लोकात्मक होने के कारण उपादेय है।[3] 'सोऽयं हरि' में उक्त लक्षणा का कारण बताते हुए कहा गया है कि यहां यद्देशकाल-विशिष्टता से युक्त हरि पहले थे, तद्देशकालवैशिष्ट्य इस समय नहीं रहा। 'सोऽयं' यहां तत्तांश, स्वार्थ का परित्याग करता है, तदन्तांश में स्वार्थ का त्याग नहीं करता।

पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए ही **विजयवर्णी** ने भी उक्त लक्षणा का लक्षण किया है।[4]

मधुसूदनसरस्वती ने भी अन्य वेदान्तियों के समान उक्त लक्षणा का लक्षण किया है, उन्होंने एक नवीन बात यह कही कि यह लक्षणा जहल्लक्षणा और गौणी-लक्षणा से बलवती होती है, क्योंकि यहां वाच्य के एक देश में ही अन्वय रहता है। अन्य आचार्य इस लक्षणा को भागत्यागलक्षणा नाम से भी

---

1 अशेनैकेन पुनर्जहाति न जहाति चान्येन।
शब्दः स्वार्थं यदि जहदजहत्स्वार्था समाख्याता॥ 2. 8
—एकावली, पृ. 66

2 अंशभेदमुपादाय जहाति न जहाति च।
शब्दः स्वार्थं यदि जहदजहत्स्वार्थलक्षणा॥
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 237

3 समुद्रकन्यासमुपासितो यो,
बैकुण्ठलोके वसति वितेने।
'सोऽयं' हरिः सम्प्रति रामनामा,
सीता समेतोऽधिवसत्ययोध्याम्॥
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 238

4 शब्दो जहाति मुख्यार्थं न जहात्यपि यत्र सा।
जहत्यजहती प्रोक्ता लक्षणा कविकुञ्जरैः॥ 2. 19
—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, पृ. 9

अभिहित करते हैं, उन्होंने इसे भागलक्षणा नाम से समुच्चरित किया है।[1] कविकर्णपूर ने उक्त लक्षणा का लक्षण नहीं किया, किन्तु उदाहरण 'रथी-गच्छति' अवश्य प्रस्तुत किया है।[2]

अप्पयदीक्षित ने सप्तविधा फललक्षणा के अन्तर्गत ही जहदजहल्लक्षणा को माना है। इन्होंने इसका लक्षण नहीं किया है। इसके उदाहरण—'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' आदि वाक्य दिए हैं। ग्राम के एक देश के जल जाने पर ग्राम जल गया है, कह दिया जाता है। यहां ग्रामादि पद के द्वारा ग्राम के एकदेश, अर्थात् अदग्धभाग का परित्याग तथा एकदेश, अर्थात् दग्ध-भाग का ग्रहण करने के कारण जहदजहल्लक्षणा है। ग्राम का अधिक-भाग जल गया यह द्योतन करना इसका फल है।[3]

नैय्यायिक अन्नंभट्ट ने भी एक पंक्ति में उक्त लक्षणा का लक्षण दीपिका नामक टीका में किया है। उनका कथन है कि जहां वाक्य के एक-देश के त्याग से एक-देश का अन्वय हो, वहां उक्त लक्षणा होती है।[4] मौनिश्रीकृष्ण-भट्ट ने वेदान्तियों द्वारा समर्थित जहदजहल्लक्षणा का खण्डन किया, उन्होंने

---

1 जहदजहत्स्वार्था शक्यैकदेशपरित्यागेन शक्यैकदेशवृत्तिः। इयमपि जह-ल्लक्षणातो गौणीतश्च बलवती वाच्यैकदेशान्वयात्। 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादौ। अत्र हि तत्कालवैशिष्ट्यैतत्कालवैशिष्ट्ययोर्युगपद् अन्वय-विरोधात्तदुपलक्षितदेवदत्तस्वरूपमेव शक्यैकदेशलक्षणया पद्भ्यामुपस्था-प्यते, इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।

—वेदान्तकल्पलतिका, पृ. 81-82

2 'रथी गच्छती'त्यत्र जहदजहत्स्वार्था, स्वाकर्षकगमनेन शक्यसम्बन्धात् स्वकर्तृकगमनाभावादंशतो जहत्स्वार्था गमनांशेनाजहत्स्वार्था।

—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 41

3 ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादि प्रयोगे 'ग्रामा'दिपदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्तेर्जहदजहल्लक्षणा दग्धभूयस्त्वादिद्योतनं फलम्।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 20

4 यत्र वाक्यैकदेशत्यागेन एकदेशान्वयस्तत्र जहदजहदिति। यथा—'तत्त्वमसि'।

—तर्कसंग्रहदीपिका, पृ. 188

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अन्तर्भाव जहत्स्वार्था नामक लक्षणा के अन्तर्गत किया।[1]

जगदीशतर्कालङ्कार ने यद्यपि जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था-लक्षणा नाम लिया है, किन्तु उन्होंने उक्त लक्षणाओं के न लक्षण ही दिए और न ही उदाहरण देना समीचीन समझा। यद्यपि कुछ आचार्यों ने उक्त लक्षणाओं का लक्षण भले ही नहीं किया है, किन्तु उदाहरण के माध्यम से इन लक्षणाओं को स्पष्ट अवश्य किया है। एक ओर तर्कालङ्कार ने जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था का नाम तो लिया, दूसरी ओर जहदजहत्स्वार्था के विषय में तो उन्होंने मौन साधकर उक्त लक्षणा के विषय में अपनी अरुचि ही प्रदर्शित की है।[2] यद्यपि **पण्डितराज जगन्नाथ** को उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के स्थान पर अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था ये नाम स्वीकार्य हैं, किन्तु जहदजहल्लक्षणा भेद इन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। **राजचूड़ामणिदीक्षित** ने वाच्यार्थ के एकदेश में वृत्ति होने पर उक्त लक्षणा मानी है।[3]

वैय्याकरण नागेश के मतानुसार अनेकार्थ-बोधक-शब्द के पदार्थ के एकदेश में जब लक्षणा मानी जाती है, तब वहां वृद्ध लोग जहदजहल्लक्षणा का व्यवहार करते हैं। वाच्यार्थ के किसी अंश का त्याग और किसी अंश का त्याग न करना हो, अर्थात् परिग्रह करना तो वहां जहदजहल्लक्षणा होती है।[4] इन्होंने **वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** में 'केचित्तु' पद के माध्यम से

---

1 वेदान्तिनस्तु 'तत्त्वमसी'त्यादौ परोक्षचैतन्यापरोक्षचैतन्यवाचकयोः 'तत्' 'त्वम्' अनयोः सामान्याधिकरण्यान्वयानुपपत्त्या चैतन्यमात्रे लक्षणा। तथा च जहदजहल्लक्षणाख्योऽपि भेद इत्याहुः। तन्न जहत्स्वार्था पदेनैव संग्रहात्।
—वृत्तिदीपिका, पृ. 11-12

2 लक्षकं नाम विभजते—
जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थानिरूढाधुनिकादिकाः।
लक्षणा विविधास्ताभिर्लक्षकं स्यादनेकधा ॥ 25 ॥
—शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. 133

3 स्वार्थैकदेशे वृत्तौ तु जहत्यजहती मता।
पुष्पितं वनमालोक्य पथिकाः पुष्पिताधयः ॥ 2. 29
—काव्यदर्पण, पृ 59

4 विशिष्टार्थबोधक शब्दस्य पदार्थैकदेशे लक्षणायां जहदजहल्लक्षणेति व्यवहरन्ति वृद्धाः।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 45

अप्पयदीक्षित के मत को ही उपन्यस्त कर दिया है ।[1]

आशाधरभट्ट के अनुसार फलवतीजहदजहल्लक्षणा

भट्ट के अनुसार जिस लक्षणा में जहल्लक्षणा एवं अजहल्लक्षणा का सम्मिश्रण रहता है, वहां जहदजहल्लक्षणा होती है ।[2] इस लक्षणा को भागत्यागलक्षणा भी कहा जाता है । इसका उदाहरण इन्होंने 'कर्णावतंस' दिया है । वैसे 'अवतंस' कान के आभूषण के रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु समस्तपद में कर्णाभरणवाचक अवतंस शब्द से भूषणमात्र अर्थ में फलवती-भागत्याग-लक्षणा मानी जाती है । ऐसे स्थलों पर लक्षणा का अर्थ उन अङ्गों में स्थित होने की प्रतीति होना है । इसी प्रकार 'वंशकरीरनीलैः' (बांस के अंकुरों से नील) इस वाक्य में वंशाङ्कुर वाचक करीर शब्द से केवल अङ्कुरमात्र का बोध होता है । यहां लक्षणा का फल चारुत्व की प्रतीति है ।

इसी प्रकार 'करिकलभ' शब्द में हाथी के बच्चे के वाचक कलभ-पद से केवल बालक-अर्थ की प्रतीति होती है । यहां लक्षणा का फल कलभ में प्रौढि की प्रतीति होना है । ये सभी उदाहरण फलवती-लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं ।[3] इसी प्रकार इस लक्षणा के भट्ट ने 'पशूननक्ति', 'व्रीहीन् प्रोक्षति',

---

1 केचित्तु 'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादिप्रयोगे ग्रामादिपदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्तिः । तत्र जहदजहल्लक्षणाख्योऽन्योऽपि भेदः, दग्धभूयस्त्वादिद्योतनं फलमित्याहुः ।
—वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, (संपा. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी), पृ. 30
अन्यच्च
'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादौ दग्धादिपदान्यर्शआद्यजन्तानि इत्यर्थवत्सूत्रभाष्योक्तेः तत्र लक्षणैव नेति बोध्यम् । ईदृशेषु जहदजहल्लक्षणा इत्यन्ये ।
—वैय्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृ. 102

2 तदुभययुक्ता जहदजहल्लक्षणा ।
—त्रिवेणिका, पृ. 18

3 'कर्णावतंसः' अत्र कर्णाभरणवाचिनाऽवतंसशब्देन भूषणमात्रे फलवती भागत्यागलक्षणा । फलं तु तत्र स्थितत्वप्रतीतिः । 'वंशकरीरनीलैः', अत्र वंशाङ्कुरवाचिना करीरशब्देनाङ्कुरमात्रं लक्ष्यते । फलं तु चारुत्वप्रतीतिः ।
—वही, पृ. 21

'हिमांशुवंशस्य करीरमेव माम्', 'सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रै', 'पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज' आदि अन्य उदाहरण भी दिए हैं ।[1]

निरूढा-जहदजहत्-अवयवावयविभावसम्बन्ध-लक्षणा

भट्ट के अनुसार यह जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) अवयव-अवयविभाव-सम्बन्ध के कारण भी होती है । यथा —पर्वत की चोटी के अग्रभाग आदि के लिए 'अग्रसानु' पद का प्रयोग होता है । इसी प्रकार 'अग्रहस्त', 'हस्ताग्र', 'अग्रपाद', 'अग्रसेना' आदि पदों का प्रयोग भी भट्ट ने उक्त लक्षणा के अन्तर्गत माना है । लक्षणा का प्रयोजन (फल), महत्त्व आदि की प्रतीति कराना होता है ।[2]

निरूढा-जहदजहल्लक्षणा

भट्ट ने निरूढा, जहत् तथा अजहत्-लक्षणा के समान ही निरूढा-जहदजहल्लक्षणा के भेदों को विस्तार से वर्णित किया है । 'गृहं सम्मार्ष्टि' (घर की सफाई करता है) वाक्य में गृह-शब्द से गृह के एकभाग की प्रतीति लक्षणा द्वारा हो रही है, यहां निरूढा-जहदजहल्लक्षणा है । इसी प्रकार 'कुसुमितद्रुमम्' वाक्य में वृक्षवाचक 'द्रुम' शब्द में 'वृक्ष' के एकदेश अर्थ की प्रतीति भी निरूढा-जहत्-अजहल्लक्षणा द्वारा होती है । इसी भांति 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में पूर्वकाल एवं उत्तरकाल में विद्यमान रहने वाला देवदत्त में से, पूर्वकालवर्तित्व और उत्तरकालवर्तित्व अर्थ का त्याग करके देवदत्त सामान्य-अर्थ की प्रतीति निरूढा-जहदजहल्लक्षणा के द्वारा होती है, अतः 'शिवोऽहम्', 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में 'तत्ता' और 'अहन्ता' इत्यादि का त्याग करके सामान्य अर्थ-मात्र की प्रतीति जहदजहल्लक्षणा द्वारा होती है ।[3]

---

1 त्रिवेणिका, पृ. 20-22

2 अवयवाऽवयविभावे च जहदजहल्लक्षणा । यथा —'अग्रसानुषु अग्रहस्तः', 'हस्ताग्रम्', 'अग्रपादः', 'अग्रसेना' इत्यादौ । फलं तु महत्त्वप्रतीतिः ।
—वही, पृ. 23

3 अथ निरूढा जहदजहल्लक्षणा—'गृहं सम्मार्ष्टि' अत्र गृहशब्देन तदेकदेशे निरूढा जहदजहल्लक्षणा । एवं 'कुसुमितद्रुमम्' इत्यादौ । 'सोऽयं देवदत्तः' अत्र पूर्वकालोत्तरकालवर्त्तित्वपरित्यागेन देवदत्तमात्रं लक्ष्यते । एवं 'शिवोऽहम्', 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादावपि ।
—त्रिवेणिका, पृ. 25

अगूढफला-जहदजहल्लक्षणा

यह भी एक भेद प्राचीनों को मान्य होने के कारण भट्ट ने विवेचित किया है। इसका उदाहरण दिया है—'फलिता रम्भा जनानाह्वयति' (फला हुआ केले का पेड़ लोगों को पुकारता है) इस वाक्य में 'रम्भा' शब्द से उसके ऊपरी भाग में लगा हुआ फल-गुच्छक इस अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और यहां अगूढफला-जहदजहल्लक्षणा होगी। इस स्थल में लक्षणा का फल केले के फलों में स्वादुता और अधिकता का प्रतीत होना है। **काव्यप्रकाशकार** के अनुसार उक्त भेद जहल्लक्षणा का ही अंग है।[1]

विश्वेश्वर ने **रसचन्द्रिका** में जहदजहत्स्वार्था के 'पटो दग्धः' 'पुष्पितं वनम्' उदाहरणमात्र दिए हैं। **अच्युतराय** ने उक्त लक्षणा को भागत्याग-लक्षणा नाम से अभिहित किया तथा उसका उदाहरणमात्र दे दिया है।[2]

निष्कर्ष

लक्षणा के इस भेद को सर्वप्रथम वेदान्तियों ने स्वीकार किया है, इसे वेदान्ती लोग भागत्यागलक्षणा और भागलक्षणा नाम से भी अभिहित करते हैं। लक्ष्यार्थ के बोध में जहां कुछ मुख्यार्थ का त्याग और कुछ मुख्यार्थ का उपादान होता है, वहां जहदजहल्लक्षणा होती है। इसी को प्रकारान्तर से कहने पर जहां शक्यार्थ के एक देश को त्यागकर अन्यदेश का ग्रहण करना वक्ता का तात्पर्य हो, वहां भागत्यागलक्षणा होती है। यथा—'सोऽयं देवदत्तः', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की व्याख्या में 'जीवब्रह्माद्वैत' का बोध उक्त लक्षणा के द्वारा होता है।

उक्त उदाहरण के विषय में वेदान्तियों में भी मतैक्य नहीं है। उदाहरणतः **वेदान्तपरिभाषा** के कर्ता **धर्मराजाध्वरीन्द्र** पूर्वोक्त उदाहरणों में उक्त लक्षणा नहीं मानते हैं, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार शक्ति, अर्थात् अभिधा से अभेदान्वय हो जाने के कारण उक्त स्थलों में मुख्यार्थबाध का अभाव है, अतः

---

1 'फलिता रम्भा जनानाह्वयति, अत्र रम्भाशब्देन तच्छिरोभागेऽगूढफला जहदजहल्लक्षणा। फलन्तु फलस्वादुताप्रतीतिः, भूरित्वप्रतीतिश्च। काव्यप्रकाशे भागत्यागलक्षणा नास्ति, जहल्लक्षणायामन्तर्भावात्।
—त्रिवेणिका, पृ. 22

2 जहत्यजहती सोऽयं गोपीनाथ इतीरिते।
तथा तत्त्वमसीत्यादौ भागत्यागाभिधाप्यसौ॥
—साहित्यसार, पृ. 47

'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' ही उक्त लक्षणा के उदाहरण की अर्हता को वहन करता है, क्योंकि शक्य—काक के परित्याग से अशक्य—दध्युपघातकतत्त्व के उपादान से विडालादियों में भी काक-शब्द की प्रवृत्ति होती है। वैय्याकरणों में नागेश के अतिरिक्त इस लक्षणा का कहीं भी किसी ने नामोल्लेख तक भी नहीं किया।

आलङ्कारिकों में भी **विद्याधर, धर्मसूरि, अप्पयदीक्षित, राजचूड़ामणि-दीक्षित, विश्वेश्वर, आशाधरभट्ट** तथा **विजयवर्णी**-प्रभृति आचार्यों ने अपने लक्षणग्रन्थों में इसे वर्णित किया तथा उदाहरणों को देने के माध्यम से भी इस लक्षणा को माना है। जो विद्वान् यह कहते हैं कि किसी भी काव्यशास्त्री ने भागलक्षणा, जहदजहल्लक्षणा के रूप में लक्षणा की कल्पना नहीं की है, उनकी इस मान्यता के औचित्य पर पुनः विचार की आवश्यकता है। इसके आविर्भाव का श्रेय भले ही वेदान्तियों को दिया जा सकता है, किन्तु जहां तक इसके पल्लवन का प्रश्न है, वहां वेदान्तियों की अपेक्षा आलङ्कारिकों का योगदान विशेष है, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वेदान्ती मधुसूदनसरस्वती ने इस प्रकरण में एक नई बात यह कही है कि यह लक्षणा-जहल्लक्षणा और गौणीलक्षणा से बलवती होती है, क्योंकि यहां वाच्य के भी एकदेश में अन्वय रहता है। **आलंकारिक अप्पयदीक्षित** ने इस लक्षणा के 'पुष्पितं वनम्', 'ग्रामो दग्धः' आदि स्वकीय उदाहरण दिए हैं।

नैयायिकों में **अन्नंभट्ट** ने अपनी **दीपिका** नामक टीका में इसको विवेचित किया है। **जगदीशतर्कालंकार** जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था शब्द का नाम **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में लेते तो हैं, किन्तु जहदजहत्स्वार्था वहां दृष्टि-गोचर नहीं होती है। यही स्थिति **रसगङ्गाधर** में **पण्डितराज-जगन्नाथ** की भी है।

वैय्याकरण **मौनिश्रीकृष्णभट्ट** ने वेदान्तियों द्वारा प्रवर्तित एवं समर्थित इस लक्षणा का खण्डन किया है। **नागेश परमलघुमञ्जूषा** में 'केचित्तु' कथन के माध्यम से इस लक्षणा के **अप्पयदीक्षित**-प्रदत्त 'ग्रामो दग्धः' आदि उदाहरणों में जहदजहल्लक्षणा मानने को तैयार नहीं हैं। **आशाधरभट्ट** ने इस लक्षणा को सभेद विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। 'कर्णावतंसः', 'वंशकरीर-नीलैः', 'पशुननक्ति' आदि उदाहरणों के अतिरिक्त **निरूढा-जहदजहत्-अवयवा-वयविभावसम्बन्धलक्षणा, निरूढाजहदजहल्लक्षणा, अगूढफलाजहदजहल्लक्षणा आदि भेदों की सोदाहरण व्याख्या** भी की है।

लक्षणा के भेदकतत्त्व : उपचार का विवेचन

शब्द में अनेक शक्तियां हैं, अतः शब्द अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ दे सकता है। जहां श्रवणमात्र से शब्द अपने अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह मुख्य अर्थ है और जहां शक्ति के होते हुए भी अप्रसिद्धि के कारण प्रकरण आदि के सहारे यत्नपुरस्सर अन्य अर्थ को देता है, वह अर्थ गौण है।[1]

इस प्रकार मुख्य एवं गौण के आधार पर मुख्य-वृत्ति और गौणी-वृत्ति का शब्द-शक्ति के रूप में विचार किया जाने लगा। मुख के आधार पर मुख्य, जघन के आधार पर जघन्या-वृत्ति की कल्पना आचार्यों ने की है। जघन्या शब्द के स्थान पर आगे चलकर उपचार शब्द का प्रयोग होने लगा।[2] विशेषकर दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में यह शब्द अधिक व्यवहृत होने लगा। धीरे-धीरे गुण-शब्द का स्थान उपचार-शब्द ने ले लिया।

प्रारम्भ में गुणकल्पना और उपचारकल्पना समानार्थक ही रहे होंगे? न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इसीलिए गुण-कल्पना को उपचार-कल्पना माना है।[3] किन्तु कालान्तर में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना में पृथक्ता का आधार यह बना कि गुण-कल्पना विशेष्य से सम्बन्धित हो गई और उपचार-कल्पना का सम्बन्ध विशेषण से जोड़ा जाने लगा। एक भिन्नता का द्योतक माप-दण्ड यह भी माना जाने लगा कि गुण-वृत्ति का अन्तर्भाव उपचार-वृत्ति में नहीं होता, किन्तु उपचार-वृत्ति का अन्तर्भाव गुण-वृत्ति में हो सकता

---

1 श्रुतिमात्रेण यत्रास्य ता[या]दर्थ्यमवसीयते।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ 2. 278
—वाक्यपदीय, पृ. 100

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 108, 143
अन्यच्च
उपचारश्च कार्यकारणभाव-तादर्थ्य-स्वस्वामिभाव-अवयवावयविभाव-तात्कर्म्यरूपनिमित्तानां पाञ्चविध्येन पञ्चधा भवति।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 269

3 गुणनिमित्ता कल्पना = गुणनिमित्तकल्पना, सा पुनरुपचारात्मिकैव वेदितव्या।
—काशिकावृत्ति, भाग-3 (वृत्ति. जिनेन्द्रबुद्धि), तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1966 ई., पृ. 410

है।[1] न्यासकार लक्षणा को एक अन्य स्थान पर उपचार रूप में ही लेते हैं।[2]

उपचार के आधार पर लक्षणा का विभाजन

लक्षणा के विभाजन के क्षेत्र में उपचार का अत्यधिक महत्त्व है, इसके कारण ही लक्षणा अनेक शाखाओं में एवं प्रशाखाओं के माध्यम से विस्तार को प्राप्त होती है, अतः सर्वप्रथम उपचार क्या वस्तु है ? विद्वानों ने इसके विषय में क्या मानदण्ड स्थिर किये हैं एवं उन मानदण्डों के समर्थक एवं असमर्थक आचार्यों ने अपने तर्क किस प्रकार प्रस्तुत किए हैं ? इन सभी विषयों को प्रकरणतः प्राप्त उपचार के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वप्रथम उपचार क्या है ? इस विषय को ही स्पष्ट किया जाता है— उपचार-शब्द का अर्थ गौण प्रयोग है। जो शब्द जिस अर्थ में सङ्केतित है, उसको छोड़कर उससे सम्बद्ध-अर्थ को बोधन करना 'उपचार' कहलाता है।

विभिन्न आचार्यों के अनुसार उपचार

सर्वप्रथम **मुकुलभट्ट** ने इस विषय में चर्चा की है। **मुकुलभट्ट** के अनुसार लाक्षणिक के भी दो भेद होते हैं। यह बतलाने के लिए लक्षणा के दो भेद किए गये हैं। वे दो भेद हैं—शुद्धा-लक्षणा और उपचारमिश्रा-लक्षणा। भट्ट के अनुसार उपचारमिश्रा-लक्षणा वहां होती है, जहां एक वस्तु दूसरी वस्तु पर उपचरित, अर्थात् आरोपित की जाती है। यथा—'वाहीक बैल है' यहां गो शब्द का मुख्य अर्थ गोत्व वाहीक से अभिन्न हो नहीं पाता, अतः वह बाधित हो जाता है।

बाधितार्थ यह गो शब्द 'गौ' में रहने वाले जाड्यमान्द्य आदि जो गुण, तत्सदृश जो वाहीक-गत जाड्यमान्द्य आदि गुण, उसमें लक्षणा कराता है और उसके द्वारा गोगत-जाड्यमान्द्य के समान जाड्यमान्द्य आदि युक्त वाहीक में उपचरित होता है। इस कारण यह लक्षणा उपचारमिश्रा-लक्षणा हुई। इस प्रकार शुद्धत्व और उपचारमिश्रत्व इन दो भेदों के आधार पर लक्षणा को

---

1 तथाहि विशेष्येषु गुणकल्पना, विशेषणेषूपचारकल्पनेति प्रदर्शितं पुरस्तात्। न च गुणवृत्तिरुपचारप्रवृत्तावन्तर्भवति, अपि तूपचारवृत्ति-र्गुणवृत्तौ।

—शृंगारप्रकाश, पृ. 358

2 लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा, सा पुनरिहोपचार एव।

—काशिकावृत्ति, पृ. 410

दो प्रकार का बतलाया गया है।[1] मुकुलभट्ट के अनुसार जहां एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आरोपित की जाती है, वहां उपचारमिश्रा-लक्षणा होती है। वह उपचार भी शुद्ध और गौण भेद से दो प्रकार का होता है।[2]

उपचार के आधार पर लक्षणा का चतुर्धा विभाजन करने वाले प्रथम-आचार्य

उक्त प्रकार से लक्षणा का चतुर्धा वर्गीकरण **सर्वप्रथम मुकुलभट्ट** (10 वीं श.) ने अपने ग्रन्थ **अभिधावृत्तिमातृका** में किया है। उपचार को उन्होंने दो प्रकार का माना है—शुद्ध और गौण। दोनों उपचारों में प्रत्येक के आरोप और अध्यवसान के आधार पर दो-दो भेद और किए हैं। इस प्रकार भट्ट के अनुसार उपचार के चार भेद हो जाते हैं।[3] **विश्वनाथ** ने लक्षणा के गौणी एवं शुद्धा इन दोनों भेदों का आरोप एवं अध्यवसान के आधार पर चार प्रकार का विभाजन सारोपा एवं साध्यवसाना इस नामकरण के साथ किया है।[4]

साहित्य में गौण-प्रयोग को उपचार के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी उपचार के कारण, लक्षणा भी शुद्धा और गौणी (उपचारमिश्रा) इन दो धाराओं में विभाजित हो जाती है। शुद्धा और उपचारमिश्रा के भी आरोप और अध्यवसान के कारण सारोपा तथा साध्यवसाना दो भेद और हो जाने के कारण 'उपचार' का चतुर्धा विभाजन आचार्यों को मान्य रहा है।

---

1 उपचारमिश्रा तु यत्र वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरे उपचर्यते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोशब्दो वाहीकशब्देनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधितमुख्यार्थः सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणाः, तत्सदृशवाहीक-गत-जाड्यमान्द्यादिगुणलक्षणाद्वारेण गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्य-मान्द्यादिगुणोपेते वाहीक उपचरितः। तेनेयमुपचारमिश्रा लक्षणा। एवं शुद्धोपचारमिश्रत्वभेदेन लक्षणायां द्वैविध्यमुक्तम्।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 11

2 द्विविधः उपचारः, शुद्धो गौणश्च।
—वही, पृ. 16

3 आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः ॥ 4 ॥
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 15

4 आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
—साहित्यदर्पण, पृ. 97

निष्कर्ष

शब्द के मुख्य और गौण-अर्थ के आधार पर मुख्य-वृत्ति और गौणी-वृत्ति के रूप में विचार किया गया है। सर्वतोभावेन अर्थ के मुखवत् सद्यः प्रतीति के कारण मुख्या तथा तद्विपरीतता में, गौणी की जघनवत् देर में प्रतीति के कारण जघन्या-वृत्ति के रूप में भी आचार्यों ने कल्पना की थी। जघन्या-शब्द के स्थान पर आगे चलकर उपचार शब्द का प्रयोग होने लगा। विशेषकर दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग पुष्कलरूपेण हुआ। उस समय तक गुण-शब्द का स्थान उपचार-शब्द ले चुका था। सम्भवतः प्रारम्भ में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना समानार्थक ही रहे होंगे।

इस उपचार के कारण ही लक्षणा अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं के माध्यम से विस्तार को प्राप्त हुई। उपचार-शब्द का अर्थ गौण-प्रयोग है। जो शब्द जिस अर्थ में संकेतित है, उसको छोड़कर उससे सम्बद्ध-अर्थ को बोधन करना 'उपचार' कहलाता है।

विभिन्न आचार्यों ने समय-समय पर अपने-अपने ढङ्ग से इस उपचार की व्याख्या की है। **मुकुलभट्ट** के अनुसार जहां एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आरोपित की जाती है, वहां उपचारमिश्रा-लक्षणा होती है। **मुकुलभट्ट** प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने उपचार के आधार पर लक्षणा का चतुर्धा विभाजन स्वीकार किया। उन्होंने शुद्ध एवं गौण-भेद से उपचार को द्विधा विभाजित कर दोनों उपचारों में प्रत्येक के आरोप और अध्यवसान के आधार पर चार भेद किये। **मम्मट**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने पूर्वोक्त सरणि का अनुगमन करते हुए उपचार को गौण प्रयोग के नाम से अभिहित किया। इसी के कारण लक्षणा को इन्होंने भी शुद्धा और गौणी (उपचारमिश्रा) दो धाराओं में विभाजित कर पुनः आरोप और अध्यवसान के कारण सारोपा और साध्यवसाना भेद से लक्षणा का चातुर्विध्य स्वीकार किया।

प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी-सारोपा-लक्षणा

'आरोपेण सह वर्तमाना सारोपा' जहां विषयी द्वारा विषय आरोपित किया जाता है, वहां सारोपा लक्षणा होती है, अर्थात् जहां लक्ष्यार्थ तथा मुख्यार्थ (विषय तथा विषयी) दोनों का सामानाधिकरण्य करते हुए एक साथ निर्देश हो वहां सारोपा-लक्षणा होती है। आरोप-स्थल में दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में से प्राकरणिक-वस्तु को अप्राकरणिक-वस्तु का रूप दिया जाता है

तथा दोनों को पृथक्-पृथक् शब्द से कहा जाता है[1], अर्थात् उपमेय में रहने वाले असाधारण-धर्म के रहते हुए भी जहां दूसरे उपमान के साथ अभेद प्रतीति होती है, वह सारोपा-लक्षणा कहलाती है। यथा—'मुखं चन्द्रः' इस उदाहरण में मुख का असाधारणधर्म मुखत्व है और चन्द्र का असाधारण-धर्म चन्द्रत्व है। मुख-धर्मविशिष्ट मुख की चन्द्रत्व-धर्मविशिष्ट चन्द्र के साथ अभेद-प्रतीति होने पर जो लक्षणा हुआ करती है, उसे आचार्यों ने सारोपा नाम से अभिहित किया। उक्त सारोपा-लक्षणा के शुद्धा एवं गौणीत्वेन द्विधा विभाजित होने के कारण शुद्धापरक एवं गौणीपरक उभयविध लक्षण आचार्यों ने समय-समय पर किए हैं।

विभिन्न आचार्यों द्वारा समय-समय पर निर्मित सारोपा का लक्षण

आचार्य मम्मट के अनुसार जहां विषय और विषयी (आरोप्यमाणउपमान, आरोप-विषय उपमेय) दोनों को ही शब्द के द्वारा प्रकट किया जाय वहां पर सारोपा-लक्षणा होती है।[2] यथा—'आयुर्घृतम्', 'गौर्वाहीकः' में विषय एवं विषयी दोनों ही शब्दोपात्त हैं। इसमें प्रथम उदाहरण शुद्धा-सारोपा का है। द्वितीय उदाहरण गौणी-सारोपा का है। **मङ्खक** की **साहित्यमीमांसा** नामक कृति में सारोपा एवं साध्यवसाना का विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। इन्होंने प्रारम्भ में शब्द की जिन तीन वृत्तियों का

---

1 आरोपो नामानिगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः।
—काव्यप्रकाशदर्पण, पृ. 21

अन्यच्च

विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासस्यात्रारोपपदार्थत्वात्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 31

अन्यच्च

'विरुद्धधर्मरूपेण प्रतीतयोरपि सामानाधिकरण्येन सप्रयोजनो निर्देश आरोपः' (तेन सह वर्तत इति सारोपा) इति विवरणकाराः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), पृ. 48 पर समुद्धृत।

1 सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
—काव्यप्रकाश, पृ. 61

अन्यच्च

—शब्दव्यापारविचार, पृ. 11

उल्लेख किया है, वे हैं—मुख्या, लक्षणा तथा गौणी। इन तीनों वृत्तियों के लक्षणमात्र देकर भेदों के विस्तार को विरति दे दी गई है।

अमरचन्द्रयति के अनुसार आरोप्य और आरोपविषय दोनों सारोपा में स्पष्ट, अर्थात् शब्दोपात्त होते हैं।[1] **जयदेव** ने **चन्द्रालोक** में सारोपा का लक्षण नहीं किया, नाम-पुरस्सर कारिका के माध्यम से शुद्धा और गौणी दोनों ही प्रकार की सारोपाओं को सोदाहरण उपन्यस्त कर दिया है। इन्होंने गौणी-सारोपा का उदाहरण 'इन्दुर्मुखम्' यह वाक्य दिया है तथा शुद्धा सारोपा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' यह वाक्य दिया। गौणी-सारोपा के उदाहरण में इन्दुपद द्वारा इन्दु से अभिन्न (एकतापन्न) मुख की प्रतीति होती है। यहां इन्दुनिष्ठ आह्लादकत्वादि गुणों का सादृश्यसम्बन्ध है।[2] यह लक्षणा गुणों के सादृश्य से होती है, अतः गौणी है। आरोप्यमाण (इन्दु) और आरोपविषय (मुख) इन दोनों के उपादान से सारोपा-लक्षणा है। शुद्धा-सारोपा के उदाहरण में आयु को बढ़ाने वाला घृत ही है, यह लक्ष्यार्थ है। यहां कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध है। लक्ष्य और लक्षक इन दोनों पदों के उपादान के कारण सारोपा-लक्षणा है।

विद्याधर विषयी एवं विषय की शब्दोपात्त स्थिति में सारोपा-लक्षणा मानते हैं।[3] **विद्यानाथ** ने सारोपा एवं साध्यवसाना का अन्य आचार्यों की तरह लक्षण न कर आरोप और अध्यवसानमात्र को परिभाषित कर दिया है।[4] **आचार्य विश्वनाथ** ने **साहित्यदर्पण** एवं **काव्यप्रकाशदर्पण** में विषयी के साथ तिरोभाव को अप्राप्त-विषय का उसके ही साथ अभेद प्रतीति

---

1 आरोप्यारोपविषयौ सारोपायां स्फुटावुभौ ॥ 2. 4. 182
आरोप्यो गवादिः, आरोपविषयो वाहीकादिः, सारोपा सादृश्यहेतुका।
—काव्यकल्पलतावृत्तिः, पृ. 45

2 गौणं सारोपमुद्दिष्टमिन्दुर्मुखमितीदृशम् ॥ 9. 11
शुद्धं सारोपमुद्दिष्टमायुर्घृतमितीदृशम्। (9. 12)
—चन्द्रालोक, पृ. 284-285

3 आरोप्यमाणारोपविषयौ यदानपह्नुतस्वरूपौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते तदा सारोपा।
—एकावली-तरलाव्याख्या, पृ. 68

4 विषयविषयिणोरभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिरारोपः।
—प्रतापरुद्रीय, पृ. 51

कराने वाली लक्षणा को सारोपा माना है तथा इसी सारोपा को रूपकालङ्कार का बीज भी माना है।[1]

शारदातनय ने इसी मान्यता को शब्दान्तर से व्यक्त करते हुए कहा है कि जहां आरोप्यमाण और आरोप-विषय समान-अधिकरण द्वारा निर्दिष्ट होते हैं, वहां सारोपा का विषय होता है।[2] **नरेन्द्रप्रभसूरि** के अनुसार आरोपविषय तथा आरोप्य इन दोनों का भेद, अर्थात् सामानाधिकरण्य से अलग-अलग प्रयोग जो धारण करता है, उसे सारोपा कहते हैं। यथा—'गौर्वाहीक:' आदि।[3] **अजितसेन** ने वाक्य में शब्दशः प्रोक्त उपमान और उपमेय की अभेद-निश्चिति को आरोप कहा है। उपमेय के निगरण करने के माध्यम से अभेद की प्रतिपत्ति अध्यवसाय कहलाती है।[4] **श्रीवत्सलाञ्छन-**

---

1 विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्। (2. 8)
सारोपा स्यात् ····। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्।
—साहित्यदर्पण, पृ. 97

अन्यच्च

विषयीत्यस्यार्थ: आरोप्यमाणो गवादि:। विषय इत्यस्यार्थ आरोपविषयो वाहीकादि:। उक्तावित्यस्यार्थोऽनपह्नुतभेदौ शब्दाविति यावत्। एतदेव विशदयति सामानाधिकरण्येनेत्यादि।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 21

2 आरोप्यारोपविषयौ सिद्धभेदौ परस्परम्।
सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते यदि क्वचित्॥ 6. 202
सारोपान्या································ ।
—भावप्रकाशन, पृ. 164

3 सारोपा लक्षणाऽऽरोपविषयारोप्यभेदभृत्। (2. 24)
आरोपविषयो वाहीकादिरारोप्यं च मुख्यवृत्त्या गोत्वादिसामान्यम्। तच्चाश्रयाविनाभूतत्वादाश्रयं गोपिण्डादिकमाक्षिपतीति गुणवृत्त्या स एवारोप्यस्तयोर्भेदं सामानाधिकरण्येन पृथक्-पृथक् प्रयोगं या बिभर्ति सा सारोपेत्युच्यते। यथा—'गौर्वाहीक:', 'आयुर्घृतम्'।
—अलङ्कारमहोदधि, पृ. 34

4 सादृश्यहेतुका द्विधा—सारोपा, साध्यवसाना चेति। एवं लक्षणा चतुर्धा····
विषयविषयिणोरुक्तयोरभेदनिश्चितिरारोप: सारोपलक्षणा।
—अलङ्कारचिन्तामणि, पृ. 267

भट्टाचार्य के अनुसार जहां दो विरुद्ध धर्मों का समान-अधिकरण के माध्यम से निर्देश हो, वहां सारोपा होती है।[1]

धर्मसूरि ने **मम्मट** का ही अनुकरण किया। भेद को छिपाये बिना जहां आरोप्यमाण और आरोप-विषय समानाधिकरण से शब्दोपात्त हों, वहां सारोपा-लक्षणा होती है। वह गौणी एवं शुद्धा भेद से दो प्रकार की होती है।[2]

काव्यप्रकाश के टीकाकार **परमानन्दचक्रवर्ती** ने **मम्मट** की भावना को अधिक विस्तार से अभिव्यक्त किया है।[3] विषयी—आरोप्यमाण-विषय तथा आरोपाधिकरण, अर्थात् आरोप का आधार-विषय, उक्त—स्वपद-वाच्य होने के साथ ही दोनों में विद्यमान भेद को छिपाये बिना, वैधर्म्ययुक्त ही समान-विभक्तिक पदों के साथ ही उपस्थित किये जाते हैं, वहां सारोपा होती है।

काव्यप्रकाश के अन्य टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** ने पूर्वाचार्यों का ही अनुगमन किया है।[4] **भावदेव** ने सारोपा का नाम-पुरस्सर उदाहरण ही उपन्यस्त किया है। लगता है कि **जयदेव**-कृत **चन्द्रालोक** की अनुकृति पर ही **भावदेव** ने भी **अलङ्कारसार** की रचना की तथा उसकी अनुकृति पर ही छन्दोबद्ध-कारिका के रूप में सारोपा का लक्षण उपन्यस्त किया है। एक कारिका में लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर सारोपा के लक्षण एवं उदाहरण

---

1 सारोपान्या तु यत्रोक्तावनपह्नुतभेदकौ।
स्यातां तुल्याधिकरणावारोप्यारोपगोचरौ॥
—काव्यपरीक्षा, पृ. 3

2 सामानाधिकरण्येन भेदस्यापह्नवं विना।
विषयारोप्ययोरुक्तौ सारोपा सा द्विधा मता॥
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 251

3 विषयी आरोप्यमाणः, विषय आरोपाधिकरणम्। उक्तौ स्वपदेनोपात्तौ। अनपह्नुतभेदौ गृहीतवैधर्म्यौ। सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते समान-विभक्तिपदाभ्यामुपस्थाप्येते इत्यर्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्दचक्रवर्ती), पृ. 57

4 विषयी आरोप्यमाणो गवादिः, विषय आरोपस्य वाहीकादिश्च यत्र तथा अनपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येनोक्तौ शब्दप्रतिपाद्यौ सा लक्षणा सारोपा।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 31

विषयक एक नयी धारा को जन्म दिया है, जो वस्तुतः **चन्द्रालोक** की परम्परा में रचित ग्रन्थ है।[1]

केशवमिश्र-कृत **अलङ्कारशेखर** में तथा **रूपगोस्वामी** द्वारा विरचित **उज्ज्वलनीलमणि** नामक ग्रन्थ में सारोपा एवं साध्यवसाना विषयक चर्चा उपलब्ध नहीं होती। **कविकर्णपूर** ने **अमरचन्द्रयति** का अनुकरण करते हुए लक्षण किया है—जहां आरोप्यमाण और आरोप विषय स्फुट हों वहां सारोपा-लक्षणा होती है। यथा—'श्रीकृष्ण का गुणश्रवण अमृत है।' यहां अमृत—आरोप्यमाण उपमान और गुणश्रवण—आरोप-विषय उपमेय दोनों स्पष्ट हैं, अतः यहां सारोपा लक्षणा है।[2]

अप्पयदीक्षित ने पूर्ववर्ती आचार्यों के समान सारोपा तथा साध्यवसाना-लक्षणा का पद्यबद्ध उदाहरणमात्र प्रस्तुत किया, किन्तु वर्णित-उदाहरण में सारोपा का कारण एवं फल को वहां अवश्य वर्णित किया गया है। लक्षणा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचारक के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी, उनके द्वारा सारोपा और साध्यवसाना का लक्षण न किया जाना एक विचित्र बात है। फिर भी प्रयोजनवती सारोपा तथा साध्यवसाना को लक्षित करके लिखी गयी दोनों तुलनाएं[3] तथा आरोप और अध्यवसाय-विषयक विद्यमान गद्यात्मक पंक्तियां सारोपा तथा साध्यवसाना-लक्षणा को यत्किञ्चित् परिभाषित कर

---

1 गुणतो गुणसारोपा गौर्वाहीको यथोच्यते ॥ 2. 14
....

सम्बन्धात् शुद्धसारोपा घृतमायुरिदं यथा ॥
—अलङ्कारसार, पृ. 344

2 सारोपा सारोप्यमाण आरोपविषयोऽपि च।
यत्र व्यक्तौ.......... .... ॥ 2. 22
यथा—'अमृतं श्रीकृष्णगुणश्रवणम्' अत्रामृतमारोप्यमाणं गुणश्रवण-मारोपविषयो द्वावेव स्फुटौ।
—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 44

3 विषयस्य विषयिभेदेनानपह्नुतेन तद्रूपोपरक्तताप्रतीतिस्ताद्रूप्यप्रतिपत्तिः, विषयस्य विषयिणैवाभेदप्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः, इति सारोप-साध्यवसायलक्षणाफलयोर्भेदः। विषयविषयिबाचकयोर्द्वयोरपि निर्देशे आरोपः।
—वृत्तिवार्तिक, पृ. 21

ही देती हैं। उनके अनुसार विषय तथा विषयी-वाचक इन दोनों के निर्देश में आरोप होता है।

इन्होंने ताद्रूप्यप्रतिपत्ति को सारोप-शब्द से अभिहित किया है। विषय का विषयी के साथ विद्यमान भेद को बिना छिपाये विषयीत्वेन प्रतीत होना ताद्रूप्यप्रतिपत्ति है, ऐसी दीक्षित की मान्यता है। इनके द्वारा प्रदत्त सारोपा-गौणी-फलवती का उदाहरण निम्न प्रकार से है—नाथ ! तुम्हारे अकलङ्क मुख-चन्द्रमा को देखकर पृथ्वी (प्रजा) सदा तृप्त रहती है। इसी ईर्ष्या से सुधामय चन्द्रमा का हृदय (मध्यभाग) कलुषित सकलङ्क हो गया क्या ? प्रतीत होता है कि यहां पर किसी प्रेयसी ने प्रिय के मुख पर चन्द्रमा का आरोप किया है। आरोपविषय (मुख) और आरोप्यमाण-विषयी (चन्द्रमा) दोनों का निर्देश है।

यहां जो अभेद की प्रतीति होती है वह लक्षणा का फल है। **दीक्षित** ने इस सारोपा-लक्षणा के 'गौर्वाहीक:', 'मुखं कमलम्' उदाहरण भी दिए हैं।[1] इन्होंने शुद्धा-सारोपा का भी उदाहरण अन्य-श्लोक के माध्यम से दिया है। इस उदाहरण में भगवान् के अङ्गों में आनन्द की प्रतीति करानेवाला गुण होने के कारण 'आनन्द' पद की सारोपा-लक्षणा। यहां भगवान् के अङ्गों में आनन्द की प्रतीति करवाने में अन्यों से भिन्नता बतलाना इस लक्षणा का फल है।[2]

---

1 नाथ त्वदीयमकलङ्कमिमं मुखेन्दु-
मापीय तृप्यति सदा वसुधा यतस्ते।
तेनैव किं नवसुधारसगोचरोऽभू-
दिन्दु: कलङ्कमलिनीकृतमध्यभाग: ।।

अत्र 'इन्दु'शब्दस्य मुखे लावण्यादिसादृश्याद्गौणसारोपलक्षणा। ताद्रूप्य-प्रतीति: फलम्। एवं 'गौर्वाहीक:', 'मुखं कमलम्' इत्यादिव्यासेऽपि गौण-सारोपलक्षणा द्रष्टव्या।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 20-21

2 'आपादमाचिकुरभारमशेषमङ्ग-
मानन्दसारमरविन्ददशामसीमम्।
अन्तर्मम स्फुरतु सन्ततमन्तरात्म-
न्नम्भोजलोचन तव श्रितहस्तिशैलम् ।।'

अत्र भगवदङ्गेष्वानन्दकारित्वेन 'आनन्द'पदस्य सारोपलक्षणा।
आनन्दकरणे इतरवैलक्षण्यद्योतनं फलम्।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 22

अप्पयदीक्षित की गौणी-सारोपा तथा शुद्धा-सारोपा लक्षणा-विषयक विचारधारा का मूल्याङ्कन करते हुए **डॉ. नरेन्द्रनाथ** ने कहा है कि उपर्युक्त परिभाषा का निष्कर्ष इस रूप में भी निकाला जा सकता है कि जहां विषय-वाचक और विषयीवाचक पदों का निर्देश हो और दोनों में भेद होने पर भी सादृश्य से भिन्न किसी अन्य-सम्बन्ध से अभेद की प्रतीति हो, तथा जिसका कोई विशिष्ट-प्रयोजन हो वहां सारोपा-शुद्धा-फलवती होती है।[1] जहां विषय-वाचक (मुख आदि) विषयी-वाचक (चन्द्र आदि) दोनों पदों का निर्देश होने के साथ उसमें भेद होने पर भी गुण-सादृश्य से अभेद की प्रतीति लक्षित होती है, वहां सारोपा-गौणी-फलवती होती है।[2]

यहां पर **दीक्षित** के लक्षणा-भेदसम्बन्धी स्वतन्त्रविचार भी उद्धरणीय हैं। **दीक्षित** के अनुसार शुद्धा-जहल्लक्षणा और शुद्धा-साध्यवसाना में वास्तविक अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों में लाक्षणिक पद पदार्थ के प्रतिपादन हेतु स्वार्थ का समर्पण कर देते हैं। यथा—'गङ्गायां घोषः' इस शुद्धा-जहल्लक्षणा में 'गंगा' पद 'तट' अर्थ को त्याग देता है। इस प्रकार शुद्धा-जहल्लक्षणा और शुद्धा-साध्यवसाना ये दोनों परार्थ को लक्षित करने के लिए स्वार्थ को समर्पित करते हैं, अतः इन दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता है।[3]

प्रभाकरभट्ट-कृत **रसप्रदीप** तथा **मौनिश्रीकृष्णभट्ट**-कृत **वृत्तिदीपिका** में सारोपा तथा साध्यवसाना-विषयक-भेद तथा विवेचन का अभाव पाया जाता है, किन्तु **राजचूड़ामणिदीक्षित** ने **काव्यदर्पण** नामक कृति में छन्दोबद्ध-लक्षणपुरस्सर एक ही कारिका में सारोपा का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर **भावदेव** द्वारा प्रारम्भ की गयी नयी धारा को जो विस्तार दिया, वह वस्तुतः **अप्पयदीक्षित**-रचित **कुवलयानन्द** की परम्परा की पृष्ठपोषिका है, कहना अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि भट्ट, **भावदेव** की अपेक्षा **अप्पय-दीक्षित** के निकटवर्ती एवं समसामयिक भी हैं।[4]

पण्डितराज-जगन्नाथ ने सारोपा तथा साध्यवसाना के विभाजन से पूर्व तत्कारणीभूत आरोप एवं अध्यवसान की व्याख्या की है। विषय—मुखादि

---

1 शर्मा, नरेन्द्रनाथ, अप्पयदीक्षित, पृ. 37

2 वही, पृ. 38

3 वही, पृ. 39

4 सारोपा तत्र यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा। (2. 30)
मुखेन्दुर्नयनानन्दस्तन्व्या विजयतेतराम्। (2. 32)
—**काव्यदर्पण**, पृ. 60

और विषयी—चन्द्रादि इन दोनों का अलग-अलग निर्देश करके किया जाने वाला अभेद, आरोप कहलाता है और आरोपवाली लक्षणा, सारोपा-लक्षणा कहलाती है।[1] **महेश्वरन्यायालङ्कार भट्टाचार्य** ने **काव्यप्रकाश** की टीका में सारोपा के विषय में विस्तारपूर्वक कहा है। उनके अनुसार वाक्य में जब शक्यवाचक और लक्ष्यवाचक-शब्द समान-विभक्तिक-रूप में निर्दिष्ट होते हैं, तब वहां समान-विभक्ति में निर्देश होने के कारण प्रथम लक्ष्यार्थ में शक्यार्थ का अभेद आरोप होता है। यथा—'वाहीक गौ है', 'आयु घृत है'।

यहां हल को वहन करने वाले वाहीक में 'गौ' का तथा 'घृत' में 'आयु' का पहले अभेदारोप होता है, तत्पश्चात् ही बाधा के उपस्थित हो जाने के कारण गोसदृश तथा आयुजनक में लक्षणा होती है। तादृश आरोप्यमाण—विषयी और आरोप-विषय जिस लक्षणा में उक्त होते हुए भी समानाधिकरण विभक्ति से निर्दिष्ट हों वह प्रथम अभेदारोपवती सारोपा लक्षणा है।[2]

आशाधरभट्ट ने **कोविदानन्द** नामक कृति में सारोपा के लक्षण में कोई नवीन चर्चा नहीं की। प्राचीन-लक्षण को ही निम्न-प्रकार से दुहरा दिया। उनके अनुसार जहां विषय और विषयी दोनों का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् लक्षक-शब्द के साथ ही वाचक-शब्द का प्रयोग होता है, वहां सारोपा-लक्षणा होती है[3], किन्तु भट्ट के द्वारा बाद में लिखित **त्रिवेणिका** नामक

---

1 विषयविषयिणोः पृथक्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः। तत्राद्येन सहिता सारोपा।
—रसगङ्गाधर, पृ. 155

2 यदि शक्यवाचको लक्ष्यवाचकश्च शब्दः समानविभक्तिकतया निर्दिश्यते, तत्र समानविभक्तिदर्शनात् प्रथमं लक्ष्यार्थे शक्यार्थाभेदारोपो भवति, यथा—'गौर्वाहीकः', 'आयुर्घृतमिति'। अत्र हि हलवाहकात्मनि वाहीके गोः, घृते चायुषः प्रथममभेदारोपो भवति पश्चादेव बाधाद् गोसदृशे आयुर्जनके च लक्षणा, तादृशे प्राथमिकारोपे च शक्यार्थ आरोप्यमाणो विषयी लक्ष्यार्थश्चारोपाधिकरणं विषयः, तादृशः विषयी विषयश्च यत्र लक्षणायाम् उक्तौ समानाधिकरणविभक्त्या निर्दिष्टौ, सा लक्षणा सारोपा प्राथमिकाभेदारोपवतीत्यर्थः।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य), पृ. 57-58

3 सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः।
—कोविदानन्द, पृ. 18

अन्य कृति में सारोपा तथा साध्यवसाना का लक्षण वर्णित नहीं किया गया है, किन्तु वहां एक नयी बात यह कही गयी है कि सारोपा में गुणमात्र में लक्षणा होती है। गुणी की प्रतीति लक्षणा द्वारा न होकर शक्ति के द्वारा होती है।

साध्यवसाना-लक्षणा में तो गुण और गुणी दोनों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, क्योंकि यहां विषयी द्वारा विषय का निगरण किया जाता है। सारोपा आदि पदों में आरोप पद का अर्थ है—'जो वस्तु उससे भिन्न है, उसे (भिन्न वस्तु को) स्वेच्छापूर्वक वैसा समझना।' इसी प्रकार स्वेच्छा से विषयी द्वारा विषय का निगरण करना अध्यवसान कहा जाता है।[1]

विश्वेश्वर ने **अलङ्कारकौस्तुभ** में सारोपा की चर्चा रूपकालङ्कार के प्रकरण में की है। प्रकरणतः प्राप्त-विषय को देखते हुए उस चर्चा का यहां भी उल्लेख करना असमीचीन न होगा। उनके अनुसार—भेद की प्रतीति होने पर भी सादृश्य के कारण जहां भेद को बिना छिपाये उपमान के साथ ही उपमेय का भी अभेद-वर्णित किया जाता है, वहां सारोपा-लक्षणा से प्रतीत होने वाला ही रूपकालङ्कार है। दूसरी परिभाषा के अनुसार—जब उपमानवाचक शब्दों की गौणवृत्ति के व्यपाश्रय से उपमेय में वृत्ति होवे तब भी रूपकालङ्कार होता है। इस प्रकार सारोपा-लक्षणा से लभ्य-सारूप्य ही रूपक है।[2]

विश्वेश्वरभट्ट ने अपनी दूसरी कृति **रसचन्द्रिका** में सारोपा के प्रसङ्ग में **मम्मट**-प्रोक्त शब्दावली को ही अपनाया है। सारोपा तथा साध्यवसाना की

---

1 सारोपायां गुणमात्रे लक्षणा। गुणी तु शक्त्या गृह्यते। साध्यवसानायां तु द्वयोरपि, तत्र विषयस्य निगरणात्। स्वेच्छयाऽतस्मिंस्तद्बुद्धिरारोपः। स्वेच्छया विषयिणा विषयग्रहणमध्यवसानम्।
—त्रिवेणिका, पृ. 32

2 सत्यामेव भेदप्रतीतावतिसादृश्यवशेन यत्र भेदमपह्नुत्योपमानेन सममुपमेयस्याभेदः सारोपलक्षणया प्रतीयते तद्रूपकमित्यर्थः .... । अन्ये तु — 'उपमैव तिरोभूता भेदा रूपकमिष्यते।' इति प्राचीनोक्तिविरुद्धमेतत्। तस्मात्........
यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
'उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं भवेत्॥'
इत्युक्तदिशा सारोपलक्षणालभ्यं सारूप्यमेव रूपकमित्याहुः।
—अलङ्कारकौस्तुभ, (विश्वेश्वर), पृ. 203-205

जगह आरोप और अध्यवसान का लक्षण किया है। आरोप में ताद्रूप्य की प्रतीति होती है और अध्यवसान में मुखत्वादि वैधर्म्य की अनुपस्थिति के कारण सर्वथा अभेद की प्रतीति होती है।[1]

विश्वनाथदेव के अनुसार—'उपमान और उपमेय दोनों जिस वाक्य में समान-रूप से स्थित हों, अर्थात् दोनों ही शब्द-प्रतिपादित हों, वह लक्षणा-विषयक युक्तियों को जानने वाले विद्वानों ने शुद्धा-सारोपा और गौणी-सारोपा के रूप में बताई है।[2]' **विद्याभूषण** ने **साहित्यकौमुदी** में, जिसे काव्य-प्रकाश की टीका के रूप में भी समुच्चरित किया है, उसमें पूर्वाचार्यों के अनुसार ही सारोपा का लक्षण किया है, किन्तु **विद्याभूषण** की भाषा अतीव सरल है।[3]

गोकुलनाथ-उपाध्याय ने **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक कृति में सारोपा का लक्षण पूर्वाचार्यों के अनुसार ही, नैयायिक पदावली में किया है।[4] **नरसिंहकवि** ने **नञ्जराजयशोभूषण** में तथा **अच्युतराय** ने **साहित्यसार** में सारोपा का लक्षण न देकर सारोपा के गौणी एवं शुद्धा इन दोनों भेदों के उदाहरणमात्र दिए हैं।[5]

---

1 विषयिविषययोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः। अप्रयुक्ते विषये विषय्य-भेदस्त्वध्यवसानमिति विशेषः। आरोपे ताद्रूप्यं प्रतीयते अध्यवसाने तु मुखत्वादिवैधर्म्यानुपस्थित्या सर्वथैवाभेद इति विवेकः।
—रसचन्द्रिका, पृ. 42-43

2 आरोप्यारोपविषयौ यत्र वाक्ये स्थितौ समौ।
शुद्धा गौणीति साख्याता सारोपायुक्तिवेदिभिः ॥ 2. 17
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 44

3 यत्र आरोप्यमाण आरोपविषयश्च स्फुटः सा लक्षणा सारोपा नाम। यथा—'गौर्वाहीकः' इत्यादौ। इह गौरारोप्यमाणः। वाहीक आरोप-विषयः। तौ द्वौ व्यक्तौ निर्दिष्टौ।
—साहित्यकौमुदी, पृ. 13

4 लक्षकपदप्रवृत्तिनिमित्तविरोधिधर्मावच्छिन्नबोधकपदसमानाधिकरणपदस्य लक्षणा सारोपा।
—भक्ति(लक्षणा)विवेक, पृ. 16

5 गौणी प्रयोजनवती सारोपा चन्द्रआननम्।
गौर्वाहीक इति ज्ञेया रूपकालङ्कृतौ हिता ॥ 2. 71
....

रामकर्ण-आसोपा सारोपा एवं साध्यवसाना इन दोनों ही भेदों को नहीं मानते हैं, इन्हें लक्षणा के जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था दो ही भेद मान्य हैं।[1] इसी प्रकार **विजयवर्णी**-विरचित **शृङ्गारार्णवचन्द्रिका** में सारोपा तथा साध्यवसाना के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।

पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार सारोपा, गौणी एवं शुद्धा दोनों ही भेदों में हो सकती है। गौणी-सारोपा के लौकिक उदाहरण 'गौर्वाहीक:', 'सिंहो माणवक' तथा वैदिक उदाहरण 'आदित्यो यूप:' उपन्यस्त किए जा सकते हैं। शुद्धा सारोपा के उदाहरण के रूप में 'चन्द्रो मुखम्' या 'मुखं चन्द्र:', 'आयुर्घृतम्' आदि उदाहरण दिये जा सकते हैं। साररूपेण यह कहा जा सकता है कि सारोपा-लक्षणा में जिन तीन बातों को आवश्यक माना गया है, वे हैं—

(क) लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ, अर्थात् विषय एवं विषयी दोनों का समानाधिकरण-पुरस्सर एक साथ निर्दिष्ट होना आवश्यक है।

(ख) विषयी द्वारा विषय आरोपित होना चाहिए।

(ग) दोनों एक ही कारक या विभक्ति में लिखे जाने चाहिए। यथा— 'गौर्वाहीक:' आदि।

उक्त सारोपा-लक्षणा का एक विशेष फल हुआ करता है। **काव्यप्रकाश** के प्रसिद्ध टीकाकार **गोपालभट्ट** ने **साहित्यचूड़ामणि** नामक स्वकीय टीका के माध्यम से उक्त सारोपा-विषयक फल को व्यक्त किया है। उनके अनुसार गौ और वाहीक में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी, शब्दशक्ति-समर्पित-तादात्म्य की प्रतीति होना ही सारोपा का फल है।[2]

इसी प्रकार अधिकतर आचार्यों ने सारोपा-लक्षणा में तादात्म्य या ताद्रूप्य की प्रतीति को फल कहा है और अभेद-प्रतिपत्ति को साध्यवसाना का फल स्वीकार किया है।[3]

प्रयोजनवती शुद्धा सारोपायुर्घृतं त्विति ॥ 2. 74

—साहित्यसार, पृ. 44-45

1 सा च द्विधा जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थेति भेदत:।
गणनारसिकैरन्ये भेदा उक्ता: प्रमादत:॥ 2. 4

—यशवन्तयशोभूषण, पृ. 68

2 गोवाहीकयोर्वैलक्षण्येऽपि शब्दशक्तिसमर्पिततादात्म्यप्रतिपत्ति: फलं सारोपाया:।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 61

3 साध्यवसानायास्तु वस्तुस्वभावाधीनभेदप्रथाव्यतिरेकेण प्रतिपत्तिदशातार-

निष्कर्ष

सारोपा-लक्षणा के शुद्धा और गौणीत्वेन द्विधा विभाजित होने के कारण उभयविधलक्षण आचार्यों ने किये हैं। सर्वप्रथम **मम्मट**-कृत लक्षण के अनुसार —जहां विषय और विषयी(आरोप्यमाण उपमान आरोप विषय उपमेय) दोनों को ही शब्द द्वारा प्रकट किया जाये, वहां सारोपा लक्षणा होती है। **अमरचन्द्रयति** ने इसे रूपकालङ्कार का बीज माना है। **जयदेव** ने इसका लक्षण नहीं किया क्रमशः गौणी और शुद्धा के उदाहरण 'इन्दुर्मुखम्', 'आयुर्घृतम्' वाक्य दिए हैं।

नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार विषय तथा आरोप्यमाण इन दोनों का भेद, अर्थात् सामानाधिकरण से अलग-अलग प्रयोग, जो धारण करता है उसे सारोपा कहते हैं। **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **परमानन्दचक्रवर्ती** ने **मम्मट** की सारोपा-विषयक भावना को अपनी टीका में अधिक पल्लवित किया। विषयी—आरोप्यमाण-विषय तथा आरोपाधिकरण, अर्थात् आरोप का आधारविषय, उक्त—अर्थात् स्वपदवाच्य होने के साथ ही, दोनों में विद्यमान भेद को छिपाये बिना, वैधर्म्य-युक्त ही समान-विभक्ति एवं पदों के साथ ही उपस्थित किये जाते हैं, वहां सारोपा होती है।

भावदेव ने **अलङ्कारसार** की रचना की तथा **चन्द्रालोक** की अनुकृति पर ही छन्दोबद्ध-कारिका के रूप में ही सारोपा का लक्षण उपन्यस्त किया है। एक कारिका में लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर सारोपा के लक्षण एवं उदाहरण-विषयक एक नयी धारा को जन्म दिया है, जो वस्तुतः **चन्द्रालोक** की परम्परा में रचित ग्रन्थ है। **केशवमिश्र**-कृत **अलंकारशेखर** और **रूपगोस्वामी**-कृत **उज्ज्वलनीलमणि** में सारोपा तथा साध्यवसाना-विषयक चर्चा नहीं पाई जाती है।

अप्पयदीक्षित ने सारोपा और साध्यवसाना का उदाहरण प्रस्तुत करते

तम्यव्यपोहादेकतरस्योपलम्भः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 61

अन्यच्च

विषयस्य विषयिभेदेनानपह्नुतेन तद्रूपोपरक्तताप्रतीतिस्ताद्रूप्यप्रतिपत्तिः, विषयस्य विषयिणैवाभेद प्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः, इति सारोपसाध्यवसाय(साध्यवसान)लक्षणाफलयोर्भेदः।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 21

हुए सारोपा का कारण एवं फल को भी वहां वर्णित किया। लक्षणा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचारक के रूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी उनके द्वारा सारोपा और साध्यवसाना का लक्षण न किया जाना एक विचित्र बात है। फिर भी प्रयोजनवती सारोपा तथा साध्यवसाना को लक्षित करके लिखी गयी दोनों तुलनाएं तथा आरोप और अध्यवसाय-विषयक विद्यमान गद्यात्मक पंक्तियां, सारोपा तथा साध्यवसाना-लक्षणा को यत्किञ्चित् परिभाषित कर देती हैं। इन्होंने ताद्रूप्यप्रतिपत्ति को सारोप शब्द से अभिहित किया है। ताद्रूप्यप्रतिपत्ति भी—विषय का विषयी के साथ विद्यमान भेद को बिना छिपाये विषयीत्वेन प्रतीत होना है, ऐसी दीक्षित की मान्यता है।

महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य ने काव्यप्रकाश की टीका में सारोपा के विषय में विस्तारपूर्वक कहा है। उनके अनुसार—जब वाक्य में शक्यवाचक और लक्ष्यवाचक शब्द समान-विभक्ति रूप में निर्दिष्ट होते हैं, तो वहां समान-विभक्ति के निर्देश होने के कारण, प्रथमत: लक्ष्यार्थ में शक्यार्थ का अभेदारोप होता है। यथा—'वाहीक गौ है', 'आयु घृत है'। यहां हल को वहन करने वाले वाहीक में गौ का तथा घृत में आयु का पहले अभेदारोप होता है। तत्पश्चात् ही बाधा के उपस्थित हो जाने के कारण गोसदृश तथा आयुजनक में लक्षणा होती है। सदृश-आरोप्यमाण-विषयी और आरोप-विषय जिस लक्षणा में उक्त होते हुए समानाधिकरण-विभक्ति से निर्दिष्ट हों वह प्रथम अभेदा-रोपवती-सारोपा-लक्षणा है।

आशाधरभट्ट ने सारोपा-लक्षणा के लक्षण में कोई नवीनता प्रदर्शित नहीं की, किन्तु उन्होंने एक नयी विचारधारा को प्रस्तुत किया। तदनुसार सारोपा में गुणमात्र में लक्षणा होती है। गुणी की प्रतीति लक्षणा द्वारा न होकर शक्ति के द्वारा होती है। साध्यवसाना-लक्षणा में तो गुण और गुणी दोनों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, क्योंकि यहां विषयी द्वारा विषय का निगरण किया जाता है। सारोपा आदि पदों में आरोप पद का अर्थ है—'जो वस्तु उससे भिन्न है, उसे (वस्तु को) स्वेच्छापूर्वक वैसा समझना।' इसी प्रकार स्वेच्छा से विषयी द्वारा विषय का निगरण करना अध्यवसान कहा जाता है।

विश्वेश्वर ने रूपकालङ्कार के प्रकरण में **अलंकारकौस्तुभ** नामक ग्रन्थ में जो विद्वत्तापूर्ण विचारधारा प्रस्तुत की है, उसे प्रसङ्गोपात्त होने के कारण यहां वर्णित करना समीचीन होगा। उनके अनुसार—भेद की प्रतीति होने पर भी सादृश्य के कारण जहां भेद को छिपाये बिना उपमान के साथ ही उपमेय का भी अभेद वर्णित किया जाता है, वहां सारोपा-लक्षणा से जो प्रतीत होता

है, वह रूपकालङ्कार है। दूसरी परिभाषा के अनुसार—जब उपमान वाचक शब्दों की गौणवृत्ति के व्यपाश्रय से उपमेय में वृत्ति होवे, तब भी रूपकालङ्कार होता है। इस प्रकार सारोपा-लक्षणा से लभ्य, सारूप्य ही रूपक है।

विश्वनाथदेव की मान्यता है कि जहां उपमान और उपमेय दोनों समान रूप से स्थित हों, अर्थात् दोनों ही शब्दप्रतिपादित हों, ऐसी लक्षणा को लक्षणायुक्तिविद्-आचार्यों द्वारा, शुद्धा-सारोपा और गौणी-सारोपा के रूप में स्वीकार किया गया है।

कुछ आचार्यों ने सारोपा तथा साध्यवसाना का लक्षण न कर आरोप और अध्यवसान को ही परिभाषित कर दिया है। इस प्रकार के आचार्यों में **विद्यानाथ, अजितसेन, पण्डितराज-जगन्नाथ** आदि लिए जा सकते हैं। **अजितसेन** के अनुसार—शब्दशः प्रोक्त उपमान और उपमेय की निश्चिति आरोप है।

कुछ आचार्यों ने उक्त लक्षणा के लक्षण में होने वाली पुनरावृत्ति के भय से सारोपा एवं साध्यवसाना को परिभाषित नहीं किया है, किन्तु स्वरचित-ग्रन्थों में उक्त-लक्षणा के उदाहरणों को देना नहीं भूले। इस प्रकार के आचार्यों में **नरसिंह** तथा **अच्युतराय**-प्रभृति आचार्यों को लिया जा सकता है।

प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी-साध्यवसाना-लक्षणा

प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी-सारोपा के विवेचन के अनन्तर अब प्रयोजनवती-शुद्धा तथा गौणी-साध्यवसाना को यहां विवेचित किया जा रहा है।

यद्यपि **दण्डी, भामह** के समान लक्षणा के विषय में मौन दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, किन्तु उनके द्वारा वर्णित समाधि नामक गुण में लक्षणा के जिस भेद का विवेचन हुआ है, उसे साध्यवसाना-लक्षणा पर आधृत काव्य-गुण कहा जा सकता है। साध्यवसाना-लक्षणा में विषयी, विषय का निगरण कर लेता है।[1] समाधिगुण की परिभाषा में भी **दण्डी** ने कहा है कि जहां लोक-व्यवहार की सीमा का अनुपालन करने वाला कवि एक वस्तु के गुण, क्रिया आदि धर्म का दूसरी वस्तु पर आधान करता है, वहां समाधिगुण माना जाता है।[2] **प्रेमचन्द्रतर्कवागीश-भट्टाचार्य** ने **काव्यादर्श** की **मालिन्यप्रोञ्छनी**

---

1 विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ 2. 11
—काव्यप्रकाश, पृ. 61

2 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 84-85

नामक टीका में **दण्डी** के समाधिगुण की व्याख्या करते हुए सम्यक् आधान को साध्यवसाना लक्षणा से अभिन्न माना है।[1]

साध्यवसाना-लक्षणा में विषय का उपादान नहीं होता है। विषयी के धर्म के कथन से ही विषय के धर्म का बोध हो जाता है, अतः समाधि गुण में भी प्रस्तुत के धर्म का कथन न होकर केवल अप्रस्तुत के धर्म का कथन होना चाहिए। इस दृष्टि से समाधि के लक्षण को स्पष्ट करने के क्रम में टीकाकार **प्रेमचन्द्रतर्कवागीश** ने लिखा है कि जहां प्रस्तुत के धर्म का निगरण कर उसके सदृश अप्रस्तुत के धर्म का तादात्म्यत्वेन अध्यवसान हो वहां समाधि-गुण होता है।[2] आपाततः **दण्डी** का प्रस्तुत-गुण, अतिशयोक्ति से अभिन्न प्रतीत होता है। अतिशयोक्ति-अलङ्कार भी साध्यवसाना-लक्षणा पर आधृत रहता है। इसमें प्रस्तुत का निगरण हुआ करता है और अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत का उसी रूप में अध्यवसान।

आगे चलकर आरोप और अध्यवसान को **मुकुलभट्ट** ने अपनी **अभिधा-वृत्तिमातृका** में भी स्थान दिया तथा इन दोनों के आधार पर शुद्ध एवं गौण-उपचार को द्विधा विभाजित कर उपचार को चतुर्धा विभाजित किया। यह समग्र विषय सारोपा के प्रकरण में कहा जा चुका है।[3]

साध्यवसाना-लक्षणा का लक्षण

मम्मटाचार्य प्रथम आलङ्कारिक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम साध्यवसाना को लक्षणपुरस्सर वर्णित किया, जहां विषयी, अर्थात् आरोप्यमाण-उपमान के द्वारा आरोप विषय—उपमेय को निगीर्ण कर लिया जाता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।[4] इस साध्यवसाना-लक्षणा में उपमान द्वारा ही

---

1 यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यवसानगौण्या लक्षणया उपचर्यते स वाक्यार्थः समाधिः समाध्याख्यगुणवान् स्मृतः।
—काव्यादर्श, (संपा. प्रेमचन्द्रतर्कवागीश), पृ. 84

2 इथ्यं च प्रस्तुतस्य धर्म निगीर्य तत्र सदृशतया अप्रस्तुतधर्मस्य तादात्म्या-ध्यवसानं समाधिरितिलक्षणम्।
—वही, पृ. 84

3 अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 15

4 विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका॥ 2. 11
—काव्यप्रकाश, पृ. 61
अन्यच्च
—शब्दव्यापारविचार, पृ. 11

उपमेय का प्रतिपादन होता है। इस कारण इसमें उपमेय तथा साधारण धर्म के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं होती है। इसके बिना ही उपमेय और उपमान दोनों में अभेद प्रतीति की जाती है। अन्तर्हित स्वरूपवाले उपमेय की शब्दोपात्त-उपमान के द्वारा तादात्म्य की प्रतीति को अध्यवसाय कहा जाता है। उसके कारण होने वाली लक्षणा, साध्यवसाना नाम से अभिहित होती है।[1]

अमरचन्द्रयति ने इस प्रकरण में एक नयी बात यह कही है कि साध्यवसाना-लक्षणा में अतिशयोक्ति के बीज निहित होते हैं,[2] वह भी केवल सादृश्यसम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में ही होते हैं। कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में तो सादृश्य के न होने के कारण रूपकादि की विषयता भी नहीं रहती है। यथा—आयु घृत है, त्याग यश है, चोर भय है, आदि उदाहरण यति ने दिए हैं।[3]

---

1 अप्रकृतस्वरूपेणाच्छादितस्वरूपे अप्रकृतवैधर्म्योपस्थितस्य प्रकृतस्याप्रकृततादात्म्यप्रतीतिरध्यवसानम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्दचक्रवर्ती), पृ. 57

अन्यच्च

अपृथङ् निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्। ············द्वितीयेन तु [अध्यवसानेन सहिता] साध्यवसाना।

—रसगङ्गाधर, पृ. 155

अन्यच्च

विषयनिगरणेन विषयिणोऽभेदप्रतिपत्तिरध्यवसानम् तेन सह वर्तत इति साध्यवसानेत्यर्थः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन), पृ. 48

2 यत्राऽऽरोप्येण गवादिना निगीर्णतया आरोपविषयस्य वाहीकादेः प्रतीतिः सा साध्यवसाना, इयमतिशयोक्तेर्बीजम्। यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 45

3 कार्यकारणभावादिलक्षणायां तु न रूपकादिविषयता, सादृश्याभावात्। यथा—

आयुर्घृतं यशस्त्यागो भयं चौरः सुखं प्रिया।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयः सत्तीर्थसेवनम्॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ. 45

नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार—जहां आरोप्य गोत्वादि सामान्याश्रय के द्वारा, अन्य—आरोप-विषय वाहीकादि, निगीर्ण कर लिया जाता है, वहां उपचार-विचित्रता होती है, उसी को साध्यवसाना कहते हैं।[1] **विद्याधर**—विषयी के द्वारा विषय के निगीर्ण होने को साध्यवसाना कहते हैं। इसके गौणी एवं शुद्धा दो भेद करते हैं।[2] **विश्वनाथ** ने **मम्मट** का ही अनुकरण करते हुए साध्यवसाना का लक्षण किया। इनके अनुसार—तिरोभाव को प्राप्त विषय का अन्य के साथ अभेद-प्रतीति कराने वाली लक्षणा को साध्यवसाना, अर्थात् साध्यवसानिका-लक्षणा कहते हैं।[3]

शारदातनय की एकावलीकार के समान ही मान्यता है।[4] **श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य** ने **काव्यपरीक्षा** नामक कृति की **स्वोपज्ञटीका** में साध्यवसाना को विस्तार से वर्णित किया है। उनके अनुसार आरोप्यमाण विषयी, अर्थात्

---

1 आरोप्यापह्नुतेऽन्यस्मिन् सैव साध्यवसानिका ॥ 24 ॥
…………आरोप्येण गोत्वादिसामान्याश्रयेणापह्नुते निगीर्णेऽन्यस्मिन्ना-रोपविषये वाहीकादौ सति सैवोपचारविचित्रता, साध्यवसानेति कथ्यते। यथा—'गौरेवायम्', 'आयुरेवेदम्'।
—अलङ्कारमहोदधि, पृ. 34

2 विषयिनिगीर्णे विषये साध्यवसाना द्विधा ख्याता।
द्विधा गौणी शुद्धा चेति। तत्राद्या यथा—'अयं पारिजात' इत्यत्र वितरणाचरणत्वादयः पारिजातस्य गुणा वीरनरसिंहे लक्षमाणा अपि प्रवृत्ति-निमित्ततां भजन्ते। प्रयोजनञ्च सर्वथैवाभिन्नत्वप्रतीतिः। अन्त्या यथा—'अमन्दानन्द' इत्यत्रानन्दहेतुत्वादानन्दः।
—एकावली, पृ. 71-72

3 [विषयिणा] निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना।
—साहित्यदर्पण, पृ. 99
अन्यच्च
आरोप्यमाणेन गवादिना निगीर्णेऽध्यवसिते आरोपविषये वाहीकादौ, विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसानम्, तत्कर्त्री साध्यवसा-निका।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विश्वनाथ), पृ. 21

4 अन्तःकृते निगीर्णेऽन्यस्मिन्नारोपविषये सति।
एषा साध्यवसानात्मा लक्षणेति विभाव्यते ॥ 6. 202
—भावप्रकाशन, पृ. 165

उपमान के द्वारा जहां आरोपविषय—उपमेय को निगीर्ण कर लिए जाने पर विषय, अर्थात् उपमेय में विद्यमान असाधारण-धर्म के ग्रहण के बिना ही, विषयी के द्वारा स्वतादात्म्य शक्ति से उस उपमेय का बोध करवा दिया जाता है, वहां पर साध्यवसाना-लक्षणा होती है। विषयनिष्ठ-साधारणधर्म का ग्रहण भी 'यह गाय है' और 'गौ है' इत्याकारक कथन के द्वारा साध्यवसाना-लक्षणा उभय प्रकार की हो सकती है।[1] **गोपालभट्ट** ने आरोप्यमाण—गवादि-विषयी के द्वारा आरोप-विषय—वाहीकादि के कवलित किये जाने पर साध्यवसाना-लक्षणा मानी है।[2]

विद्याधरचक्रवर्ती ने 'आयुरेवेदम्' को ही साध्यवसाना का उदाहरण माना है, क्योंकि यहां पर आरोप-विषय आयु के द्वारा घृतादि का निगूहन कर लिया जाता है।[3] **धर्मसूरि** के अनुसार अन्य—विषयी, अर्थात् उपमान के द्वारा, विषय—उपमेय के निगरण से होने वाली अभेद की प्रतिपत्ति ही अध्यवसाय है, इस अध्यवसाय से युक्त लक्षणा, साध्यवसाना कहलाती है।[4] **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **परमानन्दचक्रवर्ती** ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए शब्दान्तर से साध्यवसाना का लक्षण किया है।[5] **गोविन्दठक्कुर** ने **काव्यप्रकाश**

---

1 विषयिणा आरोप्यमाणेन अस्मिन् आरोपविषयेऽन्तःकृते विषयनिष्ठा-साधारणधर्मग्रहं विना स्वतादात्म्येन प्रत्यायिते सा लक्षणा साध्यवसानिका स्यादित्यन्वयः। विषयनिष्ठासाधारणधर्माग्रहश्च गौरेवायमित्यत्र गौरित्यत्रापि च स्यात्। तेन एवंविधोभयरूपा साध्यवसानिका भवति इति ध्येयम्।
—काव्यपरीक्षा, पृ. 4

2 आरोप्यमाणो गवादिर्विषयी तेनारोपविषये वाहीकादौ कवलिते साध्य-वसाना नाम लक्षणा।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोपालभट्ट), पृ. 56

3 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ हि आरोपविषयिणाऽऽयुषा विषयो घृतादिर-पह्नूयते। अतः साध्यवसानेयम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विद्याधरचक्रवर्ती), पृ. 56

4 निगीर्णो विषयोऽन्येन यदि साध्यवसानिका। ····अन्येन विषयिणा। विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिरध्यवसायः। तेन सहिता साध्यवसाना।
—साहित्यरत्नाकर, पृ. 271

5 अप्रकृतस्वरूपेणाच्छादितस्वरूपे अप्रकृतवैधर्म्योपस्थितस्य प्रकृतस्याप्रकृतता-दात्म्यप्रतीतिरध्यवसानम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. परमानन्द), पृ. 57

के साध्यवसाना लक्षण-विषयक गद्य की शब्दशः टीका की है—विषयी, अर्थात् आरोप्यमाण-उपमान के द्वारा, अन्य—अर्थात् आरोप-विषय, उपमेय के द्वारा निगीर्ण कर लिये जाने पर, विषयीमात्र ही जहां निर्दिष्ट हो विषय नहीं, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।[1]

कविकर्णपूर के अनुसार वहीं सारोपा-लक्षणा, साध्यवसाना में परिणत हो जाती है जहां आरोप्यमाण-उपमान के द्वारा पूर्णरूपेण आरोप-विषय, अर्थात् उपमेय निगीर्ण कर लिया जाय। इन्हें 'गौरेवायम्' साध्यवसाना का यह उदाहरण अमान्य है,[2] क्योंकि उनके 'एके' कथन से ऐसा ही प्रतीत होता है। **अप्पयदीक्षित** ने, जैसा कि सारोपा के प्रकरण में कहा जा चुका है कि इन्होंने सारोपा एवं साध्यवसाना का अन्य-आचार्यों के समान भिन्न-रूप से लक्षण नहीं किया। फिर भी इनके द्वारा कृत अध्यवसाय की परिभाषा साध्यवसाना के लक्षण को इङ्गित कर देती है,[3] जिसका उदाहरण भगवान के अङ्गों को लक्षित कर कहा गया 'आनन्दोऽयम्' वाक्य है।

साहित्यसुधासिन्धु के कर्ता **विश्वनाथदेव** के अनुसार अत्यधिक सदृशगुणों के कारण अभेदारोप से यदि आरोप का विषय (उपमेय), आरोप्यमाण (उपमान) से आच्छादित हो जाय तो वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है। यह भी गौणी-शुद्धा भेद से दो प्रकार की होती है। उपमेय में रहने वाले विशेष-धर्म के ग्रहण किये बिना भी जहां दूसरे (उपमेय) का उपमान के साथ अभेद-ज्ञान हो जाता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।[4]

---

1 विषयिणा आरोप्यमाणेनान्यस्मिन्नारोपविषयेऽन्तःकृते निगीर्णे। भेदेनानुपस्थित इति यावत्। विषयिमात्रं यत्र निर्दिश्यते, न तु विषयोऽपि सा साध्यवसाना।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 32

2 आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति। भवेत्साध्यवसाना सा ॥ 23 ॥

सा सारोपा साध्यवसाना भवेदादिनारोप्यमाणेन चरम आरोपविषयेऽन्तर्निगीर्णे सति, यथा—'अमृतमेवेदमिति'। आरोप्यमाणेनामृतेन गुणश्रवणमारोपविषयोऽन्तर्निगीर्णः। 'गौरेवायमित्येके'।

—अलङ्कारकौस्तुभ, पृ. 44

3 विषयिपदमात्रस्य विषयलाक्षणिकतया निर्देशोऽध्यवसायः।

—वृत्तिवार्तिक, पृ. 21

4 आरोप्येण निगीर्णः स्यादारोपविषयो यदि।

आत्यन्तिकगुणाध्यासाद् ब्रूमः साध्यवसानिकाम् ॥ 2. 18

राजचूड़ामणिदीक्षित ने संक्षेप में पद्यबद्ध तथा सभेद साध्यवसाना को पूर्वाचार्यों के समान ही वर्णित किया है।[1] **पण्डितराज-जगन्नाथ** के अनुसार अध्यवसान वाली लक्षणा, अर्थात् जहां विषय का अलग निर्देश न करके उसके साथ किया जाने वाला विषयी का अभेद, अध्यवसान कहलाता है। अध्यवसान से युक्त लक्षणा साध्यवसाना कहलाती है।[2] **आशाधरभट्ट** के अनुसार अध्यवसान के साथ वर्तमान रहने वाली साध्यवसाना कहलाती है तथा जहां पर विषय का निर्देश न होकर केवल विषयीमात्र लक्ष्यक-पद का ही प्रयोग होता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा समझनी चाहिए।[3] **विश्वेश्वरभट्ट** ने **अलंकारकौस्तुभ** में अलङ्कार-विषयक ग्रन्थ होने के कारण अलङ्कारों का ही वर्णन मुख्यतः किया है। रूपकालङ्कार के निरूपण के अवसर पर प्रकरणोपात्त भेद-विरहित लक्षणा के विषय में यत्किञ्चित् कह दिया गया है, किन्तु भेदवर्णन नहीं किया है। **रसचन्द्रिका** में **मम्मट** के ही शब्दों को दोहरा दिया गया है। जैसा कि सारोपा प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

अच्युतराय के अनुसार 'यह आनन चन्द्र है' इस वाक्य में कुछ विद्वान् विचक्षणलक्षणा स्वीकार करते हैं। जब 'गौरेवायम्' वाक्य का प्रयोग हो तो वह साध्यवसाना-लक्षणा कहलाती है। इसी प्रकार का साध्यवसाना-लक्षणा का उदाहरण 'चन्द्र एव इदम्' है और ये रूपकातिशयोक्ति के जनक भी हैं।[4]

विषयनिष्ठासाधारणधर्मग्रहं विना यत्राऽन्यस्यान्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः सा साध्यवसानेति ।

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 46

1 निगीर्य विषयं यत्र विषय्येव निबध्यते ।
तत्र साध्यवसाना स्याद् गौणी शुद्धेति सा द्विधा ।। 2. 33
—काव्यदर्पण, पृ. 67

2 अपृथङ् निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम् ।
द्वितीयेन तु (अध्यवसानेन सहिता) साध्यवसाना ।
—रसगङ्गाधर, पृ. 155

3 ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः ।। 11 ।।
अध्यवसानेन सह वर्तमाना साध्यवसाना । अध्यवसानमाहार्यनिश्चयः ।
स तु भेदमनिर्दिश्याभेदकल्पनारूपः ।
—कोविदानन्द, पृ. 18

4 इयमेदाननं चन्द्र इति चेदुच्यते यदा ।
तदाभिधीयते कैश्चित्सा विचक्षणलक्षणा ।। 2. 72

विद्याभूषण ने **साहित्यकौमुदी** में **मम्मट**-प्रोक्त साध्यवसाना-लक्षणा की शब्दशः सरल शब्दों में व्याख्या की है। ये उपमान और उपमेय के अभेद-ज्ञान को ही इसका फल मानते हैं।[1] **रामकर्ण-आसोपा** ने **यशवन्तयशोभूषण** में अर्वाचीनों द्वारा मान्य सारोपा एवं साध्यवसाना नामक लक्षणा के भेदों को अस्वीकार करने के साथ ही **मम्मट** द्वारा उदाहृत 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' आदि सारोपा एवं साध्यवसाना-लक्षणा के उदाहरणों का खण्डन किया है। **आसोपा** की मान्यता है कि जिस प्रकार वाचकलुप्ता-उपमा चमत्कारहीन होती है, उसी प्रकार लक्षणा के इन दोनों भेदों में चमत्कृति का अभाव है, अतः इनको स्वीकृति औचित्यपूर्ण नहीं है।[2]

वामन-झलकीकर ने **काव्यप्रकाश** की टीका में साध्यवसाना-विषयक अपना मत व्यक्त करते हुए 'केचित्', 'अन्ये' तथा 'सारबोधिन्याम्' आदि के माध्यम से अनेक उपस्थापनाएं की हैं।[3]

सैव साध्यवसाना तु गौरेवायमिति स्फुटा।
चन्द्र एवेदमित्यादौ रूपकातिशयोक्तिकृत्॥ 2. 73
सैव साध्यवसाना चेदायुरेवेदमित्यपि।
—साहित्यसार, पृ. 45

1 विषयिणारोप्यमाणेनान्यस्मिन्नारोपविषयेऽन्तःकृते निगीर्णे सैव साध्यवसानोच्यते। यथा—'गौरेवायम्' इत्यादौ। गवेह वाहीकोऽन्तर्निगीर्णः। एवम् 'अमृतमेवेदम्' इत्यादौ च। अस्मिन् भेदद्वये सत्यपि भेदे ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथाभेदागमश्च फलम्।
—साहित्यकौमुदी, पृ. 14

2 काव्यप्रकाशकारेणेदमुदाहृतं 'आयुर्घृतम्' इति। घृतमायुषः कारणं न त्वायुरिति वाच्यार्थस्य बाधः। घृतायुषोः कार्यकारणभावसम्बन्धादिदमवगम्यते घृतभक्षणादायुर्वर्द्धत इति। अत्र विषयिण आयुषो विषयस्य च घृतस्योभयोरपि कथनात्सारोपात्वम्। 'आयुरेवेदम्' इत्यत्र विषयस्य निगरणं कृत्वा केवलं विषयिण आयुषः कथनात् साध्यवसानात्वम्। मम तु मतम्, वाचकलुप्ताद्युपमाप्रकारवदुक्तप्रकारयोरपि चमत्कृतिजनकत्वाभावादनौचित्यमेव।
—यशवन्तयशोभूषण, पृ. 74

3 अन्यस्मिन्, आरोपविषये (आरोपाश्रये वाहीकादौ) विषयन्तः कृते विषयिणा, आरोप्यमाणेन (गवादिना) अन्तःकृते निगीर्णे सति सा साध्यवसानिका।...विषयनिष्ठासाधारणग्रहं विना विषयिणा स्वतादात्म्येन प्रत्यायिते

प्रयोजनवती-गौणी एवं शुद्धा-साध्यवसाना-लक्षणा तथा उसके उदाहरण-विषयक मान्यताएं

साध्यवसाना-लक्षणा वहां होती है, जहां विषयी (उपमान), विषय (उपमेय) का निगरण कर जाता है। यथा—'गौरयम्', 'गौर्जल्पति' इत्यादि वाक्यों में आरोप-विषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, फिर भी यहां एक सादृश्य है, अतः सादृश्य-मूलकत्वात् उक्त दोनों उदाहरण गौणी-लक्षणा के अन्तर्गत माने गये हैं। सारोपा की तरह साध्यवसाना भी गौणी एवं शुद्धा भेद से दो प्रकार की होती है। गौणी-साध्यवसाना के उदाहरण—'गौरयम्', 'सिंहोऽयम्', 'गौः पठति', 'चन्द्रोऽयम्', 'गां पाठय' आदि हो सकते हैं। शुद्धा-साध्यवसाना के उदाहरण—'अमृतं पिबामि', 'आयुरेवेदम्' इत्यादि वाक्यों में आरोप-विषय घृत का शब्दतः उपादान नहीं किया गया है, फिर भी कार्यकारणभावसम्बन्ध (सादृश्येतरसम्बन्ध) होने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना के उदाहरण हैं क्योंकि शुद्धा-साध्यवसाना में आरोप विषय का शब्दतः कथन नहीं होता है, वह विषयी में ही अन्तर्हित रहता है।

विश्वनाथ आदि कतिपय आचार्य शुद्धा-साध्यवसाना के लिए उक्त उदाहरण को उपयुक्त नहीं मानते हैं, अतः उनके विचार में इसके लिए 'आयुः पिबामि' वाक्य को व्यवहृत करना अधिक संगत है, क्योंकि उक्त उदाहरण में 'इदम्' शब्द के कारण घृत-रूप विषय, पूर्णरूप से अन्तर्हित नहीं माना जा सकता है, अतः घृत के लिए प्रयुक्त वाक्य 'आयुः पिबामि' (जीवन ही पीता हूँ) में जीवन के कारणभूत-घृत का शब्दतः कथन न होने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना का समीचीन उदाहरण यह माना गया है, किन्तु कतिपय आचार्य इस कथन का समर्थन न करते हुए साध्यवसाना के उदाहरण में प्रयुक्त 'इदम्' इस सर्वनाम शब्द के कारण उक्त उदाहरण को सारोपा का न मानकर साध्यवसाना का ही अङ्गीकार करते हैं। ये विद्वान् उक्त सर्वनाम के प्रयोग को,

---

इत्यर्थः इत्यन्ये।.....'विषयिणा विषयतिरोभावोऽत्राध्यवसानपदार्थः', इति प्रदीपकाराः। 'विषयिवाचकपदेनैव विषयप्रतिपादनमध्यवसानम्' इति केचित्। यथा—गौरयम्, ...यत्र विषयनिष्ठासाधारणधर्मप्रतिपत्तिपत्त्यसहकृतान्यस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः सा साध्यवसानेति सारबोधिन्यां स्पष्टम्। एवं च लक्ष्यवाचकपदसत्त्वासत्त्वमात्रेणारोपाध्यवसानव्यवहार इति निष्कर्षः।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. वामन-झलकीकर), पृ. 48

साध्यवसाना में बाधक न मानने के साथ ही उसकी अनिवार्यता का समर्थन करते हुए भी दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार की विचारधारा को **महेश्वरन्यायालङ्कार-कृत काव्यप्रकाशादर्श** टीका के नीचे टिप्पण में अभिव्यक्त किया है।[1] टिप्पणकर्ता **अमरेन्द्रमोहन-तर्कतीर्थ** तथा **उपेन्द्रमोहन-सांख्यतीर्थ** हैं।

'इदम्' इस सर्वनाम-पुरस्सर वाक्य में भी साध्यवसाना का समर्थन करते हुए **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने **अलंकारमहोदधि** में, **अमरचन्द्रयति** ने **काव्यकल्पलतावृत्ति** में, **विद्याधरचक्रवर्ती** ने **काव्यप्रकाश** की **टीका सम्प्रदायप्रकाशिनी** में, **भावदेव** ने **अलङ्कारसार** में, **अप्पयदीक्षित** ने **वृत्तिवार्तिक** में, **विश्वेश्वर** ने **रसचन्द्रिका** में, **विद्याभूषण** ने **साहित्यकौमुदी** में, **अच्युतराय** ने **साहित्यसार** में इस साध्यवसाना के उदाहरण के रूप में 'आयुरेवेदम्', 'गौरयम्', 'अमृतमेवेदम्' इत्यादि उदाहरण उपन्यस्त किये हैं।

काव्यप्रकाश के टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** तथा **भीमसेन** साध्यवसाना के उदाहरण के रूप में 'गौरयम्' देने के बाद भी इस उदाहरण के स्थान पर अन्य उदाहरण देने के लिए जिज्ञासित दृष्टिगोचर होते हैं।[2]

सारोपा तथा साध्यवसाना का फल

पूर्वोक्त प्रकार से सारोपा और साध्यवसाना को विस्तृत-रूप से परिभाषित करने के अनन्तर अब प्रकरण-प्राप्त सारोपा एवं साध्यवसाना विषयक विशेषताओं को यहां देना उचित होगा, जिनको **आशाधरभट्ट** ने बड़े तर्कपूर्ण

---

1 'आयुरिदम्' इत्यादौ सर्वनाम्न इदं पदस्य घृतवाचकत्वेऽपि न विशिष्य तद्वाचकत्वं वक्तृबुद्धिविषयतावच्छेदकत्वादिना अनुगमाभावस्थल एव तथात्वस्वीकारात्। एतन्मते साध्यवसानास्थले सर्वत्रैव विषयाणां सर्वनाम्ना निर्देश आवश्यक इति तूक्तमेव। एवञ्च—साहित्यदर्पणोऽस्य मतवैलक्षण्यमस्तीत्यूहनीयम्।

—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार), पृ. 59

2 सादृश्याद्यथा—'गौर्वाहीकः' इति सारोपः। 'गौरयम्' इति साध्यवसानः। यद्यपि वाहीकस्य वाहीकत्वेन, इदन्तया चोपस्थितौ सारोपत्वमेवोचितम्, तथापीदन्त्वस्यारोप्यविशेषणतया तदुदाहरणं द्रष्टव्यम्।

—**काव्यप्रकाश**, सटीक, (टीका. गोविन्दठक्कुर), पृ. 32

अन्यच्च

—**काव्यप्रकाश**, सटीक, (टीका. **भीमसेन**), पृ. 69-70

ढंग से प्रस्तुत किया है। भट्ट के अनुसार सारोपा-लक्षणा में 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि उदाहरणों में लक्षणा के द्वारा गुणों की प्रतीति होती है। चन्द्र-वाचक पद का प्रयोग होने के कारण चन्द्रमा की प्रतीति होती हो, ऐसी बात नहीं। इसके विपरीत साध्यवसाना-लक्षणा में गुणों के साथ-साथ गुण-विशिष्ट गुणी की भी लक्षणा के द्वारा प्रतीति होती है।[1]

भट्ट ने सारोपा-साध्यवसाना-विषयक विभाग करते हुए कहा—सारोपा-लक्षणा में विषय और विषयी की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है, अतः दोनों के गुणों की 'सदृश गुणों' की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है, जबकि साध्यवसाना में विषय और विषयी में भेद-प्रतीति न होने के कारण गुणों से अभिन्न, गुणी की प्रतीति होती है।[2]

भट्ट ने सारोपा और साध्यवसाना-विषयक विभाग करते हुए कहा—रूपक आदि अलङ्कारों में सारोपा-लक्षणा कही जा सकती है, जहां विषय-विषयी दोनों के वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। इसके विपरीत रूपकातिशयोक्ति आदि में केवल विषयी-वाचक पद का ही प्रयोग होता है। अतः वहां साध्यवसाना-लक्षणा की स्थिति मानी जा सकती है।[3]

भट्ट ने कोविदानन्द में सारोपा-लक्षणा की देन तथा साध्यवसाना-लक्षणा का फल भी एक ही कारिका में निबद्ध किया है। सारोपा-लक्षणा में जहां विषय और विषयी दोनों का प्रयोग होता है, अभेद प्रतीति के फलस्वरूप सादृश्य की प्रतीति में शिथिलता के अभाव का बोध होता है और यही सारोपा-लक्षणा की देन है। साध्यवसाना-लक्षणा में विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्यातिशय का बोध होता है और यह साध्यवसाना-लक्षणा

---

1 सारोपायां गुणा लक्ष्या विषयिणो न तच्छ्रुतेः।
एवं साध्यवसानायां गुणी लक्ष्यो गुणान्वितः॥ 27 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 22

2 सारोपायां तु भेदेन गुणा लक्ष्या द्वयोरपि।
अन्यस्यां गुणिभेदेन गुणा एवाभिदाजुषः॥ 28 ॥
—वही, पृ. 22

3 रूपकादिषु सारोपा यत्र शब्दावुभावपि।
रूपकातिशयोक्त्यादौ पराऽऽरोप्यपदश्रुतेः॥ 29 ॥
—वही, पृ. 22

का फल है। इस प्रकार उपमा आदि में सादृश्य अदृढ़ होता है, रूपक आदि में दृढ़ और अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार में दृढ़तर।[1]

आचार्यों ने जो सारोपा-लक्षणा का फल ताद्रूप्यप्रतीति और साध्यवसाना-लक्षणा का फल अभेद-प्रतीति माना है[2], भट्ट ने उसका खण्डन करते हुए कहा है कि पूर्वाचार्यों का सारोपा-लक्षणा का फल ताद्रूप्य-प्रतीति और साध्यवसाना-लक्षणा का फल अभेद-प्रतीति मानना उचित नहीं है, क्योंकि 'साध्वीयम् अपरा लक्ष्मी:' इत्यादि सारोपास्थलों में अपरा आदि पद ताद्रूप्य की प्रतीति के लिए तथा 'अयं हि धूर्जटिः साक्षात्' इत्यादि साध्यवसाना-स्थलों में साक्षात् इत्यादि पद अभेद के प्रत्यायक हैं। उक्त फल मानने पर इन पदों के प्रयोग से विरोध उपस्थित होगा।[3]

भट्ट ने सारोपा और साध्यवसाना का क्षेत्र वर्णित करते हुए कहा है कि 'इदं' आदि सर्वनाम-विशिष्ट 'इदं चन्द्रः' इत्यादि वाक्यों में सारोपालक्षणा मानी जाती है, क्योंकि यहां 'इदं' आदि पदों द्वारा आरोप-विषय का निर्देश होता है। इसके विपरीत 'अयं चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में जहां 'इदम्' शब्द चन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हो रहा है, वहां सर्वनाम पद से आरोप-विषय का बोध न होने के कारण साध्यवसाना-लक्षणा मानी जातीं है, सारोपा नहीं।[4]

---

1 सादृश्यश्लथताभावः सारोपायाः फलं मतम्।
सादृश्यातिशयोऽन्यस्या विषयस्तुतिहेतवे ॥ 30 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 22

2 अत्र गौणभेदे सारोपभेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः। साध्यवसाने सर्वथैवाभेदागमः प्रयोजनम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. भीमसेन), पृ. 71
अन्यच्च
ताद्रूप्यप्रतीतिः सारोपायाम्। सर्वथैवाभेदागमः साध्यवसानायाम्।
—काव्यप्रकाश, सटीक, (टीका. विद्याधरचक्रवर्ती), पृ. 61

3 ताद्रूप्याभेदयोराहुः फलत्वमुभयोः क्रमात्।
तत्तु शब्दान्तराल्लाभाद्विरोधाच्च न मन्यताम् ॥ 31 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 23

4 सर्वनामविशिष्टस्य निर्देशे प्रथमा मता।
अविशिष्टस्य निर्देशे परेति कवयो विदुः ॥ 32 ॥
—वही, पृ. 23

निष्कर्ष

आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में वर्णित समाधि-नामक गुण में इस साध्यवसाना-लक्षणा के तत्त्व बीजरूपेण पाये जाते हैं। **मुकुलभट्ट** ने आरोप और अध्यवसान को **अभिधावृत्तिमातृका** में वर्णित किया है। **मम्मट** प्रथम आलङ्कारिक हैं, जिन्होंने साध्यवसाना का लक्षण किया—जहां विषयी (आरोप्यमाण-उपमान) के द्वारा आरोप-विषय उपमेय को निगीर्ण कर लिया जाता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है। इसमें उपमान-द्वारा उपमेय का प्रतिपादन होता है, अत: इसमें उपमेय तथा साधारण-धर्म की आवश्यकता नहीं होती है।

अमरचन्द्रयति ने साध्यवसाना-लक्षणा में अतिशयोक्ति अलङ्कार के बीज निहित माने हैं और यह भी माना है कि सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में ये बीज होते हैं। कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में तो सादृश्य न होने के कारण रूपकादि की विषयता भी नहीं होती है। इन्होंने इसके उदाहरण 'आयु घृत है', 'त्याग यश है' आदि दिए हैं। **नरेन्द्रप्रभसूरि** ने उपचार-विचित्रता को ही साध्यवसाना मानते हुए लक्षण किया—जहां आरोप्य गोत्वादि सामान्याश्रय के द्वारा अन्य—आरोप-विषय वाहीकादि निगीर्ण कर लिये जाते हैं, वहां उपचार-विचित्रता होती है, उसी को साध्यवसाना कहते हैं।

श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य ने साध्यवसाना के विषय में विस्तार से विवेचन किया है। इस साध्यवसाना को उन्होंने दो भागों में विभाजित किया। सर्वनाम की सत्ता तथा असत्ता के कारण वे इसे उभय-विधा मानते हैं। यथा—'यह गाय है' और 'गो है' इत्याकारक कथन के द्वारा साध्यवसाना-लक्षणा उनके अनुसार उभय-प्रकार की हो सकती है। **धर्मसूरि** के अनुसार अन्य—विषयी, अर्थात् उपमान के द्वारा विषय—उपमेय के निगरण होने वाली अभेद की प्रतिपत्ति ही अध्यवसाय है, इस अध्यवसाय से युक्त लक्षणा साध्यवसाना कहलाती है। **कविकर्णपूर** के अनुसार वही सारोपा-लक्षणा, साध्यवसाना में परिणत हो जाती है, यदि वह आरोप्यमाण—उपमान के द्वारा पूर्णरूपेण आरोप विषय, अर्थात् उपमेय निगीर्ण कर लिया जाय। उन्हें 'गौरेवायम्' साध्यवसाना का यह उदाहरण अमान्य है, क्योंकि 'एके' कथन से ऐसा ही प्रतीत होता है। **अप्पयदीक्षित** ने इसका उदाहरण 'आनन्दोऽयम्' वाक्य उपन्यस्त किया है। जो भगवान् के अङ्गों से सम्बन्धित है। **विश्वनाथ-देव** ने कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग में भिन्न-भिन्न रूप से साध्यवसाना की परिभाषा की है। कारिकागत-लक्षण पूर्वाचार्यों के समान ही है, किन्तु वृत्ति-

भाग के अनुसार—उपमेय में रहने वाले विशेष-धर्म के ग्रहण किये बिना भी जहां दूसरे (उपमेय) का उपमान के साथ अभेद-ज्ञान हो जाता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।

आचार्यों में साध्यवसाना के शुद्धा एवं गौणी उदाहरणों के विषय में मतभेद चला आ रहा है। गौणी-साध्यवसाना के उदाहरण 'गौरयम्', 'सिंहोऽयम्' हो सकते हैं, क्योंकि उक्त वाक्यों में वाहीक तथा माणवक का शब्दतः उपादान नहीं हुआ फिर भी यहां एक सादृश्य है, अतः सादृश्य-मूलकत्वात् गौणी-साध्यवसाना के उक्त उदाहरण दिए गए हैं। शुद्धा-साध्यवसाना के उदाहरण के रूप में 'अमृतं पिबामि', 'आयुरेवेदम्' इत्यादि वाक्यों को दिया गया है। यहां आयु-विषयक घृत का शब्दतः उपादान नहीं किया गया है, फिर भी कार्यकारणभाव-सम्बन्ध (सादृश्येतर-सम्बन्ध) होने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना है। यहां शुद्धा-साध्यवसाना में आरोप-विषय का शब्दतः कथन नहीं होता है, विषय विषयी में अन्तर्निहित रहता है।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने सर्वनाम की सत्ता में 'गौरयम्', 'आयुरेवेदम्' तथा असत्ता में 'अमृतं पिबामि', 'गौः पठति' आदि रूप से साध्यवसाना को द्विधा विभाजित किया है, किन्तु **विश्वनाथ**-प्रभृति आचार्यों के मतानुसार प्रथम-कोटि, अर्थात् सर्वनाम की सत्ता में 'इदम्' शब्द के कारण वाहीक तथा घृतरूप-विषय को पूर्णरूपेण अन्तर्निहित नहीं माना जा सकता, अतः सर्वनाम रहित 'गौः पठति', 'आयुः पिबामि' आदि उदाहरण ही साध्यवसाना के उदाहरणों की अर्हता को वहन करते हैं। दूसरी ओर **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **महेश्वरन्यायालङ्कार** आदि विद्वान् तो उक्त सर्वनाम के प्रयोग को बाधक न मानकर उसकी अनिवार्यरूपेण उपस्थिति का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार **नरेन्द्रप्रभसूरि, अमरचन्द्रयति, विद्याधरचक्रवर्ती, भावदेव, अप्पयदीक्षित, विश्वेश्वर, विद्याभूषण, अच्युतराय** आदि विद्वानों ने साध्यवसाना के उदाहरण के रूप में 'इदं' आदि सर्वनाम-पुरस्सर 'आयुरेवेदम्', 'गौरयम्', 'अमृतमेवेदम्' आदि वाक्यों को उपन्यस्त किया है।

काव्यप्रकाश के टीकाकार **गोविन्दठक्कुर** तथा **भीमसेन** अपनी कृतियों में 'गौरयम्' उदाहरण देने के अनन्तर भी साध्यवसाना-लक्षणा के अन्य उदाहरण के प्रति जिज्ञासित दृष्टिगोचर होते हैं।

आशाधरभट्ट ने सारोपा तथा साध्यवसाना-विषयक कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं—सारोपा में दोनों के गुणों की, सदृश-गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है, जबकि साध्यवसाना में विषय और विषयी की भेद-प्रतीति न होने के कारण गुणों से अभिन्न गुणी की प्रतीति होती है। विषय-विषयी

दोनों के वाचक शब्दों का प्रयोग जहां होता है, ऐसे रूपक आदि स्थलों में सारोपा-लक्षणा होती है। इसके विपरीत, विषयी-वाचक शब्दों के प्रयोग-स्थल रूपकातिशयोक्ति में साध्यवसाना की स्थिति मानी जा सकती है। इन दोनों की देन-विषयक भट्ट की विचारधारा उल्लेखनीय है—सारोपा-लक्षणा में विषय एवं विषयी दोनों के शब्दशः उपात्त होने के कारण अभेद प्रतीति के फलस्वरूप सादृश्य-प्रतीति में शिथिलता के अभाव का बोध होता है, यही सारोपा की देन है।

साध्यवसाना-लक्षणा में, विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्या-तिशय का बोध होता है और यह साध्यवसाना-लक्षणा का फल है। भट्ट ने सारोपा-लक्षणा का फल ताद्रूप्य-प्रतीति और साध्यवसाना-लक्षणा का फल अभेद-प्रतीति मानने वालों का खण्डन किया है। भट्ट 'इदं चन्द्रः' इत्यादि स्थल में 'इदं' सर्वनाम-विशिष्ट-वाक्य में सारोपा मानते हैं, क्योंकि यहां 'इद' आदि पदों के द्वारा आरोप-विषय का निर्देश होता है। इसके विपरीत 'अयं चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में जहां 'इदम्' शब्द चन्द्र के विशेषण के रूप में प्रस्तुत हो रहा, वहां सर्वनाम पद से आरोप-विषय का बोध न होने के कारण साध्यवसाना-लक्षणा मानी जाती है, सारोपा नहीं।

लक्षितलक्षणा

लक्षणा के प्रचलित तथा सर्वस्वीकृत प्रसिद्ध भेदों को प्रस्तुत करने के पश्चात् अब लक्षितलक्षणा नामक ऐसे भेद का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है, जिसे सभी आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार नहीं किया है। इस लक्षित-लक्षणा की भी चर्चा प्राचीनकाल से चली आ रही है। मीमांसक, नैयायिक, आलङ्कारिक तथा कतिपय वैय्याकरण लोगों ने भी इसकी चर्चा की है। वेदान्तियों ने इसे गौणी-वृत्ति के अन्तर्गत ही समाहित करने का प्रयत्न किया। इसको मानने वाले आचार्यों ने भिन्न-भिन्न शब्दावली में इसको परिभाषित किया। यथा—'यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षित-लक्षणा' अर्थात् जहां शब्दार्थ का परम्परा सम्बन्ध हो, वहां लक्षितलक्षणा होती है।

प्राचीन नैयायिक इसे वृत्त्यन्तर मानते हैं, जबकि नव्य-नैयायिकों ने इसे लक्षणा का ही एक भेद माना है।[1] यथा—'द्विरेफो रौति' यहां पर अभिधा-

---

1 प्राचीननैयायिकानां मते लक्षितलक्षणाऽपि वृत्त्यन्तरम्, परन्तु नव्यनैय्या-यिकानां मतेऽस्या वृत्त्यन्तरत्वं न अपि तु एकस्या लक्षणाया एव भेद इयमिति बोध्यम्।
—शाब्दबोधविमर्शः, पृ. 261

शक्ति से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह है, 'दो रेफ बोल रहे हैं' वस्तुत: वर्ण तो बोल नहीं सकते हैं, अत: वक्ता का तात्पर्य इससे भिन्न है। द्विरेफ पद का अर्थ, दो रेफवाले भ्रमर पद के अभिधेय अर्थात् मधुप में है। यह मधुप अर्थ, द्विरेफ पद की केवल लक्षणा-शक्ति से प्रतीति गम्य हो, यह सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब द्विरेफ-पद के शक्य, अर्थात् दो रेफ का अभिमत-अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध होता, ऐसा यहां है नहीं, अत: द्विरेफ पद के वाञ्छित अर्थ तक पहुंचने में एक अन्य स्तर पार करना पड़ता है।

द्विरेफ का जो अर्थ है—'दो रेफ', इस दो रेफ का जो शक्यार्थ उसका भ्रमर पद से अवयविता सम्बन्ध है। इस पद का अभिधात्मक सम्बन्ध अपने वाच्य मधुप-अर्थ में है। इस प्रकार यहां 'द्विरेफ' के शक्यसम्बन्धी, अर्थात् भ्रमर पद का सम्बन्ध 'मधुप' से हुआ। यह सम्बन्ध परम्परात्मक-सम्बन्ध है, अत: यहाँ लक्षितलक्षणा है। यहां पर नैयायिकों के अनुसार परम्परात्मक सम्बन्धरूपा लक्षितलक्षणा है, क्योंकि साक्षात् सम्बन्धों के रहने पर भी लक्षणा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाण में संयोग और समवाय के सम्बन्धजन्य संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध हुआ करता है[1], उसी प्रकार लक्षितलक्षणा आदि में परम्परा-सम्बन्ध का उपयोग देखा जाता है।

कुमारिल ने शाबरभाष्य की **टुप्टीका** नामक टीका में इस लक्षित-लक्षणा का उल्लेख किया तथा लक्षित-लक्षणा को धर्मों की सम्बन्धरूपा तथा लक्षणा को श्रुति-प्रोक्त मानकर इसे लक्षितलक्षणा से विशेष भी माना।[2] **मुकुलभट्ट** ने लक्षितलक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण के रूप में मान्य 'द्विरेफ' शब्द को रूढा-लक्षणा का ही उदाहरण माना है, किन्तु इसमें भी प्रयोजन की सत्ता उन्होंने स्वीकार की है, तथा इसी प्रकरण में उन्होंने कहा कि कोई प्रयोजन ऐसा होता है, जो व्यवहित-अर्थ को अपनाने में अनादि-काल से चले आ रहे वृद्ध-व्यवहार और (तद्रूप) प्रसिद्धि पर निर्भर रहता है, अत: रूढि जैसा ही होता है। यथा—'द्विरेफ' आदि शब्द में। 'द्विरेफ' शब्द दो रेफों से युक्त होने के कारण

---

1 त्रिवेणिका, पृ. 30

2 तदा लक्षितलक्षणया धर्माणां सम्बन्धः। तस्माल्लक्षणां श्रुतिर्ब्रवीति लक्षितलक्षणापेक्षया।

—टुप्टीका, चौ. सं. बुकडिपो, बनारस, 1903 ई., पृ. 183

अन्यच्च

—सिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 595

'भ्रमर' शब्द में लक्षणा कराता है और तब भ्रमररूपी मधुप-अर्थ का बोध कराता है, निरन्तर व्यवहार के कारण स्थिति यह हो जाती है कि उसके लिए बीच में भ्रमर-शब्द को लाने की आवश्यकता नहीं के बराबर पड़ती है, इसलिए वह रूढि का ही अनुकरण करने लगता है—उसी जैसा लगता है।[1] **डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी** की मान्यता के अनुसार यहां पर भी **मुकुलभट्ट** ने लक्षितलक्षणा मानी है।[2]

आचार्य-मम्मट ने पञ्चविधा लक्षणा के अन्तर्गत अभिधेय-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा को मानते हुए 'द्विरेफ' पद को अभिधेय के साथ सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण माना है। 'द्विरेफ' आदि शब्दों के अभिधेय अर्थ होते हैं, भ्रमर आदि शब्द (रकारद्वयात्मक), किन्तु उन अभि-धेय-शब्दों का सम्बन्ध रहता है छः पैर वाले कीट-विशेष (भौंरे आदि) से, अतः इन 'द्विरेफ' आदि शब्दों के द्वारा लक्षणा से उन (भौंरे आदि) का बोध कराया जाता है।[3] **मम्मट** ने 'द्विरेफ' को लक्षितलक्षणा का उदाहरण नहीं माना तथा इस प्रकार के अन्य लाक्षणिक-प्रयोगों को गर्हित भी माना है।

जिस प्रकार 'द्विरेफ' शब्द दो रेफ के सम्बन्ध से अपना अभिधेय बनाता है, किन्तु लक्षणा द्वारा षट्पद भौंरे-रूपी अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार कोकिल-काक आदि के लिए द्विक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु **मम्मट** की दृष्टि से इस प्रकार का प्रयोग गर्हित है।[4] इस प्रकार **मम्मट** ने रूढा के उदाहरण के रूप में व्यवहृत 'द्विरेफ' शब्द का **काव्यप्रकाश** में कहीं भी उल्लेख नहीं किया, किन्तु **शब्दव्यापारविचार** में निरूढा-लक्षणा के वर्णन के विषय में वर्णित किया है।

---

1 किञ्चिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनम् अनादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्ध्यनु-सरणात्मकत्वाद् रूढ्यनुवृत्तिस्वभावम्, यथा—द्विरेफादौ। द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगितया भ्रमरशब्दलक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 50

2 शब्दव्यापारविचार, (व्या. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी), पृ. 31

3 तत्र द्विरेफादिशब्दस्य भ्रमरादिः शब्दोऽभिधेयः। तत्सम्बन्धात् तेन षट्-पदो लक्ष्यते इति अभिधेयसम्बन्धनिमित्तता।
—शब्दव्यापारविचार, पृ. 30

4 रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दाभिधेयत्वे द्विरेफशब्दः षट्पदे यथा प्रयुज्यते तथा कोकिलादौ द्विक इत्यादिका 'अन्यथा' न प्रयोज्याः।
—वही, पृ. 24

शालिङ्कनाथ ने **प्रकरणपञ्चिका** में लक्षितलक्षणा को मानने में अपनी असहमति प्रकट की है।[1] भोज ने **शृङ्गारप्रकाश** में लक्षितलक्षणा को स्थान अवश्य दिया है, किन्तु अन्य आचार्यों की तरह उसे सलक्षण विवेचित नहीं किया। लक्षणा से लक्षितलक्षणा की स्थिति भिन्न तथा अनेक रूपवाली मानी है।[2] उन्होंने उसे षड्धा विभाजित भी किया है। उपचारवृत्ति या गौणी-लक्षणा के माध्यम से जो अर्थान्तर लक्षित होता है, उसे लक्षितलक्षणा नाम से अभिहित करने वाले के मत को भोज ने उद्धृत किया है।[3] इन्होंने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में लक्षितलक्षणा का उल्लेखमात्र किया है।[4] विषय से सम्बन्धित होने के कारण **सरस्वतीकण्ठाभरण** के टीकाकार **रत्नेश्वर** (14 वीं श.) का उल्लेख करना यहां समीचीन ही होगा। **रत्नेश्वर** ने **सरस्वती-कण्ठाभरण** की टीका में लक्षितलक्षणा के विषय में विस्तार से तो स्वयं नहीं कहा, किन्तु उन्होंने अपनी टीका में तद्विषयक अनेक मतों को उद्धृत किया है। **यथा**—जिसमें पूर्व से स्वीकृत-अर्थ ही लक्षित होता है, उसे लक्षित-

---

1 न च लक्षितलक्षणायां प्रमाणमस्ति।........लक्षितलक्षणा प्रकरणाभावा-दयुक्ता।

—प्रकरणपञ्चिका, पृ. 203

2 तयोर्यस्यामुपात्तशब्दस्यार्थस्य क्रियासिद्धौ साधनत्वायोगात् स्वार्थोऽविना-भूतमर्थान्तरं व्यवहितमेव लक्षयति सा लक्षणा, तद्व्यतिरिक्ता तु वक्ष्य-माणानेकरूपा लक्षितलक्षणेति।

—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 233

3 लक्षणा द्विविधा। लक्षणा लक्षितलक्षणा च...........लक्षितलक्षणापि षोढैव।........तासु यस्यां यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्त्या लक्षितेनाभिधानेन रूढलक्षणएवार्थो लक्ष्यते सा रूढलक्षणा। दुरोदरश्चक्रवाको द्विरेफो भ्रमर इति। यथा—'मधुद्विरेफः' अत्र दुरोदरत्वं द्विरेफत्वं च कुररेऽपि सम्भवति, न चात्र रूढा लक्षणेति। नायं लक्ष्यते।........अन्ये पुनर्लक्षितलक्षणा-मन्यथा व्याचक्षते लक्षणयोरुपचरितवृत्त्या गौण्याभिहितार्थेन यत्रार्थान्तरं लक्ष्यते सा लक्षितलक्षणा।

—वही, पृ. 234, 333, 336

4 तेन या इमा महाकविप्रबन्धे तु मुख्यगौणीलक्षणास्तद्भावापत्तिरुपचरिता लक्षितलक्षणेति शब्दवृत्तयस्ता अपीह श्रूयन्ते।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ. 275

लक्षणा कहते हैं। कतिपय आचार्य लक्ष्यार्थ से व्यवहित-अर्थ को प्रकट करने वाली शक्ति को लक्षितलक्षणा कहते हैं।[1]

जयदेव ने **चन्द्रालोक** में लक्षणा के प्रयोजक-सम्बन्धों को बतलाते हुए वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध को निर्दिष्ट करते हुए नैयायिकाभिमत लक्षित-लक्षणा के लिए यत्किञ्चित् मार्ग प्रशस्त कर दिया है।[2] जिसकी व्याख्या करते हुए **नन्दकिशोर शर्मा** ने द्विरेफ-पद में वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध माना है।[3] **शर्मा** ने उक्त लक्षितलक्षणा को वैय्याकरणों द्वारा अस्वीकृत किये जाने का उल्लेख किया है[4], किन्तु सभी वैय्याकरणों ने उसे अस्वीकृत नहीं किया, जिसे आगे इसी प्रकरण में वर्णित किया जायेगा। **श्रीनिवासाचार्य** ने **न्यायपरिशुद्धि** में उपचार के मुख्यार्थसम्बन्ध तथा तद्गुण-सम्बन्ध से दो भेद किये हैं। मुख्यार्थ-सम्बन्ध से होने वाली प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा को माना तथा द्वितीय से गौणी-लक्षणा को माना। वहां पर लक्षितलक्षणा को ग्राह्य मानते हैं।[5]

---

1 यया पूर्वपूर्वलक्षितमेव लक्ष्यते सा लक्षितलक्षणेति केचित्।.........अन्ये तु लक्षणाव्यवहिता लक्षणा लक्षितलक्षणेत्याहु:।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, (टीका. रत्नेश्वर), पृ. 189

2 कार्यकारणभावात्सा वाच्यवाचकभावत:।
—चन्द्रालोक, पृ. 279

3 वाच्यवाचकसम्बन्धाच्च लक्षणा यथा द्विरेफपदे। एकेन भ्रमरपदोच्चारणे कृतेऽन्यो 'द्विरेफमुच्चारयति' इति वदति अस्मिन् वाक्ये द्विरेफपदस्य 'द्वौ रेफौ यस्मिंस्तत्' इति योगवृत्त्या भ्रमरपदं लक्ष्यम्। अत्र वाच्यत्वं सम्बन्ध:। इमां लक्षणां नैयायिका लक्षितलक्षणां कथयन्ति।
—चन्द्रालोक, सटीक, (व्या.—नन्दकिशोर शर्मा), पृ. 279

4 इमां लक्षितलक्षणां वैय्याकरणा न स्वीकुर्वन्ति। यथोक्तं वैय्याकरण-मञ्जूषायाम्। 'द्विरेफपदं तु रूढिशक्त्या भ्रमरबोधकम्। अवयवार्थ-प्रतीतिस्तु नास्त्येव रथन्तरादिवत्।'
—वही, पृ. 280

5 सति तदासन्ने वृत्तिरुपचार:। आसत्तिश्च द्विविधा मुख्यार्थसम्बन्ध: तद्गुणसम्बन्धश्चेति। तत्र पूर्वेण प्रवृत्तिर्लक्षणा। यथा—गङ्गायां घोष: प्रतिवसति। ....एवं लक्षितलक्षणा ग्राह्या द्वितीयेन प्रवृत्तिर्गौणी।
—न्यायपरिशुद्धि, पृ. 338

विश्वनाथदेव प्रथम आलङ्कारिक हैं, जिन्होंने लक्षितलक्षणा का श्लोकबद्ध-लक्षण किया है। इनकी मान्यता के अनुसार—जहां अपने अर्थ के परित्याग से दूसरे अर्थ की कल्पना होती है, वहां विद्वान् व्यक्ति ने इस लक्षणा को लक्षितलक्षणा-रूप में स्वीकार किया है।[1] लक्षितलक्षणा का उन्होंने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसका अर्थ होता है—

> क्या तुमने कमलिनी के घर में दिन बिताया है ? अथवा रात्रियों में कुमुदिनी के समीप संलग्न रहे हो (उसके साथ रमण किया है) ? हे भ्रमर ! निर्मल चित्त से तुम यह बात (सच-सच) बताओ कि तुम्हें वहां (कमलिनी के पास) अधिक सुख मिला है अथवा वहां (कुमुदिनी के पास) मिला है।[2]

उनके द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण में भ्रमर, पद्मिनी तथा कैरविणी पद अपने अर्थ को छोड़कर नायक, नायिकाओं के अर्थ में परिणत हो जाते हैं, अतः यहां लक्षितलक्षणा है।[3] वर्णित उदाहरण में जड़ भ्रमर के साथ प्रश्नोत्तर की सम्भावना कदापि सम्भव नहीं, अतः भ्रमर आदि पदों से मुख्यार्थ-बाधित हो जाने के कारण नायकादि अर्थ की प्रतीति लक्षितलक्षणा के द्वारा होती है। वास्तविक स्थिति यह है कि आचार्य **विश्वनाथदेव** ने यहां लक्षितलक्षणा का जो लक्षण दिया है, वह वस्तुतः लक्षणलक्षणा का ही लक्षण है। उनके द्वारा दिया गया उदाहरण वस्तुतः लक्षितलक्षणा का भी उदाहरण नहीं बनता और न ही वह उदाहरण पूर्णतः लक्षितलक्षणा का ही है। आचार्य ने इसे उपादानलक्षणा के अनन्तर ही वर्णित किया है, अतः इसे लक्षणलक्षणा कहना अधिक युक्तिसङ्गत होगा।

---

1 यत्र स्वार्थपरित्यागादपरार्थस्य कल्पना।
अङ्गीकृतास्ति विद्वद्‌भिरेषा लक्षितलक्षणा ॥ 2. 16
—साहित्यसुधासिन्धु, पृ. 43

2 अपि दिवसमनैषीः पद्मिनीसद्मनि त्वं,
रजनिषु निरतोऽभूः कैरविण्यां रमण्याम्।
कथय कथय भृङ्ग स्वच्छभावेन तावत्।
सुखमधिकमवापस्तत्र वा तत्र चेति ॥ 2. 11
—वही, पृ. 43

3 तत्र भ्रमराद्यर्थपरित्यागान्नायकाद्यर्थे लक्षणा। इमे शुद्धे एव गौणीत्वविभाजकोपाधिशून्यत्वात्।
—वही, पृ. 43-44

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने उक्त लक्षणा की सोदाहरण व्याख्या की है। उनके अनुसार जिस स्थल में शक्य के साथ परम्परा, अर्थात् स्वशक्यघटित भ्रमरपद-प्रतिपाद्यत्वादिरूप परम्परा-सम्बन्ध से अर्थ की आन्तरिकी प्रतीति होती है, वहां लक्षितलक्षणा होती है। जैसे द्विरेफ पद 'दो रेफ' अर्थ में शक्यार्थ है, जिसका अर्थ है भ्रमर और इस प्रकार द्विरेफ की परम्परा सम्बन्ध से मधुकर में लक्षितलक्षणा वृत्ति है। **वेदान्तपरिभाषा** में गौणी लक्षणा को लक्षित-लक्षणा के अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया है। गौणी भी लक्षित-लक्षणा है, यह कहकर उन्होंने नूतन विचारधारा को प्रस्तुत किया है। यथा-'सिंहो माणवकः' इत्यादि स्थल में सिंह शब्द-वाच्य के सम्बन्धी शौर्य-क्रौर्य आदि धर्म-सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति लक्षणा-वृत्ति ही है।[1] **न्याय-पञ्चानन श्रीविश्वनाथभट्टाचार्य** के अनुसार जिस स्थल में शक्यार्थ की परम्परा-सम्बन्धरूपा-लक्षणा है वह लक्षितलक्षणा कही जाती है। जैसे—'द्विरेफो रौति' इस स्थल में द्विरेफादि पद से रेफद्वय का सम्बन्ध 'भ्रमर' पद से बनता है और इस भ्रमर पद का अर्थ है—'भ्रमरव्यक्ति'। इस प्रकार यह भ्रमर-व्यक्ति-अर्थ लक्षितलक्षणा से प्राप्त होता है।[2]

मौनीश्रीकृष्णभट्ट ने लक्षितलक्षणा के विषय में अन्य आचार्यों की अपेक्षा विस्तार से ऊहापोह किया है। सर्वप्रथम प्राचीनों के मतानुसार लक्षितलक्षणा को लक्षणा के ही एक भेद के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि 'द्विरेफ' पद 'द्वौ रेफौ यत्र' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि-समास के माध्यम से रेफद्वययुक्त भ्रमर-अर्थ में शक्त है। यद्यपि क्रूरादि पद भी रेफद्वय-घटित हैं, तथापि यहां रूढि द्वारा भ्रमर-पद का ही बोध होता है। इस प्रकार प्राचीनों ने द्विरेफ-पद में एक अतिरिक्त वृत्ति मानी है, परन्तु भट्ट के अनुसार यहां

---

1 यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा। यथा—द्विरेफशब्दस्य रेफद्वययुक्तभ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। (यथा—'सिंहो माणवकः' इत्यत्र सिंहशब्द-वाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः।)

—वेदान्तपरिभाषा, पृ. 120-121

2 यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा—द्विरेफादिपदे रेफद्वयस्य सम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा।

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 24

द्विरेफ-पद में अतिरिक्त वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।[1] उनका कथन है कि द्विरेफ की भ्रमर अर्थ में शक्ति, अर्थात् अभिधा ही है, क्योंकि अभिधेय पदों के जैसे कोषादि में पर्यायवाची अनेक शब्द मिलते हैं, उसी प्रकार भ्रमर के पर्याय के रूप में द्विरेफादि पदों का कोष में पाठ मिलता है। लाक्षणिक पदों का पर्याय के रूप में कोशादि ग्रन्थों में कहीं भी पाठ नहीं मिलता। यथा—गङ्गा-पद का पर्याय के रूप में तट-अर्थ कहीं भी नहीं मिलता है। मुख्यार्थ-बाधादि-प्रतिसन्धान के बिना 'द्विरेफ' शब्द से यहां भ्रमररूप अर्थ की उपस्थिति हो जाती है, अतः यहां शक्ति (अभिधा) का ही माना जाना उचित है, लक्षणा का नहीं।[2]

'द्विरेफ' पद में लक्षितलक्षणा न मानने की स्थिति में उक्त लक्षणा के उच्छेद की संभावना का समाधान करते हुए उन्होंने कहा कि 'द्विरेफ' पद में लक्षितलक्षणा न मानने पर उक्त लक्षणा का उच्छेद नहीं होगा, अपितु 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' आदि स्थलों में लक्षितलक्षणा सुगमतापूर्वक हो सकेगी।[3] लाक्षणिक पदों का पर्याय के रूप में कोशादि-ग्रन्थों में नहीं पाये जाने के विषय में **भट्ट** की विचारधारा का खण्डन करते हुए **वृत्तिदीपिका** के सम्पादक **श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी** ने जो विचार व्यक्त किये हैं, प्रसङ्गोपात्त होने के कारण यहां दिये जाने आवश्यक हैं। **चतुर्वेदी** ने अपने टिप्पण

---

1 लक्षितलक्षणाऽप्येको भेदः। 'द्विरेफ', 'कदम्ब' इत्युदाहरणम्। तत्र (द्विरेफ-पदं) 'द्वौ रेफौ यत्र' इति बहुव्रीहित्वाद् रेफद्वयसम्बन्धिन्यर्थे शक्तम्। यद्यपि योगमात्रं कू रादिपदेऽपि अस्ति, तथापि रूढ्या भ्रमरपदमेव बोधयति। तेन च स्वशक्यसम्बन्धी भ्रमररूपोऽर्थो लक्ष्यते इति द्विरेफपदस्य भ्रमरे लक्षणा। ·········इयमतिरिक्तेति प्राञ्चः। तन्न। शक्यसम्बन्धो हि लक्षणा, न तु शक्यस्य साक्षात् सम्बन्धः। गौरवात्।
—वृत्तिदीपिका, पृ. 11

2 वस्तुतस्तु द्विरेफपदस्य भ्रमरे शक्तिरेव, अत एव भ्रमरपर्यायेषु द्विरेफपदस्य कोशेषु पाठः। न हि लाक्षणिकानां पर्यायेषु क्वचित्पाठः कोशेषु दृश्यते। बाधप्रतिसन्धानं विनैव द्विरेफपदात् भ्रमरोपस्थितेश्च शक्तिरेवोचिता, न तु लक्षणा।
—वही, पृ. 11

3 नन्वेवं लक्षितलक्षणोच्छेदापत्तिरिति चेन्न। 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' इत्यादौ लक्षितलक्षणां विनाऽनिर्वाहात्।
—वही, पृ. 11

के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि लाक्षणिक पदों के पर्यायों का भी कोशादि-ग्रन्थों में पाया जाना सम्भव है ।[1]

नागेश ने **वैय्याकरणसिद्धान्तमंजूषा** में लक्षितलक्षणा प्रकरण को उठाया ही नहीं है, किन्तु **परमलघुमंजूषा** तथा **लघुमंजूषा** में पूर्व-पक्ष को विरोधी पक्ष के रूप में उपस्थापित कर उत्तरपक्ष में लक्षितलक्षणा की स्थापना की है । **परमलघुमंजूषा** के अनुसार—जहां पर शक्य से, परम्परा सम्बन्ध से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहां लक्षितलक्षणा होती है । यथा—द्विरेफ-पद ।[2] **नागेश** ने 'द्विरेफ'पद को रूढ़ि-शक्ति से भ्रमर पद का बोधक माना है, यहां पर उन्होंने अव्ययार्थ की प्रतीति रथन्तरादिवत् स्वीकार नहीं की है । उन्होंने 'द्विरेफ'पद से भ्रमर-अर्थ की प्रतीति लक्षणा से असम्भव मानी है, अतएव यहां पर उन्होंने लक्षितलक्षणा का व्यवहार स्वीकार किया है ।[3]

परमलघुमञ्जूषा के एक टीकाकार **अलखदेव शर्मा** ने 'द्विरेफो रौति' यहां पर शब्दकर्तृव्युत्पत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति से लक्षितलक्षणा के द्वारा मधुप-अर्थ का बोध माना है । यद्यपि **मौनिश्रीकृष्णभट्ट** ने द्विरेफ-पद में लक्षितलक्षणा नहीं मानी, किन्तु परवर्ती **नागेश** ने यहां पर लक्षितलक्षणा का पूर्ण समर्थन किया है । द्विरेफ-पद में लक्षितलक्षणा मानने अथवा न मानने के विषय में आचार्यों ने अपने विचार प्रस्तुत किए, किन्तु **गागाभट्ट** ने जो तथ्य से उपेत विचार प्रस्तुत किए वे भी प्रसङ्गतः वर्णनीय हैं । **गागाभट्ट** का कथन है कि कुशल-पद को यदि रूढिलक्षणा का उदाहरण न मानकर उसे अभिधागम्य माना जा सकता है, तो 'द्विरेफ'पद में भी लक्षितलक्षणा कैसे मानी जा सकती है ? क्योंकि द्विरेफ पद भी भ्रमर अर्थ में रूढ हो चुका है ।

---

1 रभसोक्तिरियम्, 'कृती कुशल इत्यपि' (अमरकोष, तृ. का. वि. वर्ग, श्लोक 4), इत्यादौ निरूढलाक्षणिकानां पर्यायेषु पाठदर्शनात् ।
—वृत्तिदीपिका, (सम्पा. श्रीपुरुषोत्तम शर्मा), पृ. 11

2 द्विरेफपदस्य स्वलक्ष्यभ्रमरशब्दवाच्यार्थे लक्षणायां लक्षितलक्षणेति व्यवहारः । स्वबोध्यपदवाच्यत्वं सम्बन्धः ।
—परमलघुमञ्जूषा, पृ. 47

3 'द्विरेफ'पदं तु रूढिशक्त्या भ्रमरबोधकम् । अवयवार्थप्रतीतिस्तु नास्त्येव, रथन्तरादिवत् । ……… न च 'द्विरेफ'पदाल्लक्षणया तदुपस्थितिः, अत एवात्र लक्षितलक्षणेति व्यवहारः ।
—वैय्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृ. 128

कोश में, भ्रमर, द्विरेफ ये शब्द पर्यायवाची-शब्द के रूप में पाये जाते हैं, अतः स्ववाच्यत्वपदवाच्यत्व-सम्बन्ध से द्विरेफ-पद की भ्रमर-अर्थ में लक्षणा होती है, यह तार्किकों का कथन निरस्त हो जाता है। अन्यथा 'अक्रूर' शब्द में भी उक्त सम्बन्ध होने के कारण वहां भी लक्षितलक्षणा के लिए सावकाश होने के कारण अतिव्याप्ति हो जायेगी, अतः इनकी मान्यता के अनुसार लक्षितलक्षणा का जहत्स्वार्था में अन्तर्भाव हो जायेगा।[1]

आशाधरभट्ट के अनुसार जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण में संयोग और समवाय-सम्बन्धों की समष्टि से संयुक्त-समवाय आदि सम्बन्ध हुआ करते हैं, उसी प्रकार लक्षितलक्षणा इत्यादि में परम्परा-सम्बन्ध का भी उपयोग देखा जाता है। यथा—भ्रमर आदि शब्दों में 'रेफद्वय' को देखकर, पद में रेफ-सम्बन्ध के आधार पर लक्षितलक्षणा के द्वारा 'द्विरेफ' पद से षट्पद-पिण्ड का बोध होता है, अतः यहां लक्षितलक्षणा है। यदि वाच्यवाचक-सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा के द्वारा वाच्य और वाचक पदों में अभेद-आरोप मान लिया जाए, तो 'द्विरेफ' पद से 'भ्रमर' शब्द का और 'भ्रमर' शब्द से अभेदबोध द्वारा 'षट्पद' अर्थ का बोध होने के कारण भी लक्षितलक्षणा ही होगी।[2]

भट्ट ने कोविदानन्द में इन्हीं शब्दों को प्रकारान्तर से वर्णित करते हुए कहा कि कभी-कभी वाच्य-वाचक-भावसम्बन्ध के कारण वाचकगत वशिष्ट्य का प्रयोग करते हुए लक्षितलक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति करायी जाती है। उन्होंने लक्षितलक्षणा का उदाहरण 'गुञ्जद्द्विरेफैः पुष्पौघैः' दिया है, इस वाक्य में द्विरेफ-शब्द से भ्रमर-शब्द की प्रतीति होकर भ्रमर-अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'द्व्यक्षर' आदि पदों से मांस आदि अर्थ की

---

1 स्वशक्यार्थाविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका जहत्स्वार्था, गङ्गायां घोष इत्यादौ। लक्षितलक्षणायाः अप्यत्रैवान्तर्भावः। स्ववाच्यपदघटकवर्ण-द्वयघटितपदवाच्यत्वरूपसम्बन्धस्यैव द्विरेफादिपदे लक्षितलक्षणात्वात्। एतेन द्विरेफपदेन भ्रमरपदं लक्ष्यते तेन शक्त्या भ्रमरबोध इत्यपास्तम्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ. 57-58

2 लक्षितेन—लक्षणया गृहीतेन भ्रमरादिशब्देन द्विरेफादेः षट्पदपिण्डादौ लक्षणालक्षितलक्षणेत्युच्यते। ....वाच्यवाचकभावेन लक्षणया-ऽभेदारोपाद् भ्रमरशब्दलक्षितषट्पदे द्विरेफशब्दस्योक्तरीत्या लक्षणा लक्षितलक्षणा।
—त्रिवेणिका, पृ. 30

प्रतीति होती है। उक्त दोनों उदाहरणों में **भट्ट** ने लक्षितलक्षणा को मानते हुए कहा कि यह लक्षितलक्षणा निरूढा ही होती है, प्रयोजनवती नहीं होती है।[1]

रामकर्ण-आसोपा ने **यशवन्तयशोभूषण** में निरुढा-लक्षणा को अङ्गीकार करना अर्वाचीन आलङ्कारिकों का महाप्रमाद माना है, क्योंकि व्युत्पत्ति-रहित रूढ-शब्दों का बोध अभिधाशक्ति से हो जाता है। यथा —कुशल, निपुण, आखण्डलादि शब्द प्रसिद्ध ही हैं।[2]

निष्कर्ष

मम्मट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहकर लक्षणा का जो विभाजन किया उसके अतिरिक्त वेदान्तियों ने जहदजहत्स्वार्था नामक लक्षणा का एक अन्य भेद और माना है। इसके अतिरिक्त लक्षितलक्षणा नामक एक अन्य-वृत्ति भी है, जिसका सर्वप्रथम स्फुट-विवेचन मीमांसकों तथा नैयायिकों ने अपनी कृतियों में किया। यद्यपि नव्यनैयायिक उसे वृत्यन्तर मानने को तैयार नहीं हैं, तथापि प्राचीन नैयायिक **न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार** आदि शब्दार्थ के परम्परात्मक-सम्बन्ध में लक्षितलक्षणा स्वीकार करते हैं। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** तथा **न्यायपञ्चाननविश्वनाथ-प्रभृति** आचार्य गौणी को भी लक्षितलक्षणा का अङ्ग मानते हुए दोनों में ऐक्य, अर्थात् अभेद मानते हैं।

आलङ्कारिक एवं नव्यवैयाकरण-प्रभृति आचार्यों ने भी इसकी चर्चा की है। वेदान्ती इसे गौणी-वृत्ति में समाहित कर लेते हैं। इसकी अनेक परिभाषाएं दी गई हैं, तथापि इसकी प्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार से है—

---

1 तद्वाच्यवाचकत्वेन भवेल्लक्षितलक्षणा ॥ 19 ॥
गुञ्जद्द्विरेफैः पुष्पौघैः पूज्यो भक्तैः शिवो यथा।
द्व्यक्षरं मांसमित्यादौ निरूढेष्वेव नान्यतः ॥ 20 ॥
—कोविदानन्द, पृ. 30

2 मम मतम्, तु रूढनाम्नामक्षरार्थराहित्याद् रूढसंज्ञा। 'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः' इति हैमः। अत एव कुशलो निपुणः, आखण्डल इन्द्र इत्यर्थोऽभिधाशक्तिबोध्यः। ......इति सङ्केतितत्वात् एवमन्यदपि पुनश्चावयवार्थरहितनाम्नां हठात्कपोलकल्पितार्थकल्पनां कृत्वा रूढालक्षणाङ्गीकारस्त्वर्वाचीनानां महाप्रमादः।
—यशवन्तयशोभूषण, (अनु. रामकर्ण-आसोपा), पृ. 73

जहां शक्यार्थ की परम्परा-सम्बन्धरूपा लक्षणा हो, उसे लक्षितलक्षणा कहते हैं। यथा—'द्विरेफौ रौति' यहां 'द्विरेफ' का जो अर्थ है–'दो रेफ', वह दो रेफ वाला जो शक्यार्थ, उसका भ्रमर पद से अवयविता सम्बन्ध है। इस पद का अभिधात्मक-सम्बन्ध अपने वाच्य मधुप अर्थ में है। इस प्रकार यहां द्विरेफ पद का शक्यसम्बन्धी, अर्थात् भ्रमर पद बना और उसका सम्बन्ध 'मधुप' से हुआ। यह सम्बन्ध परम्परात्मक-सम्बन्ध है, अतः यहां पर नैयायिकों के अनुसार परम्परात्मक-सम्बन्धरूपा लक्षितलक्षणा है, क्योंकि साक्षात् सम्बन्धों के रहने पर ही लक्षणा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।

कुमारिलभट्ट ने **शाबरभाष्य** की **टुप्टीका** नामक टीका में इस लक्षितलक्षणा को वर्णित किया है। **मुकुलभट्ट** प्रसिद्धि पर निर्भर रहने के कारण इस लक्षणा को रूढि जैसा ही मानते हैं। **मम्मट** ने **काव्यप्रकाश** में तथा **शब्दव्यापारविचार** में इस लक्षणा की चर्चा तक नहीं की है। **शब्दव्यापारविचार** में द्विरेफ-शब्द निरूढा-लक्षणा के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया गया है। **शालिकनाथ** ने लक्षितलक्षणा के प्रति अरुचि प्रदर्शित की है। **भोज** ने **शृङ्गारप्रकाश** में लक्षितलक्षणा को लक्षणा से भिन्न माना है, किन्तु इसका लक्षण वहां उपलब्ध नहीं होता है। लक्षितलक्षणा के **भोज** ने वहां छः भेद किए हैं। **सरस्वतीकण्ठाभरण** में इसका उल्लेखमात्र प्राप्त होता है। उसके टीकाकार **रत्नेश्वर** ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में लक्षितलक्षणा-विषयक अनेक मतों की उपस्थापना की है।

श्रीनिवासाचार्य ने **न्यायपरिशुद्धि** में मुख्यार्थ-सम्बन्ध से होने वाली प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा नामक दो भेद वर्णित किए हैं। आलङ्कारिक **विश्वनाथदेव** के अनुसार—जहां अपने अर्थ के परित्याग से दूसरे अर्थ की कल्पना होती है, वहां आचार्यों ने लक्षितलक्षणा को स्वीकार किया है। वेदान्ती **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने **वेदान्तपरिभाषा** में गौणी भी लक्षितलक्षणा है, कहकर गौणी-लक्षणा को इस लक्षितलक्षणा में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार 'सिंहो माणवकः' इत्यादि गौणी-लक्षणा-स्थल में सिंह-शब्द के वाच्य (सिंह-व्यक्ति) के सम्बन्धी शौर्य-क्रौर्य आदि धर्मों शौर्य-क्रौर्य आदि धर्म-सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति लक्षणा-वृत्ति ही है, अर्थात् सिंह शब्द के वाच्य (सिंह-व्यक्ति) के सम्बन्धी शौर्य-क्रौर्य आदि धर्मों से सादृश्य रखने वाले (माणवक के) शौर्य-क्रौर्य आदि द्वारा माणवक की प्रतीति होती है।

मौनिश्रीकृष्णभट्ट के अनुसार द्विरेफ-पद में लक्षितलक्षणा तो होनी दूर रही, यह निरूढा-लक्षणा का भी विषय न होकर अभिधा का विषय माना

जा सकता है, क्योंकि 'द्विरेफ' पद की भ्रमर-अर्थ में शक्ति, अर्थात् अभिधा ही है, क्योंकि अभिधेय पदों के जैसे कोशादि में पर्यायवाची अनेक शब्द मिलते हैं, उसी प्रकार भ्रमर के पर्याय के रूप में 'द्विरेफ' आदि पदों का कोश में पाठ मिलता है। लाक्षणिक-पदों का इस प्रकार कोषादि ग्रन्थों में पाठ नहीं मिलता है। गङ्गा पद का पर्याय-रूप में तट-अर्थ कहीं भी समुपलब्ध नहीं होता है। **भट्ट** लक्षितलक्षणा के उच्छेद की सम्भावना का समाधान 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' इत्यादि स्थलों में लक्षितलक्षणा मानकर उक्त लक्षणा की उच्छेदापत्ति का निराकरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

नागेश ने **परमलघुमंजूषा** में कहा है कि—जहां पर शक्यार्थ के परम्परा-सम्बन्ध से अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहां लक्षितलक्षणा होती है, जिसका उदाहरण उन्होंने 'द्विरेफ' शब्द दिया है। **गागाभट्ट** की इससे स्पष्ट विमति है, उनका कथन है—कुशल पद को यदि रूढि-लक्षणा का उदाहरण न मानकर उसे अभिधागम्य माना जा सकता है, तो 'द्विरेफ' पद की भ्रमर-अर्थ में लक्षणा होती है, तार्किकों का यह कथन निरस्त हो जाता है, क्योंकि 'द्विरेफ' पद भी भ्रमर अर्थ में रूढ हो चुका है। कोश में भ्रमर, द्विरेफ ये शब्द पर्यायवाची शब्द के रूप में पाये जाते हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत-अध्याय में विभिन्न आचार्यों के मतानुसार लक्षणा के लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्वय की असङ्गति का ज्ञान होने पर जो शक्यार्थ के सम्बन्ध का स्मरण होता है, उससे जो संस्कार उद्बुद्ध होता है, वह उद्बुद्ध-संस्कार ही लक्षणा कही जाती है, यह लक्षण प्राचीन दीक्षितादि नाम से प्रचलित है। दूसरा मत नैयायिकों का है, जो शक्यसम्बन्ध नाम से प्रसिद्ध है। नैयायिकों की मान्यता के अनुसार शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है। मीमांसकों की मान्यता इससे भिन्न है। उनकी मान्यता है कि शक्यार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान होने पर जो अशक्य-अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है।

वैय्याकरणों के अनुसार शक्यता का आरोप ही लक्षणा है। वैय्याकरण लक्षणा-शक्ति को भिन्नरूपेण स्वीकार नहीं करते हैं। इनके अनुसार लक्षणा-शक्ति अभिधा से भिन्न नहीं है। इनके मत में अभिधा—प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध भेद से द्विधा विभक्त होती है। प्रसिद्ध-अर्थ—सङ्केतित-अर्थ को उपस्थित करने में अभिधा ही कारण है, किन्तु असङ्केतित-अर्थ को उपस्थित करने में किसी हेतु को नहीं प्राप्त कर, सङ्केतित के धर्म का असङ्केतित अर्थ में आरोप कर लिया जाता है। इसे अन्य के धर्म का अन्य में अध्यास भी कह सकते हैं। इसी शक्यतावच्छेदक-धर्म के आरोप का, लक्षणा-शब्द से व्यवहार होता

है। 'गङ्गा में घोष बसता है' इस वाक्य के गङ्गा पद का अर्थ जो प्रवाह है, उससे भिन्न तीर-रूप अर्थ की उपस्थिति, प्रवाहगतधर्म, प्रवाहत्व का आरोप करके (अध्यास करके) अभिधा के ही द्वारा होती है, अतः लक्षणा-शक्ति अभिधा से भिन्न नहीं है। शक्यतावच्छेदक धर्म जैसे अभिधा-स्थल में था, वैसे ही लक्षणा-स्थल में भी है, किन्तु धर्ममात्र ही बदल गया। पहले धर्म प्रवाह था, अब तीर हो गया। आलङ्कारिकों के अनुसार तात्पर्य की अनुपपत्ति होने के कारण रूढि अथवा प्रयोजनवश वाच्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाली जो शब्द की आरोपित-वृत्ति है, उसका नाम लक्षणा है।

लक्षणा के इस विवेचन में कुछ रोचक प्रश्न उभर कर आए हैं, जो भाषा-चिन्तन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणतः एक ओर **गोकुलनाथ-उपाध्याय** का कहना है कि रूढि-लक्षणा में भी प्रयोजन रहता है। दूसरी ओर **नागेशभट्ट** का मत है कि रूढि-लक्षणा में प्रयोजन नहीं रहता है। कुशल जैसे शब्द का अर्थ—दक्ष, लक्षणा द्वारा प्रतीत होता है, ऐसा **मम्मट** जैसे प्रौढ आचार्यों का कहना है, किन्तु **चण्डीदास** यहां लक्षणा नहीं मानते हैं। यह प्रश्न संस्कृत जैसी समृद्ध तथा निर्वचन-प्रधान भाषा के सन्दर्भ में बहुत महत्त्व का है।

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा किए गए विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय काव्यशास्त्री निरन्तर विकासशील तथा चिन्तनशील रहा है। परम्परा उसका गतिरोध नहीं कर सकी। इस विकास में दार्शनिक और वैय्याकरणों का भी भरपूर योगदान रहा। विचार-स्वातन्त्र्य इतना अधिक रहा है कि जहां **मम्मट** स्वयं प्रयोजनवती शुद्धा में ही लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा भेद मानते हैं, वहां स्वयं उनके टीकाकार **महेश्वरन्यायालंकार** प्रयोजनवती गौणी में भी इन दोनों की सत्ता मानते हैं। इसी प्रकार **महेश्वरन्यायालंकार, काव्यप्रकाश** के टीकाकार होकर भी **मुकुलभट्ट** के ताटस्थ्य-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

जहदजहत्-लक्षणा जैसे कुछ लक्षणा के भेदों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्री दार्शनिक-विवेचनों से सदा प्रभावित होता है। लक्षणा के इन भेदों और उपभेदों के वर्णन से यह तथ्य भी सामने आता है कि कौनसी लक्षणा किस अलङ्कार के मूल में रहती है। उदाहरणतः **अमरचन्द्रयति** ने साध्यवसाना-लक्षणा को अतिशयोक्ति अलङ्कार का बीज माना है। **आशाधरभट्ट** ने इस ओर सूक्ष्मता से विचार करते हुए सारोपा-लक्षणा को रूपकालङ्कार का मूल और साध्यवसाना को रूपकातिशयोक्ति का मूल माना है।

उपसंहार

भारतीय-वाङ्मय में शब्द को ज्योतिपुञ्ज के रूप में कल्पित किया गया है। समस्त-ज्ञान इसी से अनुबिद्ध है। सभी दर्शन इसकी महिमा का प्रतिपादन करते हुए नहीं अघाते हैं। शब्द को ध्वनिरूप एवं वर्णरूप से आचार्यों ने द्विधा विभाजित किया है। वर्णरूप के कारण यही शब्द, प्रत्यक्ष के समान ही अर्थ-बोध का माध्यम भी है। **पतञ्जलि** को भी शब्द की उपयोगिता अर्थ-बोध कराने में ही अभिप्रेत है। वैय्याकरण शब्द को ध्वनि एवं स्फोट-रूप से द्विधा विभाजित करते हैं। काव्यशास्त्री भी वैय्याकरणों की इस स्फोट-विषयक मान्यता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उन्होंने वैय्याकरणों से प्रभावित होकर व्यञ्जक-शब्द और अर्थ दोनों को ही ध्वनि सञ्ज्ञा दी। काव्यशास्त्र का ध्वनि-शब्द वस्तुतः नाद और स्फोट तक ही सीमित नहीं है, उनके अनुसार व्यञ्जना-शक्ति, व्यङ्ग्यार्थ और ध्वनि-प्रधान-काव्य भी ध्वनि में समाहित हैं।

मीमांसक, नैयायिक तथा वेदान्ती ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु आलङ्कारिकों ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, इन वृत्तियों को स्वीकार किया है। आलङ्कारिकों तथा नव्य-वैय्याकरणों को छोड़कर मीमांसक तथा वेदान्ती भी अभिधा और लक्षणा इन दो ही शक्तियों को मानते हैं, किन्तु प्राचीन वैय्याकरण **कौण्डभट्ट** आदि अभिधा और व्यञ्जना को मानने के पक्षपाती हैं। मीमांसक, अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-वृत्ति को मानते हैं। शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वृत्ति-विवेचन के सन्दर्भ में कहा गया है कि मुख्य-व्यापार, अर्थात् अभिधा को प्रत्यक्ष-प्रमाण के समान ही सभी आचार्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। नैयायिक तथा वेदान्ती इन वृत्तियों में से अभिधा और लक्षणा को स्वीकार करते हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसक, अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य-वृत्ति को तथा अन्विताभिधानवादी अभिधा एवं लक्षणा इन दो ही वृत्तियों को स्वीकार करते हैं।

महिमभट्ट को छोड़कर अन्य साहित्य-शास्त्री अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनों वृत्तियों को स्वीकार करते हैं। अधिकांश आचार्य तात्पर्य-वृत्ति को नहीं मानते हैं, अतः इस अध्याय में उक्त तीन वृत्तियों पर ही विशेष-रूप से प्रकाश डाला गया है। अभिधा ही मुख्यार्थ-विषयिणी शक्ति है, जो वाच्यार्थ का बोध कराती है। जब कोई पद मुख्य-वृत्ति—अभिधा

द्वारा, विवक्षित-अर्थ का बोध नहीं करा सकता, तब उसके लिए नयी वृत्ति, जिसे लक्षणा नाम से अभिहित किया जाता है, प्रवृत्त होती है। **शोभाकरमिश्र** के अनुसार लक्षणा काव्य का प्राण है। इसका वर्णन मीमांसा, न्याय, व्याकरण, वेदान्त तथा काव्यशास्त्रीय-ग्रन्थों में पाया जाता है।

लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त अन्य प्रतीयमान-अर्थ का बोध व्यञ्जना नामक व्यापार से होता है, अतः प्रतीयमान-अर्थ का बोध न अभिधा से ही होता है और न लक्षणा से ही, क्योंकि अभिधा वाच्यार्थ का बोध करा कर विरत हो जाती है। लक्षणा भी वाच्यार्थ से सम्बद्ध-अर्थ—लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विश्रान्त हो जाती है, अतः वाच्यार्थ से असम्बद्ध-अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना नाम की वृत्ति भी आलङ्कारिकों ने स्वीकार की है। **विषय प्रवेश** नामक प्रथम अध्याय में उक्त विषय को विवेचित किया गया है।

आकरस्रोत-ग्रन्थ नामक द्वितीय अध्याय में ई. पू. से लेकर आधुनिक-काल तक के काव्यशास्त्र एवं तद्व्यतिरिक्त अन्य शास्त्रों में लक्षणा-विषयक विवेचन करने वाले आचार्यों तथा लक्षणा के विरोधी आचार्यों को ऐतिहासिक-क्रम से प्रस्तुत किया गया है तथा उनकी लक्षणा-विषयक-कृतियों का परिचय दिया गया है। कतिपय प्राचीन अज्ञात तथा अल्पश्रुत तथा अर्वाचीन आचार्यों को भी इसमें स्थान दिया गया है, जिनकी लक्षणा-विषयक मान्यताएं अभी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आई हैं। इस प्रकार के आचार्यों में **भावदेव, गोकुलनाथ-उपाध्याय, विश्वनाथदेव, रामकर्ण-आसोपा, दीनबन्धु-झा** आदि मुख्यतः आते हैं।

लक्षणा का विवेचन : उद्भवकाल नामक तृतीय अध्याय में यह बताया गया है कि **जैमिनी, गौतम, पतञ्जलि**-प्रभृति दार्शनिक तथा वैय्याकरण, आलङ्कारिकों से भी पूर्व शब्दों के औपचारिक-प्रयोग से सुपरिचित थे। शब्दों के अभेदारोप-विषयक वाक्यों का उनके द्वारा उपन्यास किया जाना इस कथन को पुष्ट करता है। आलङ्कारिकों में **भामह, दण्डी, भट्टोद्भट, रुद्रट** आदि ने, लक्षणा के विवेचन की दृष्टि से न सही, अलङ्कार अथवा गुण आदि के माध्यम से शब्द-शक्ति-विषयक जिस मान्यता को उद्धृत किया, तदनुसार अनुमान किया जा सकता है कि वे अभिधा, लक्षणादि वृत्तियों से पूर्ण-परिचित ही नहीं थे, अपितु उसे अपने ग्रन्थों में व्यवहृत करने के लिए सचेष्ट भी थे।

वामन ने वक्रोक्ति-अलङ्कार के वर्णन के माध्यम से लक्षणा की उपयोगिता का पूरा लाभ यह कहकर उठाया कि 'असादृश्यनिबन्धना लक्षणा न वक्रोक्तिः'। **अग्निपुराणकार** ने अभिव्यक्ति नामक अलङ्कार के वर्णनावसर

पर औपचारिकी के गर्भ में लक्षणा को सभेद वर्णित किया। **ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य आनन्दवर्धन** ने ध्वनि-तत्त्व का प्रतिष्टापन किया, उन्होंने तात्पर्य-शक्ति को अस्वीकार करके केवल अभिधा, गुण-वृत्ति तथा व्यञ्जना नामक तीन शक्तियों को अङ्गीकार किया। उन्होंने गुणवृत्ति (लक्षणा) को, निरूढा तथा प्रयोजनवती भेद से द्विधा विभक्त कर प्रयोजनवती-लक्षणा को भी अभेदोपचाररूप तथा लक्षणारूप आदि भेदों में विभाजित कर लक्षणा के विभाजन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

लक्षणा का विवेचन : **विकासशील** नामक चतुर्थ अध्याय में लक्षणा की परिभाषा करने वालों में **मुकुलभट्ट** ने जो लक्षणा का लक्षण किया है, वह स्पष्ट नहीं है। **कुमारिलभट्ट** आदि मीमांसक गौणी और लक्षणा को भिन्न-भिन्न वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः उन्होंने 'अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणेष्यते' तथा 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में लक्षणा और गौणी को परिभाषित किया है। **कुमारिल** के अनुसार वाच्यार्थ से सम्बद्ध-अर्थ की प्रतीति लक्षणा है। लक्ष्यमाण गुणों के योग की अपेक्षा रखने के कारण ही गौणी-वृत्ति कही जाती है। इस प्रकार मीमांसक शक्यार्थ से अशक्य की प्रतीति को लक्षणा मानते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि शक्यार्थ पद का होता है, अतः मीमांसक-प्रोक्त लक्षणा के लक्षण से वाक्य में लक्षणा कैसे हो सकेगी जो मीमांसक मतानुयायियों को अभिमत है ? दूसरी कमी उक्त लक्षणा में यह भी दृष्टिगोचर होती है कि मुख्यार्थबाध जो लक्षणा की प्रथम शर्त है, का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः उक्त लक्षण स्वयं में अपूर्ण ही कहा जा सकता है।

लक्षणा के लक्षण-विषयक उक्त दोष को परवर्ती **शालिकनाथमिश्र** तथा **वाचस्पतिमिश्र** ने कुछ अंशों में दूर करने का प्रयास किया है—मुख्य-अर्थ का सम्बन्ध जब वाक्यार्थ में अनुपपन्न हो जाता है, तब उसके सम्बन्ध-वश प्राप्त अर्थ से अन्वय, जहां संगत हो वहां लक्षणा होती है। **मम्मट** से पूर्व मीमांसकों ने शक्य से अशक्य की प्रतीति को लक्षणा माना है।

सर्वप्रथम **मम्मट** ने **काव्यप्रकाश** में जो लक्षणा का लक्षण किया तथा परवर्ती आचार्यों ने जिसे स्वीकार कर अपने लक्षण-ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न शब्दावलियों के माध्यम से जो स्थान दिया, वस्तुतः लक्षणा का पूर्ण-लक्षण कहा जा सकता है। जिसका अनुकरण **परमानन्दचक्रवर्ती** आदि टीकाकारों ने तथा **अजितसेन**, **विद्यानाथ** आदि लक्षण-ग्रन्थकारों ने किया। **गोकुलनाथ** आदि कतिपय आचार्यों ने मुख्यार्थ-सम्बन्ध से जन्य प्रवृत्ति-निमित्त-प्रकारिका-स्मृति को लक्षणा माना तथा **नरसिंह** ने वाच्यार्थ की संगति के लिए

तत्सम्बन्धी शक्यार्थ में आरोपित शब्द को लक्षणा माना। कतिपय **श्रीवत्स-लाञ्छन** आदि आचार्य 'मुख्यार्थबाध' के स्थान पर 'मुख्यार्थ की अविवक्षा' शब्द को व्यवहृत करते हैं, जो अधिक संगत प्रतीत होता है।

वेदान्तियों ने शक्य के साक्षात्-सम्बन्ध को केवललक्षणा तथा शक्य से परम्परितसम्बन्ध होने पर लक्षितलक्षणा मानकर लक्षणा को द्विधा विभाजित किया है। कुछ आलङ्कारिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने भर्तृमित्र की निम्न कारिका को व्यवहृत किया है।

"अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मतेः॥"

इसे **कुमारिलभट्ट** तथा **अग्निपुराणकार** ने लक्षणा के लक्षण के रूप में व्यवहृत किया था, उसी शब्दावली को परवर्ती **प्रभाकरभट्ट**, **मंखक**, **शारदा-तनय**, **कविकर्णपूर** आदि ने भी दोहराया।

अच्युतराय ने तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर अर्थारोप-पुरस्सर शक्य-सम्बन्ध की बोधिका शाब्दी-वृत्ति को लक्षणा माना। **कणादतर्कवागीश** ने शक्य से अशक्य की उपस्थिति को लक्षणा मानने वालों का खण्डन किया, क्योंकि शक्य से अशक्य की प्रतीति लक्षणाजन्य है, वही लक्षणा नहीं है। लक्षणा तो शक्य-सम्बन्ध है। **मम्मट** ने आरोपिता क्रिया को लक्षणा माना है तो **विश्वनाथ** अर्पितशक्ति को लक्षणा मानते हैं। **नरेन्द्रप्रभसूरि** के अनुसार अन्य का आरोप उपचार कहलाता है। यही उपचार लक्षणा-नामक शब्द-व्यापार है। नैयायिक **विश्वनाथ-न्यायपंचानन** ने तात्पर्य-शक्ति को लक्षणा के लक्षण में और जोड़ दिया है। इस प्रकार उन्होंने तात्पर्यानुपपत्ति-पुरस्सर शक्य के सम्बन्ध को लक्षणा माना तथा तात्पर्यान्वियानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना।

प्रयोजक-सम्बन्धों के आधार पर भी लक्षणा का विभाजन होता है। **पतञ्जलि** ने जिन चार प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा की, उनको सर्वप्रथम **मम्मट** ने अधिक सुव्यवस्थित रूप से विवेचित किया। **हेमचन्द्र** ने भी मम्मट-कथित सम्बन्धों के अतिरिक्त मानमेयभाव-सम्बन्ध, संयोग-सम्बन्ध, वैपरीत्य-सम्बन्ध, इन अन्य तीन सम्बन्धों की भी चर्चा की है। **पार्थसारथि-मिश्र** ने तत्सिद्धि आदि छः सम्बन्धों में गौणी-वृत्ति का होना स्वीकार किया। प्रतीत होता है कि **मिश्र काव्यप्रकाश** के साथ ही प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा के विषय में **जैमिनि** से भी प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं।

जयदेव, **मम्मट**-कथित सम्बन्धों के अतिरिक्त अनेक अन्य प्रयोजक-सम्बन्धों की चर्चा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका उल्लेख अन्य आचार्यों की

कृतियों में नहीं पाया जाता है। प्रयोजक-सम्बन्धों के विषय में **पण्डितराज-जगन्नाथ** मौन दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उनके परवर्ती **आशाधरभट्ट** का प्रयोजकसम्बन्धी विवेचन सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उन्होंने **त्रिवेणिका** में प्रयोजक-सम्बन्धों का लक्षण-पुरस्सर संयोग, समवाय तथा विशिष्ट-बुद्धियोग्य भेद से जो विभाजन किया, वह न्यायशास्त्र-अनुमत सम्बन्धों के अनुसार ही किया है। **भट्ट** ने संयोग-सम्बन्ध को व्याप्यव्यापक-भाव-सम्बन्ध, सामीप्य-सम्बन्ध, धार्यधारकभाव-सम्बन्ध, साहचर्य-सम्बन्ध, आधाराधेयभाव-सम्बन्ध नाम से पञ्चधा विभाजित किया है। इसी प्रकार समवाय-सम्बन्ध को अवयवावयविभाव-सम्बन्ध, गुणगुणीभाव-सम्बन्ध, क्रिया-क्रियावद्भाव-सम्बन्ध, जातिव्यक्तिभाव-सम्बन्ध, विशेषनित्यद्रव्यभाव-सम्बन्ध आदि भेदों से पञ्चधा विभक्त किया है तथा विशिष्टबुद्धियोग्य-सम्बन्ध को जन्यजनकभाव-सम्बन्ध, विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध, वर्ण्यवर्णकभाव-सम्बन्ध, उपमानोपमेयभाव-सम्बन्ध आदि सम्बन्धों से विभाजित कर प्रयोजक-सम्बन्धों के इतिहास में एक नयी दृष्टि दी है।

लक्षणा के पदगतत्व तथा वाक्यगतत्व के विषय में अनेक मतभेद सामने आते हैं। मीमांसकों को पद तथा वाक्य दोनों में लक्षणा मान्य है। नैयायिक लक्षणा के पदगतत्व का ही समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वेदान्ती न केवल नैयायिकों की तरह लक्षणा के पदगतत्व का ही समर्थन करते हैं, अपितु वाक्य में भी लक्षणा की सत्ता उन्होंने स्वीकार की है। आलङ्कारिक भी इस विषय में अपनी मान्यताओं के कारण दो भागों में विभाजित दृष्टि-गोचर होते हैं। मीमांसक **शम्भुभट्ट** तथा **गागाभट्ट** एवं **जगदीशतर्कालंकार** वाक्यलक्षणा के समर्थक हैं। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में **विश्वनाथ** वाक्य-लक्षणा का खण्डन कर लक्षणा के पदगतत्व को ही स्वीकार करते हैं। **वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार वाक्य में भी लक्षणा मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। आलङ्कारिकों में **मम्मट**, **अप्पयदीक्षित** तथा **विश्वेश्वर**-प्रभृति आलङ्कारिक पदगतत्व के ही समर्थक हैं, किन्तु **विश्वनाथ**, **नरसिंह**-प्रभृति आचार्य वाक्यगत-लक्षणा का भी समर्थन करते हैं।

अच्युतराय, **विश्वनाथ-न्यायपंचानन**, **जगदीशतर्कालङ्कार** प्राचीन आचार्य तथा **दीनबन्धु झा**-प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने पद और वाक्य के अतिरिक्त समस्तपदों में भी लक्षणा मानी है, किन्तु कर्मधारय-समास में विशेषण तथा विशेष्य में अभेद-सम्बन्ध होने के कारण उक्त आचार्यों को वहां लक्षणा मान्य नहीं है। इसी प्रकार द्वन्द्व-समास में भी लक्षणा न मानने वाले आचार्यों का जहां बहुमत है, वहां **अच्युतराय** जैसे आलङ्कारिक द्वन्द्व-समास में लक्षणा

मानते हैं। इस प्रकार अव्ययीभाव, तत्पुरुष, एकशेष-द्वन्द्व, बहुव्रीहि-समास में आचार्यों ने लक्षणा मानी है। **नैयायिक जगदीशतर्कालंकार-भट्टाचार्य** ने **तर्कामृत** में प्रत्ययों में भी लक्षणा को खोज निकाला है। उनके अनुसार सन्, तुमुन् तथा शतृ, शानचादि प्रत्ययों के योग में भी लक्षणा की सत्ता विद्यमान रहती है।

लक्षणा की भेदोपभेद-तालिका नामक पञ्चम अध्याय में लक्षणा के सबसे कम दो भेद मानने वाले विवेचकों में **रसप्रदीप** के कर्ता **प्रभाकरभट्ट** तथा **यशवन्तयशोभूषण** के अनुवादक **पं. रामकर्ण-आसोपा** प्रमुख हैं, तो लक्षणा के सबसे अधिक भेदों को स्वीकार करने वाले आचार्यों में **विश्वनाथ** का स्थान मूर्धन्य है। दोनों ही अपने-अपने विवेचन के क्षेत्र में अति से ग्रसित प्रतीत होते हैं। वैसे अनेक आचार्यों ने रूढि-लक्षणा को भी सभेद निरूपित किया है, किन्तु निरूढा-लक्षणा को अष्टधा विभाजित करने वाले **आचार्य-विश्वनाथ**, उन आचार्यों की पंक्ति में सर्वप्रथम स्थान पर स्थित हैं। द्वितीय-स्थान पर रूढि (निरूढा) को षड्विधा विभाजन करने वाले **आचार्य जयदेव** हैं।

आचार्यों का बहुमत यह सिद्ध करता है कि रूढि-लक्षणा में कोई व्यङ्ग्य अथवा प्रयोजन नहीं होता है, वह रूढिमूला है, अतः **मम्मट**-प्रभृति प्राचीन-आचार्यों ने इसे शुद्धा तथा गौणी भेद से विभाजित नहीं किया और न ही वहां उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा की सत्ता मानी है, क्योंकि रूढलक्षण वाले शब्द चाहे सादृश्यसम्बन्ध के कारण प्रचलित हुए हों, चाहे किसी अन्य कारण से, तो भी उनके प्रयोग में वक्ता स्वतन्त्र नहीं है। वैसे भी शब्दों के निर्माण में जनता द्वारा समुच्चरित वाक्य-प्रवाह मुख्यरूपेण कारण है, अतः **मुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** में तथा **मम्मट**-कृत **काव्यप्रकाश** तथा अन्य ग्रन्थों में भी प्राचीन आचार्य **कुमारिलभट्ट** की मान्यता अक्षुण्णरूपेण विद्यमान पायी जाती है--कुछ लक्षणाएं अभिधा की तरह सामर्थ्य रखने के कारण निरूढ हो गई हैं। उनमें परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु कुछ लक्षणाएं प्रयोजन के कारण अब भी बनाई जा सकती हैं तथा कुछ अशक्य, अर्थात् प्रयोजन तथा रूढि की असत्ता के कारण असम्भव हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि निरूढ-लक्षणा भी भाषा के प्रवाह से निर्मित हुई, उसके निर्माण में वक्ता का वश नहीं है। कतिपय आचार्य रूढि-लक्षणा को विभाजित करने के पक्षपाती हैं। दो से लेकर आठ तक भेद किए गए हैं।

इसी प्रकार प्रयोजनवती-गौणी के भी **विश्वनाथ**, **महेश्वरन्यायालंकार**, **नागेश** आदि ने जो उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो भेद किए हैं, वे

भी अतिरञ्जित हैं, क्योंकि गौणी-लक्षणा वहीं होती है जहां स्वार्थ का त्याग होता है, अतः गौणी-लक्षणा सदा जहत्स्वार्था ही होती है। इसके अजहत्स्वार्था होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। मान भी लिया जाय कि गौणी-लक्षणा अजहत्स्वार्था भी होती है, अर्थात् स्वार्थ का परित्याग नहीं करती है। ऐसी स्थिति में तब मुख्य-अर्थ भी साथ में रहेगा, यह तो सुनिश्चित ही है, किन्तु मुख्य-अर्थ का मुख्य-अर्थ के साथ सादृश्य कैसा ? आचार्यों की मान्यता के अनुसार तो सादृश्य सदा अपने से भिन्न वस्तु के साथ ही होता है, स्वयं के साथ कभी भी नहीं होता है, अतः गौणी के सारोपा और साध्यवसाना भेद मानने में कोई क्षति नहीं है, क्योंकि वे सदा जहत्स्वार्था ही होतीं हैं। **मम्मट**-प्रभृति प्राचीन-आचार्यों को यह मत मान्य भी है। ऐसी स्थिति में जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था-रूपेण गौणी को विभाजित करना कहां तक समीचीन है ?

जहां तक प्रयोजनवती का प्रश्न है, प्रयोजनवती-लक्षणा में प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्य के गूढ तथा अगूढ होने के कारण चमत्कार के अतिशय तथा न्यूनता के कारण षड्विधा-प्रयोजनवती का द्विधा-विभाजन समीचीन है। आचार्यों का बहुमत इसे स्वीकार्य मानता है, किन्तु इसके भी धर्म-गत, धर्मि-गत तथा पद एवं वाक्य-गत भेद से लक्षणा का काल्पनिक-विभाजन, लक्षणा के भेदों के उपवृंहण में अवश्य सहायक हो सकता है, किन्तु जहां चमत्कार का प्रश्न है इसका अभाव ही वहां दृष्टिगोचर होगा। यदि इन भेदों को स्वीकार कर भी लिया जाय, तो आनन्त्य-दोष की सम्भावना बन सकती है, क्योंकि इन भेदों को भी जातिगत, गुणगत, क्रियागत, द्रव्यगत आदि असंख्य भेदों से विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार चमत्कार-शून्य लक्षणा के इन भेदों को मानना कहां तक समीचीन है ? विद्वज्जनों द्वारा विवेचनीय एवं निर्णेतव्य विषय है।

लक्षणा के भेदों का विवेचन नामक षष्ठ अध्याय के विवेचनानुसार यह उल्लेखनीय है कि लक्षणा के प्रथम-भेद रूढि-लक्षणा का भी षड्विधत्व सर्व-प्रथम **जयदेव** ने स्वीकार कर रूढि के भेद-विषयक नवीन-विचारधारा को जन्म दिया। परवर्ती **काव्यप्रकाश** के **टीकाकार चण्डीदास** ने तो इस रूढि-लक्षणा का चातुर्विध्य ही समीचीन माना। **दर्पणकार विश्वनाथ** पुनः रूढि को उपादान-लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा आदि भेदों से अष्टधा विभाजित कर **जयदेव** से भी आगे निकल जाते हैं। **अप्पयदीक्षित** तथा **राजचूड़ामणि**-प्रभृति आलङ्कारिक रूढि-लक्षणा का द्वैविध्य ही समीचीन मानते हैं। जहां **गोकुलनाथ-उपाध्याय** रूढि का त्रैविध्य समीचीन मानते हैं, वहां **अच्युतराय** निरूढा को चतुर्धा विभाजित कर गौणी, शुद्धा, विरुद्धा तथा लक्षितलक्षणाओं

के अंग मानते हुए इस निरूढा-लक्षणा का चातुर्विध्य ही समीचीन मानते हैं।

वस्तुतः **मम्मट**-प्रभृति आचार्यों ने रूढ़ि-लक्षणा के भेद स्वीकार नहीं किए हैं, किन्तु **जयदेव** (13 वीं श.) ने **चन्द्रालोक** में निरूढा के लक्ष्यवाचक-पदामीलना तथा लक्ष्यकवाचकपदामीलना के भी अवान्तर भेदों के आधार पर छः भेद स्वीकार किये हैं। चौदहवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **चण्डीदास** तथा **साहित्यदर्पण** के कर्ता **विश्वनाथ**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने उसी रूढि-लक्षणा को उपादान, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना, गौणी, शुद्धा भेदों से अष्टधा विभाजित किया। सत्रहवीं शताब्दी में **राजचूड़ामणि**-प्रभृति आचार्यगण रूढा को गौणी और शुद्धा भेद से द्विधा विभक्त कर पुनः रूढि-लक्षणा को सीमित करने की ओर अग्रसर दिखाई देते हैं। **पण्डितराज-जगन्नाथ** भी इसका समर्थन करते हैं, ऐसी भी धारणा विद्वानों की है।

अठारहवीं शताब्दी में समुद्भूत **गोकुलनाथ-उपाध्याय**, पुनः रूढा को विस्तार-रूप देते हुए दिखाई देते हैं, उन्होंने निरूढा के तीन भेद किए हैं—निरूढा-उपादान-लक्षणा, निरूढा-लक्षणलक्षणा-शुद्धा, निरूढा-लक्षणलक्षणा-गौणी।

अष्टम-शताब्दी पर्यन्त लक्षणा-भेद-विषयक चर्चा नहीं पायी जाती है। मीमांसक लोग यज्ञीय-प्रक्रियाओं में औपचारिक शब्दों का प्रयोग करते थे। **जैमिनि** तथा **गौतम** ने लाक्षणिक-प्रयोगों का वर्गीकरण किया। **पतञ्जलि** ने भी प्रयोजक-सम्बन्धों की ही चर्चा की। **वामन, शंकराचार्य** आदि ने उपचार तथा अमुख्य-शब्द के लिए लक्षणा शब्द का प्रयोग किया। **वामन** ने अमुख्य-शब्द को निरूढ, गौण तथा लाक्षणिक भेद से त्रिधा विभाजित किया। लाक्षणिक-शब्द, अर्थात् लक्षणा को सादृश्य-निबन्धना और असादृश्य-निबन्धना नाम से द्विधा विभक्त किया। **अग्निपुराणकार** ने सर्वप्रथम औपचारिकी, अर्थात् लक्षणा को गौणी व लाक्षणिकी भेद से द्विधा विभक्त किया। **आनन्द-वर्धन** ने उपचार या गुणवृत्ति को निरूढा तथा प्रयोजनवती भेद से द्विधा विभाजित किया। प्रयोजनवती को भी अभेदोपचाररूप तथा लक्षणारूप से द्विधा विभक्त कर लक्षणारूपा को भी पदगतत्व तथा वाक्यगतत्व भेद से द्विधा विभक्त किया।

मुकुलभट्ट ने भी अभिधा के दस भेदों के विवेचन के सन्दर्भ में लक्षणा का षड्विधत्व प्रतिपादन कर उसे अभिधा में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। **भट्ट** से अनुप्राणित होकर **मम्मट** ने लक्षणा का जो वर्गीकरण किया, तदनुसार लक्षणा—रूढि तथा प्रयोजन-मूलकत्वेन द्विधा विभक्त होती है। प्रयोजनवती भी—उपादान, लक्षण तथा आरोप एवं अध्यवसान के आधार

पर षड्विधत्व को प्राप्त हो जाती है। आगे चलकर अधिकतर आचार्य इसी परिप्रेक्ष्य में लक्षणा का विभाजन स्वीकार्य मानते रहे। **अच्युतराय, जयदेव**-प्रभृति अपवाद-स्वरूप आचार्यों को छोड़कर अन्य सभी आचार्य **मम्मट**-प्रोक्त लक्षणा के षड्विधत्व में कतिपय अकिञ्चितकर परिवर्तन तथा परिवर्धन करके उसे स्वीकार करते रहे हैं। जहां तक प्रयोजनवती का प्रश्न है, **मम्मट**-स्वीकृत प्रयोजनवती के षड्विधत्व के विषय में प्राचीन-टीकाकार **माणिक्यचन्द्र**, तदुत्तरवर्ती-टीकाकार **गोपालभट्ट, विद्याधरचक्रवर्ती, गोविन्दठक्कुर, भीमसेन, गोकुलनाथ-उपाध्याय, वामन-झलकीकर**-प्रभृति प्रमुख-टीकाकार तथा **अमरचन्द्रयति, श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य, कविकर्णपूर नरेन्द्रप्रभसूरि, विश्वनाथदेव**-प्रभृति प्रमुख आलङ्कारिकों ने **मम्मट** का ही अनुगमन किया है। शुद्धा के भेदों के विन्यास-क्रम के विषय में भले ही विसंवाद चला आ रहा है, फिर भी लक्षणा के षड्-भेदों के विषय में ये आचार्य मतैक्य रखते हैं।

कुछ अपवाद-स्वरूप आलङ्कारिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने षड्विधत्व के ह्रास में अपना योगदान दिया। इस प्रकार के आचार्यों में **मौनिश्रीकृष्णभट्ट** आते हैं, जिन्हें लक्षणा का पञ्चविधत्व ही मान्य है। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं, जो लक्षणा का चतुर्धा विभाजन ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के आचार्यों में **अजितसेन** प्रमुखरूपेण आते हैं। **प्रभाकरभट्ट** तथा **पं. रामकर्ण-आसोपा**-प्रभृति आचार्य ऐसे भी हैं, जिन्होंने लक्षणा के दो ही भेदों का समर्थन किया। ये आचार्य लक्षणा के द्वैविध्य में ही अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करते हैं।

जहां तक लक्षणा के भेदों के, नाम-परिवर्तन का प्रश्न है, तदनुसार कतिपय आचार्यों ने उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के स्थान पर जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा का प्रयोग करना ही श्रेयस्कर समझा, **पण्डितराज-जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित, अच्युतराय**-प्रभृति उन्हीं आचार्यों मे से हैं। **नरसिंह** ने तो उक्त दोनों भेदों को जहद्वाच्या तथा अजहद्वाच्या नाम से अभिहित किया है। इसी नाम-परिवर्तन के प्रकरण में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ आचार्य वेदान्तियों से प्रभावित होकर उक्त दोनों भेदों के सम्मिश्रणात्मक-तृतीयभेद, जहदजहल्लक्षणा नामक प्रयोजनवती-लक्षणा को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के आचार्यों में **विद्याधर, अप्पयदीक्षित, अच्युतराय, विद्याभूषण**-प्रभृति आचार्यों को लिया जा सकता है। **राजचूड़ामणि** ने तो उक्त तीनों भेदों को जहती, अजहती तथा जहदजहती नाम से अभिहित किया है।

जिस प्रकार रूढा-लक्षणा के भेदों के विषय में आलङ्कारिकों में मतैक्य नहीं है, उसी प्रकार गौणी के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा भेद होने के

विषय में विवाद चला आ रहा है। कुछ आचार्य ऐसे हैं, जिन्हें गौणी के उक्त दोनों भेद मान्य होने के साथ ही उक्त दोनों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना के आधार पर गौणी-लक्षणा का अष्टधा-विभाजन भी स्वीकार्य है। इस प्रकार के आचार्यों में **चण्डीदास**, **विश्वनाथ**, **महेश्वरन्यायालंकार** आदि आते हैं।

वैय्याकरण नागेश ने यद्यपि गौणी को जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था भेद से द्विधा विभक्त किया है, किन्तु सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद अजहत्स्वार्था के ही माने हैं, जहत्स्वार्था लक्षणा के नहीं, क्योंकि गौणी सदा जहत्स्वार्था ही होती है।

विद्याधर की प्रयोजनवती-लक्षणा के विभाजन की सारणी भिन्न है। ये प्रयोजनवती-लक्षणा को क्रमशः शुद्धा, सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से प्रथमतः त्रिधा विभक्त करते हैं। तदनन्तर प्रथम शुद्धा-लक्षणा को जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा भेद से त्रिधा विभक्त कर सारोपा, साध्यवसाना को भी शुद्धा, गौणीत्वेन द्विधा विभक्त करते हैं। जहां तक लक्षणा के भेदों की संख्या का प्रश्न है, किसी ने रूढा या गौणी के भी भेद मानने के प्रति अरुचि प्रदर्शित की तथा किसी ने गौणी के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा दो भेद स्वीकार किए। इसी प्रकार किसी ने जहद-जहल्लक्षणा को माना किसी ने नहीं माना।

यह विषय लक्षणा-भेद के विस्तार से सम्बन्ध रखता है। फिर भी विभाजन का क्रम अधिकतर आचार्यों का समान ही दृष्टिगोचर होता है, तथापि कतिपय आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने न **मम्मट** के षड्विधत्व का समर्थन किया और न ही उनके द्वारा प्रदत्त षड्भेद वाली उक्त संज्ञा से अभिहित नामावली को ही अपनाया। इस प्रकार के आचार्यों में सर्वप्रथम **जयदेव** आते हैं, जिन्होंने निरूढा तथा प्रयोजनवती के भेद सिद्धलक्षणा, साध्यलक्षणा, साध्याङ्गलक्षणा, इस नाम से किए जो अल्पश्रुत ही हैं। इसी प्रकार **अच्युत-राय** भी लक्षणा को प्रथमतः गौणी, शुद्धा, निरूढा, लक्षितलक्षणा भेद से चतुर्धा विभक्त करते हैं। इन्होंने निरूढा, प्रयोजनवती भेदों के अतिरिक्त सारोपा, साध्यवसाना, समस्ता, व्यस्ता आदि भेद भी वर्णित किये हैं, जहां **मम्मट** के विभाजन का क्रम ध्वस्त नजर आता है।

लक्षणा के भेदों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि **चण्डीदास** ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' का जो षट्-प्रकारता, अर्थात् रूढि, प्रयोजन, उपादान, लक्षण, आरोप, अध्यवसान-रूप छः उपाधियों के कारण ही लक्षणा के षड्भेदों का होना स्वीकार किया है, उसका विरोध **गोविन्दठक्कुर**

तथा **राजानक-आनन्द** ने किया है, उनकी मान्यता है—'अनेक भेदक हैं जिसके, ऐसी षड्विधा लक्षणा है।' इस प्रकार की व्याख्या जो **चण्डीदास** ने की, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि लक्षणा के और भी अनेक भेद प्रतिपादित किए जा सकते हैं और किए भी गए हैं। ऐसे स्थलों पर उक्त मान्यता के अनुसार वहां कौनसी प्रकारता को आधार माना जाएगा ?

लक्षणा के लिए आवश्यक-तत्त्वों में रूढि या प्रयोजन में से एक तत्त्व का होना आवश्यक माना गया है। **मम्मट** ने रूढ़ि-लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है, जिसका खण्डन हमें **विश्वनाथ** के **साहित्यदर्पण** में दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुतः खण्डन-विषयक-तर्क **दर्पणकार** के स्वयं के न होकर **दीपिकाकार-चण्डीदास** के हैं, ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। **दर्पणकार** ने **चण्डीदास** की **दीपिकाटीका** में वर्णित विषय को मूल-ग्रन्थ का विषय बना दिया, यही उनकी नवीनता कही जा सकती है। रूढि (निरूढि) विषयक चर्चा आचार्य **गोकुलनाथ-उपाध्याय** ने सबसे अधिक विस्तार से तथा अतिक्लिष्ट भाषा में **भक्ति(लक्षणा)विवेक** नामक कृति में की है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। ये भी **चण्डीदास** के समान ही व्युत्पत्ति-लभ्य-अर्थ का प्राधान्य स्वीकार नहीं करते हैं। **गोकुलनाथ-उपाध्याय** ने प्रयोजन की सत्ता, रूढा-लक्षणा में भी स्वीकार की है। इनकी मान्यता है कि निरूढालक्षणात्व तथा प्रयोजनवल्लक्षणात्व की सहावस्थिति न मानने वाले आचार्य मोह-ग्रस्त हैं, क्योंकि 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में निरूढा-लक्षणात्व तथा प्रयोजन-वल्लक्षणात्व दोनों की ही उपस्थिति पायी जाती है। इनकी एक मान्यता यह भी है कि निरूढा-लक्षणा में सादृश्य-हेतुका गौणी-वृत्ति ही प्रयोजन की अपेक्षा रखती है।

जयदेव, विश्वनाथ, राजचूड़ामणिदीक्षित, अप्पयदीक्षित, अच्युतराय, गोकुलनाथ-उपाध्याय कतिपय आचार्य ऐसे भी हैं, जो रूढि-लक्षणा के भेदों को भी अङ्गीकार करते हैं। दूसरी ओर **हेमचन्द्र, कुमारिलभट्ट, मुकुलभट्ट** तथा **आचार्य माधव**-प्रभृति ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जो निरूढा में अभिधावत् अर्थसमर्पकता स्वीकार करते हैं तथा इनमें से कुछ निरूढा की सत्ता को ही मानने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि वह निरूढा अभिधा का ही एक अन्य रूप है।

मीमांसक गौणी को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति के रूप में मानते रहे हैं। उनके अनुसार गौणी में शब्द-प्रयोग होता है, परन्तु लक्षणा में शब्द-प्रयोग नहीं होता है—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्', किन्तु आलङ्कारिकों

को यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि आलङ्कारिकों ने प्रकारान्तर से **लक्षणा** के सारोपा तथा साध्यवसाना दो भेद किए हैं।

लक्षणा के गौणी और शुद्धा ये दो मुख्य भेद सम्भवतः अष्टम शताब्दी से पूर्व नहीं थे। गौणी और लक्षणा स्वतन्त्र-वृत्तियां थीं, **तन्त्रवार्तिक** से इसकी पुष्टि होती है। तत्कालीन आचार्य, लक्षणा के स्थान पर गुणवृत्ति या अमुख्यव्यापार शब्द का प्रयोग करते थे। **आनन्दवर्धन** एवं **अभिनवगुप्त** ने गुणवृत्ति शब्द को ही अधिक व्यवहृत किया था। मीमांसक चिरकाल तक गौणी-वृत्ति की पृथक्ता का राग आलापते रहे हैं, किन्तु **मुकुलभट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त** आदि के संयुक्त-प्रयास के फलस्वरूप एवं आलङ्कारिकों के प्राबल्य के कारण भक्तिरूपी जुवे के माध्यम से गौणी और लक्षणा को एक साथ जोत दिया गया तथा परवर्ती **मम्मट** ने गौणी को लक्षणा के अङ्ग-रूप में ही उपन्यस्त कर गौणी को सदा के लिए लक्षणा में ही अन्तर्भावित कर दिया।

विश्वनाथ ने प्रयोजनवती के अतिरिक्त रूढा को भी सभेद वर्णित किया है। उपादानलक्षणा का विवेचन अधिकतर आचार्य, **मम्मट** की अनुकृति पर ही करते हैं। आलङ्कारिकों में **विद्याधर** (1205-1325 ई.) प्रथम आलङ्कारिक हैं, जिन्होंने उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को अजहत्स्वार्था एवं जहत्स्वार्था नाम से अभिहित किया। तदनन्तर **अजितसेन, धर्मसूरि, पण्डितराजजगन्नाथ, राजचूड़ामणिदीक्षित, अप्पयदीक्षित, आशाधरभट्ट**-प्रभृति आलङ्कारिक भी इसे मानने लगे।

धर्मसूरि ने अजहत्स्वार्था को समासोक्ति का बीज तो माना ही, साथ ही वेदान्तियों द्वारा प्रवर्तित उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के सम्मिलित योग से बनी जहदजहल्लक्षणा को स्वीकार न करने वालों को अज्ञानी कहने में संकोच का अनुभव भी नहीं किया। उन्होंने अजहत्स्वार्था-लक्षणा के उदाहरण के रूप में किसी पद या वाक्य का प्रयोग न कर पूरा श्लोक उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है।

आशाधरभट्ट ने निरूढा में भी अजहल्लक्षणा, जहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा मानी है। यथा—जब वक्ता का कोई प्रयोजन-विशेष न हो, उस स्थिति में यह निरूढा-अजहल्लक्षणा मानी जाती है। गौणी-लक्षणा में भी अजहल्लक्षणा की स्थिति **आशाधर** ने **दर्पणकार** के ही समान मानी है, उन्होंने अगूढफला-अजहल्लक्षणा का पृथक् रूप से विवेचन किया है। **विश्वनाथ**-प्रभृति आचार्य यद्यपि गौणी के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा ये दो भेद करते हैं, तथापि तदुत्तरवर्ती विद्वानों में **गोविन्दठक्कुर** आदि ने इन भेदों को मान्यता नहीं दी है, दूसरी ओर **गोकुलनाथ-उपाध्याय**-प्रभृति कतिपय आचार्य ऐसे भी हैं, जो **मम्मट** के विरुद्ध **विश्वनाथ** का समर्थन करते हुए,

गौणी तथा रूढ़ा-लक्षणा में उपादान की सत्ता स्वीकार करते हैं। लक्षण-लक्षणा (जहल्लक्षणा) का एक भेद विपरीत-लक्षणा भी है। जिसमें लाक्षणिक पद न केवल अपने मुख्य-अर्थ को त्यागता है, अपितु मुख्य-अर्थ के विरुद्ध-अर्थं की प्रतीति भी कराता है। **आशाधरभट्ट** ने भी विपरीतलक्षणा का समुल्लेख किया है, इनकी मान्यता है कि वैपरीत्य-सम्बन्ध के कारण विपरीतलक्षणा आचार्यगण स्वीकार करते हैं।

आशाधरभट्ट ने **त्रिवेणिका** में प्रयोजनवती-लक्षणा के अतिरिक्त भी, निरूढा एवं गौणी लक्षणाओं में, उक्त भेदों की गवेषणा की है। **भट्ट** ने त्रिधा-विभाजित लक्षणा को निरूढा तथा फलवती भेद से षड्धा-विभाजित किया, अत: निरूढा तथा फलवती लक्षणाओं में उक्त सभी भेदों का वर्गीकरण किया। **अच्युतराय** ने व्यस्त-कोटि में अजहत्स्वार्था-लक्षणा मानी है। इसे अर्पण-लक्षणा नाम से भी इन्होंने अभिहित किया है।

मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य-सिद्धान्त का **मम्मट** ने खण्डन करते हुए जो तर्क उपस्थित किए हैं, वे सारवान् इसलिए हैं कि लक्ष्य और लक्षक, अर्थात् गङ्गा तथा तटरूप-अर्थ में भेद मानें तो जिस अतिशय-रूप में शीतत्वपावनत्वातिशय-रूप-प्रयोजन की अपेक्षा है, वह न हो सकेगी। उस शीतत्वपावनत्वातिशय की प्रतीति तो, मुख्यार्थ—जलप्रवाह तथा तट-रूप अर्थ की अभेद प्रतीति होने पर ही संभव है। अन्यथा 'गङ्गायां घोष:' इस बाधित-वाक्य के कथन में तथा 'गङ्गा तटे घोष:' कहने में अन्तर ही क्या रह गया? सम्बन्ध-मात्र की प्रतीति तो यहां भी होती है। **मम्मट**-कृत तर्कपूर्ण-खण्डन का समर्थन जहां परवर्ती आचार्य **अमरचन्द्रयति, श्रीनिवासाचार्य, विद्यानाथ, चण्डीदास, गोविन्दठक्कुर, नागेश**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने किया वहां **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **महेश्वरन्यायालङ्कार** तथा **गोकुलनाथ-उपाध्याय** एवं **अलंकारकौस्तुभ** के कर्ता **विश्वेश्वरभट्ट**-प्रभृति आलङ्कारिकों ने **मम्मट** की विचारधारा से असहमति प्रकट करते हुए, **मुकुलभट्ट** के ताटस्थ्य-सिद्धान्त को समर्थन दिया है।

उपचार के आधार पर लक्षणा का विभाजन करने वाले आचार्यों में **मुकुलभट्ट** प्रथम-आचार्य हैं, ये गौण तथा शुद्ध-भेद से उपचार को द्विधा विभाजित करते हैं। फिर आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर लक्षणा को चतुर्धा विभाजित किया जाता है। **मम्मट**, **विश्वनाथ**-प्रभृति आचार्य भी, **मुकुलभट्ट** की मान्यता को लक्षणा के विभाजन का आधार मानते हैं। **मंखक, केशवमिश्र, रूपगोस्वामी**-प्रभृति कतिपय आचार्य ऐसे भी हैं, जो सारोपा तथा साध्यवसाना के भेदों का विवेचन नहीं करते हैं।

साध्यवसाना के तत्त्व भले ही **दण्डी** के समाधि-नामक गुण में पाये जा सकते हैं, तथापि **मम्मट** ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने व्यवस्थिरूप से साध्य-

वसाना को विवेचित किया। **अमरचन्द्र** ने इस प्रकरण में एक नयी बात यह कही है कि साध्यवसाना-लक्षणा में अतिशयोक्ति के बीज निहित होते हैं। यह भी सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में ही होते हैं। कार्यकारणभाव-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में सादृश्याभाव के कारण रूपकादि की भी विषयता नहीं होती है। कतिपय आचार्य उपचार-विचित्रता को साध्यवसाना मानते हैं। ये आरोप्य—गोत्वादि-सामान्याश्रय के द्वारा, अन्य—आरोप-विषय वाहीकादि, जहां निगीर्ण कर लिए जाते हैं, वहां पर उपचार-विचित्रता मानते हैं।

मम्मट से ही अधिक सुलझा हुआ साध्यवसाना-लक्षणा का लक्षण **श्रीवत्सलांछन-भट्टाचार्य** ने किया है—आरोप्यमाण विषयी, अर्थात् उपमान के द्वारा जहां आरोप-विषय—उपमेय को निगीर्ण कर लिए जाने पर विषय, अर्थात् उपमेय में विद्यमान असाधारण-धर्म के बिना विषयी द्वारा स्वतादात्म्य-शक्ति से उस उपमेय का बोध करवा दिया जाता है, वहां साध्यवसाना-लक्षणा होती है।

गौणी-साध्यवसाना तथा शुद्धा-साध्यवसाना के रूप में प्रदत्त 'आयुरेवेदम्', 'गौरयम्' तथा 'आयुः पिबामि', 'गौर्गच्छति' उदाहरणों में सर्वनाम की सत्ता तथा असत्ता की स्थिति स्वीकार करते हुए भी **श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य** दोनों ही प्रकार के उदाहरणों को साध्यवसाना-लक्षणा की अर्हता से युक्त मानते हैं, किन्तु **विश्वनाथ**-प्रभृति आचार्य वाक्य में सर्वनाम की अनुपस्थिति को ही साध्यवसाना की अर्हता की कोटि में मानते हैं, जबकि **काव्यप्रकाश** के टीकाकार **महेश्वरन्यायालङ्कार** आदि सर्वनाम की उपस्थिति भी साध्यवसाना के लिए आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः यह मानना ही पड़ेगा कि अप्रत्यक्षरूपेण उपमेयरूप-घृतादि के प्रतिनिधित्व करने वाले 'इदं' आदि पदों के कारण विषयी द्वारा विषय का पूर्ण निगरण किया जाना संभव नहीं है। यदि 'गौर्गच्छती' इत्यादि सर्वनामविरहित साध्यवसाना के उदाहरणों में साध्यवसाना मानी जा सकती है, तो 'गौरयम्' इत्यादि उदाहरणों में साध्यवसाना की साध्यावस्था ही है, कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, अतः **विश्वनाथ** आदि की मान्यता हमें समीचीन लगती है, क्योंकि 'गौरयम्' कीअपेक्षा 'गौर्गच्छति' साध्यवसाना का यह उदाहरण अधिक संगत लगता है। **आशाधरभट्ट** सारोपा में ताद्रूप्यप्रतीति तथा साध्यवसाना में अभेद-प्रतीति मानने वालों का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार सारोपा में अभेद-प्रतीति के फलस्वरूप सादृश्य-प्रतीति में शिथिलता के अभाव का बोध होता है। साध्यवसाना में विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्यातिशय का बोध होता है। **भट्ट** सारोपा में रूपक तथा साध्यवसाना में रूपकातिशयोक्ति स्वीकार करते हैं।

परिशिष्ट

लक्षणा-विरोधी आचार्य

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में लक्षणा के समस्त पक्षों का विवेचन कर लेने के पश्चात् यह भी उचित प्रतीत होता है कि यहां लक्षणा-विरोधी आचार्यों की मान्यताओं को भी संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया जाय, अत: परिशिष्ट में उनके विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन लक्षणा-विरोधी आचार्यों में कालक्रम से—1 मुकुलभट्ट, 2 प्रतिहारेन्दुराज, 3 धनिक, 4 भट्टनायक, 5 महिमभट्ट, 6 भोज एवं 7 मंखक आदि आचार्य मुख्यरूपेण उल्लेखनीय हैं।

1 मुकुलभट्ट (883-925 ई.)

अभिनवगुप्तपादाचार्य के बाद मुकुलभट्ट शब्द-शक्तियों पर विचार करने वाले प्रथम आचार्य हैं। भट्ट ने पन्द्रह कारिकाओं से समन्वित तथा स्वोपज्ञ टीकायुक्त अभिधावृत्तिमातृका में अभिधा के दस भेदों के अन्तर्गत लक्षणा और व्यञ्जना को भी अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से ध्वनिसिद्धान्त तथा व्यञ्जना-वृत्ति का विरोधी है। व्यञ्जनावादी आचार्य तीन प्रकार की वृत्तियों को मानते हैं—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। मीमांसक व्यञ्जना-वृत्ति को नहीं मानते हैं, अत: मुकुलभट्ट ने उक्त कृति में व्यञ्जना तो दूर रही, लक्षणा को भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधा का ही एक भेद माना[1] तथा अभिधा के दस प्रकार के व्यापारों के अन्तर्गत ही लक्षणा का भी समावेश कर दिया।

अभिधा व्यापार का स्वरूप आचार्य मुकुलभट्ट के अनुसार

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के अनन्तर ही लक्षणा का विरोध करने वाले आचार्यों में मुकुलभट्ट का नाम सर्वप्रथम आता है। ये व्यापार में विराम न मानकर सहायकों में परिवर्तन मानते हैं। इनके अनुसार एक ही अभिधा-व्यापार अन्तिम-अर्थ तक सक्रिय रहता है। इसी के अन्तर्गत लक्षणा

---

1 इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम् ॥ 13 ॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 72

का भी विवेचन करते हैं। ये अन्य आचार्यों की तरह संकेतित-अर्थ का प्रतिपादन करने वाले व्यापार को अभिधा न मानकर व्यापार-सामान्य को अभिधा मानते हैं।

अभिधा के भेद

ये इस अभिधा को दो धाराओं में विभाजित करते हैं। मुख्य और लाक्षणिक—अमुख्य, द्वितीय अमुख्य-व्यापार का लाक्षणिक नामकरण इसलिए भी किया गया है, क्योंकि वह सदा लक्ष्य ही होता है, अतः अभिधाव्यापार को लक्षणा-पद से व्यवहृत किया गया है। निष्कर्ष यह कि इन पदार्थों का निश्चयात्मक-ज्ञान ही इनके व्यवहार में आने का मूल है। जहां तक निश्चयात्मक-ज्ञान का सम्बन्ध है, वह पदार्थ को विषय तो बनाता है, किन्तु उस समय उसमें शब्द का भी स्पर्श रहता है। शब्द जो है, वह अर्थ का ज्ञान 'मुख्य' या 'लाक्षणिक' दो प्रकार के अभिधाव्यापार से कराता है। इस कारण इस ग्रन्थ में मुख्य और लाक्षणिक दोनों ही प्रकार के अभिधाव्यापारों का विवेचन किया गया।[1] यहां अभिधाव्यापार को लक्षणा-पद के लिए ठीक उसी प्रकार व्यवहृत किया गया है, जिस प्रकार गङ्गा की जलराशि समुद्र-जल से संपृक्त होने पर समुद्र-पद से अभिहित की जाती है, उसी प्रकार अभिधा की 'लक्षणा' संज्ञा लक्ष्य-अर्थ की स्थिति के आधार पर किया गया एक नामकरण है।

मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की प्रतीति

भट्ट के अनुसार मुख्यार्थ की प्रतीति में अभिधा पर्याप्त है, जबकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है।[2]

---

1 निश्चय एव तेषां पदार्थानां व्यवहारोपारोह निबन्धनम्। निश्चयश्च शब्दसम्भेदेनार्थं गोचरीकरोति। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते।

—अभिधावृत्तिमातृका, हिन्दी-भाष्य सहित, (भाष्य. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी), पृ. 1

2 शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम्। ·······यस्य तु शब्दव्यापारगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्। यथा—[गौरनुबन्ध्य इति]।

—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 2

मुकुलभट्ट प्रथम-अर्थ को शब्दव्यापार से ही प्रतीतिगम्य मानते हैं, जबकि द्वितीयव्यापार लक्ष्यार्थ को शब्दव्यापार की कोटि में नहीं गिनते हैं। इस लक्ष्यार्थ को अर्थावसेय मानते हैं। जिस अर्थ की प्रतीति शब्द के व्यापार से हो वह 'मुख्य' माना जाता है। इसके विपरीत जो अर्थ के द्वारा जाना जाता है वह 'लक्ष्यमाण' (लक्ष्य) कहा जाता है।[1]

भट्ट का निरन्तरार्थ-विषय

भट्ट ने शब्द के द्विविध अभिधाव्यापार का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'निरन्तरार्थविषय' तथा 'सान्तरार्थनिष्ठ' शब्द का भी प्रयोग किया। इस प्रकार मुख्य और लाक्षणिक इन दो प्रकार के विषयों का उल्लेख कर, उन्हीं के माध्यम से शब्द के उभयविध अभिधाव्यापार का प्रतिपादन किया, जिनमें से एक ऐसा होता है, जो ऐसे अर्थ का ज्ञान कराता है, जिसका ज्ञान होते समय किसी अन्य-अर्थ का ज्ञान बीच में नहीं आता। इसी कारण 'निरन्तरार्थविषय' कहा जाता है। शब्द का दूसरा व्यापार ऐसे अर्थ का ज्ञान कराता है, जिसके ज्ञान के पूर्व किसी दूसरे अर्थ का भी ज्ञान होता है, अतः वह 'सान्तरार्थनिष्ठ' कहलाता है।[2] अव्यवहित, अर्थात् जहां व्यवधान-रहित मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे निरन्तरार्थ-विषय कहा जाता है। इसमें शब्द का ज्ञान होते ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

सान्तरार्थनिष्ठ

द्वितीय-लक्ष्यार्थ की प्रतीति शब्दज्ञान के अनन्तर ही नहीं हुआ करती है, इसमें लक्ष्य-अर्थ के ज्ञान तथा शब्द-ज्ञान के मध्य मुख्य-अर्थ का ज्ञान भी विद्यमान रहता है। इसीलिए लक्ष्यज्ञान सान्तर यानी व्यवधान से युक्त है। भट्ट के अनुसार मुख्यार्थ से युक्त अभिधा के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। भट्ट लक्षणा को अभिधा से अभिन्न मानते हैं तथा अभिधा की ही स्थिति-विशेष के कारण यदा-कदा प्रयुक्त होने वाली उसे नामान्तर संज्ञा कहते हैं।

---

1 शब्द-व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥ 1 ॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 2

2 एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च।
—वही, पृ. 3

लक्षणा का अर्थवृत्तित्व

भट्ट का शब्दज्ञानपुरस्सर-मुख्यार्थबाध की उपस्थिति में ही लक्ष्यार्थ-ज्ञान की प्रतीति मानना यह सिद्ध करता है कि ये लक्षणा को शब्द-वृत्ति न मानकर अर्थवृत्ति मानते हैं। भले ही ये लक्षणा को अभिधा की ही स्थिति-विशेष के कारण प्रयुक्त होने वाली नामान्तर-संज्ञा मानते रहें, तथापि लक्षणा का विशद्-विवेचन अवश्य करते हैं। ये **महाभाष्यकार** के समान मुख्यार्थ को जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य-भेद से चार प्रकार का तथा लक्ष्यार्थ को छः प्रकार का मानते हैं और इस प्रकार शब्द तथा अर्थ-व्यापार द्वारा द्विधा-विभक्त अभिधा ही दस भेदों वाली हो जाती है,[1] जिनका सोदाहरण विवेचन आगे किया जायेगा। अभिधा मुख्य-अर्थ का ही बोध करा सकती है। मुख्यार्थ से भिन्न द्वितीय-अर्थ तक पहुंचने के लिए मुख्य-अर्थ के सहयोग की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार की विचारधारा के जन्मदाता **मुकुलभट्ट** का एक-अभिधावाद कालान्तर तक चलता रहा। उनके अनुयायी **भोज** ने भी एका-भिधावाद को ही माना। वे भी **भट्ट** के समान ही अन्तिम-अर्थ अभिधा से ही निष्ठ्यूत मानते हैं।

लक्षणा के भेदकतत्त्व

लक्षणा पर विचार करते हुए **भट्ट** ने लक्षणा के लिए तीन भेदकतत्त्व माने हैं। ये भेदकतत्त्व हैं—वक्ता, वाक्य तथा वाच्य। उनका इस विषय में यह मन्तव्य है कि शब्द स्वार्थव्यवधान द्वारा वक्ता आदि की अपेक्षा से ही इन लाक्षणिक-अर्थों के गमक बनते हैं।[2] दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि लाक्षणिक शब्दों में स्वयं लक्ष्यार्थ-बोधन की

---

1 (अ) तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः। [गौः शुक्लश्चलो डित्थः]।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 4

(ब) शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता ॥ 2 ॥........
वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात् ॥ 6 ॥
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 11, 24

2 न शब्दानामनवधारितलाक्षणिकार्थसम्बन्धानां लाक्षणिकमर्थं प्रति गमकत्वं, नापि च तत्र साक्षात् सम्बन्धग्रहणं, किं तर्हि वक्त्रादिसामग्र्यपेक्षया स्वार्थव्यवधानेनेति।
—वही, पृ. 25

क्षमता नहीं है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति तो वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की अपेक्षा से होती है, अर्थात् शब्द तब तक लाक्षणिक अर्थ का ज्ञान नहीं कराते हैं, जब तक उनका लाक्षणिक अर्थ के साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं होता। यह सम्बन्ध उसके साथ सीधा-सीधा नहीं हो जाता, प्रत्युत वक्ता आदि के कारण-सामग्री के आधार पर होता है। वह भी शब्द के मुख्य-अर्थ के ज्ञान के बाद होता है।

अभिधा का दशधा विभाजन

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है **भट्ट** के अनुसार अभिधा-व्यापार शब्द-जन्य है और द्वितीय-अर्थ तक पहुंचने के लिए शब्दार्थ की अपेक्षा होती है, अतः ये सारे ही अर्थ अभिधेय ही हैं। अभिधेय के चार भेद और लाक्षणिक के छः भेद करके इस प्रकार अभिधा के दस भेद बताए गए हैं।[1]

इसका कारण यही है कि ये अभिधा में कहीं भी विराम नहीं मानते हैं तथा अभिधा को निरन्तर—अन्तिम-अर्थ तक क्रियाशील मानते हैं। **भट्ट** ने न तात्पर्य का उल्लेख किया, न ही ये लक्ष्यार्थ से आगे व्यङ्ग्यादि अर्थों के प्रति विशेष-आस्थावान् प्रतीत होते हैं, जबकि इनसे पूर्ववर्ती आचार्य **आनन्दवर्धन** ध्वनि-विषयक-ग्रन्थ का निर्माण कर चुके थे।

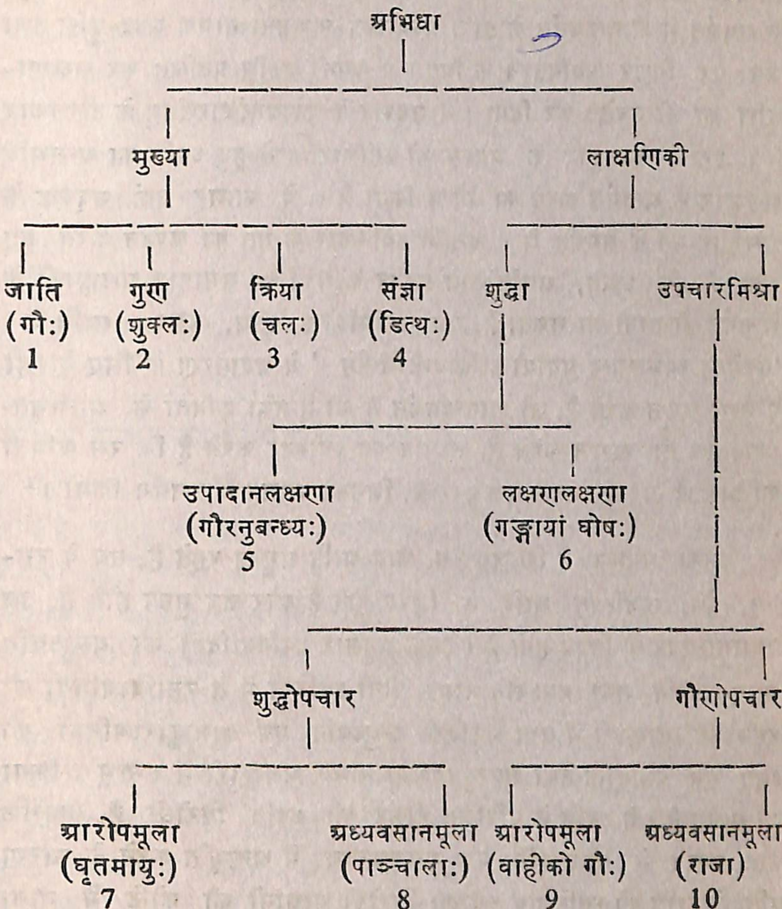
पूर्वोक्त प्रकार से **मुकुलभट्ट** ने शब्द की तीन शक्तियां—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना में से अभिधा ही को स्वीकार करके, उसे ही शक्ति मानने का मत व्यक्त किया है। **अभिधावृत्तिमातृका** में अभिधा के भेदों का वर्णन किया गया है एवं उन्हीं में लक्षणा के छः प्रकारों का अन्तर्भाव कर अभिधा-शक्ति की महत्ता सिद्ध की गयी है। इस प्रकार इन्होंने सिद्ध किया है कि अभिधा के दस भेदों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। ये लक्षणा का विषय-विवेचन अवश्य करते हैं, किन्तु लक्षणा को भी अभिधा का ही अंग मानते हैं। इसे परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया और इसकी युक्तियुक्तता पर प्रश्न-चिह्न लगाया।

मुकुलभट्ट ने सर्वप्रथम अभिधा के मुख्या तथा लाक्षणिकी नामक दो भेद किए। अभिधेय अर्थ को जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप में चार प्रकार का कहा तथा लाक्षणिक अर्थ को शुद्ध और उपचार-मिश्र से द्विधा विभाजित

---

1 मुख्यस्याभिधावृत्तस्य प्रकाराश्चत्वारः, लाक्षणिकस्य तु षडित्येवं दशप्रकारमभिधावृत्तमत्र विवेचितम्।
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 72

किया।[1] शुद्ध के उपादान और लक्षण नामक दो भेद किए गए[2] तथा उपचार को शुद्धोपचार तथा गौणोपचार से द्विधा विभक्त करके प्रत्येक को आरोपमूल और अध्यवसानमूल कहकर चार भेदों में विभक्त किया।[3] इस वर्गीकरण को उदाहरणसहित निम्नरूपेण प्रस्तुत किया जा सकता है—



1 शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता ॥ 2 ॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृ. 11

2 उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।
—वही, पृ. 12

3 उपादानं, लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम्।
आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः ॥ 4 ॥
—वही, पृ. 13, 15

2 प्रतिहारेन्दुराज (925-950 ई.)

ये **मुकुलभट्ट** के शिष्य थे। अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक एवं ध्वनि-विरोधी आचार्य की कोटि में होने के कारण **प्रतिहारेन्दुराज** को लक्षणा-विरोधी आचार्यों की कोटि में लिया जा सकता है, क्योंकि इन्होंने अपने गुरु के समर्थन में **आनन्दवर्धन** के द्वारा प्रस्थापित व्यञ्जना नामक शब्द-वृत्ति तथा उस पर निर्भर ध्वनितत्त्व के विषय में अपनी अरुचि प्रदर्शित कर लक्षणा-वृत्ति का भी उच्छेद कर दिया। ये **उद्भट** के **काव्यालंकारसंग्रह** के टीकाकार हैं। इन्होंने अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया है। ये **भामह** एवं **उद्भट** के अलङ्कार मत के समर्थक थे। इन्होंने ध्वनिकार के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि ध्वनि, अर्थात् तीन प्रकार के अर्थों का समाहार अलङ्कारों के अन्तर्गत ही माना जा सकता है, यथा—पर्यायोक्त, श्लेष, रसवत् आदि में। 'एवमेतद् व्यञ्जकत्वं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भाक्तम्।' ये उदाहरण के लिए वे ही पंक्तियां उद्धृत करते हैं, जो **आनन्दवर्धन** ने की हैं तथा कविता के आत्मभूत-ध्वनितत्त्व का खण्डन करते हैं, तथापि यह स्वीकार करते हैं कि रस कविता का प्राण है, परन्तु रसवत् अलङ्कार है, जिसका **भामह** ने समर्थन किया।[1]

इनका मन्तव्य है कि जब रस, भाव आदि अमुख्य रहते हैं, तब वे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि के विषय होते हैं और जब मुख्य होते हैं, तब उदात्तालङ्कार के विषय होते हैं। इनके अनुसार ध्वनिवादियों की वस्तुध्वनि अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि नामक तीनों ध्वनियों में से रसादिध्वनियों को रसवदादि अलङ्कारों में तथा अवशिष्ट वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनियों को श्लेष एवं पर्यायोक्त तथा अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया जा सकता है। ये ध्वनि से परिचित होकर भी ध्वनि विरोधी हैं, क्योंकि उक्त प्रकार से समग्रध्वनि को अलङ्कारवर्ग में अन्तर्भूत करने के कारण **प्रतिहारेन्दुराज** को ध्वनि एवं लक्षणा-विरोधी आचार्यों की कोटि में माना जाता है। इस प्रकार ये व्यङ्ग्य के समस्त भेदों को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने में अपनी शक्ति लगा देते हैं। इनके द्वारा **मुकुलभट्ट** का कहीं भी विरोध न करना यह प्रमाणित करता है कि ये भी नैरन्तर्य-अभिधावादियों की कोटि में आते हैं।

---

1 रसगङ्गाधर, (संपा. मधुसूदन शास्त्री), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, वि. सं. 2020, भूमिका-भाग, पृ. 29 पर उद्धृत।

3 धनिक (10 वीं श.)

इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, इन्होंने अपने अग्रज धनञ्जय-कृत दशरूपक की 'अवलोक' नामक टीका की, जो इनकी काव्य-मान्यताओं का निदर्शन है। ध्वनि के विरोध में काव्य-निर्णय नामक कृति लिखी थी, जो आज अनुपलब्ध है। ध्वनिवादियों के खण्डन के उपक्रम में ये अभिधा, लक्षणा, गौणी आदि शक्तियों की चर्चा करते हुए रसास्वादन में अभिधा और लक्षणा से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति द्वारा रसास्वादन मानने वालों का भी खण्डन करते हैं।[1] इनका कथन है कि ध्वनिवादियों द्वारा प्रतिपाद्य रसरूप-अर्थ का ज्ञान तात्पर्य नामक शक्ति से हो जाता है, अतः ध्वनि नामक अतिरिक्त-पदार्थ की कल्पना वृथा है। इस तात्पर्यशक्ति की क्रियाशीलता अन्तिम-अर्थ का ज्ञान होने तक रहती है। धनिक पदार्थ का ज्ञान कराना अभिधा का कार्य मानते हैं। उसके बाद इनके अनुसार तात्पर्य-शक्ति ही अन्तिम अर्थ तक पहुंचने में सक्षम है।

धनिक के लक्षणा-विषयक विरोधी विचार

लक्षणा के सम्बन्ध में धनिक, धनञ्जय के समान मौन दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, परन्तु लक्षणा और व्यञ्जना-सम्बन्धी उनके खण्डनपरक-विचार केवल रस-निष्पत्ति प्रसङ्ग में ही उपलब्ध होते हैं। वे रस की वाच्यता के सम्बन्ध में कहते हैं—रस तथा स्थायीभावों का परस्पर वाच्य-वाचक-सम्बन्ध नहीं होता। इनका कथन है कि यदि शृङ्गार, हास्य आदि रसवाचक शब्दों का काव्य में प्रयोग होने पर रस की प्रतीति हो तो वाच्य-वाचक-सम्बन्ध माना जा सकता है, किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि शृङ्गार आदि शब्दों के प्रयोग से रस की प्रतीति अवश्य हो जाय। यदि काव्य और रस में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध स्वीकार करें तो काव्य के वाच्यार्थ के बोध के साथ प्रत्येक व्यक्ति को रसानुभूति होनी चाहिए, किन्तु रसानुभूति सर्वसाधारण को न होकर सहृदय-व्यक्ति को ही हुआ करती है[2], अतः काव्य तथा रस में

---

1 अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।
—दशरूपक, सटीक, (टीका. धनिक), पृ. 356

2 यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिस्स्यात् तदा केवलं वाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्।
—वही, पृ. 356

परस्पर वाच्य-वाचक-सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार स्व-शब्द-निवेदन से, अर्थात् शृङ्गार आदि शब्दों के शब्दत: उपात्त होने पर रसनिष्पत्ति न होने के कारण वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध अकल्पनीय हैं। रस का विभावादि के साथ ही अन्वयव्यतिरेकित्व बनता है, शृङ्गारादि शब्दों के साथ नहीं, अत: रस की वाच्यता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[1]

लक्षणावृत्ति तथा रसनिष्पत्ति के विषय में उनका कथन है कि इस वृत्ति द्वारा रस-लक्ष्यार्थ की कोटि में नहीं आता, क्योंकि सामान्यत: लक्षक—गंगादि शब्द का प्रयोग विशिष्टधर्म वाले पदार्थ लक्ष्य, अर्थात् गंगा-तीर में किया जाता है, किन्तु रसादि प्रतीति में यह प्रक्रिया नहीं हो सकती है। यदि रस को काव्य का लक्ष्य मानें, तो काव्य में भी ऐसे लक्षक पदों का प्रयोग करना चाहिए, जो अभिधा-वृत्ति से न सही लक्षणा-वृत्ति से ही रस की प्रतीति करा दें, किन्तु काव्य में ऐसा होता नहीं है।

लक्षणलक्षणा के सन्दर्भ में उनका कथन है कि लक्षित-लक्षणा(जहल्लक्षणा, लक्षणलक्षणा) के द्वारा भी रस की पुष्टि या प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि 'गङ्गायां घोष:' इस वाक्य में मुख्यार्थ-बाध स्वीकार करने के अनन्तर लक्षणा स्वीकार की जाती है। उसी प्रकार रस-प्रतीति के विषय में भी स्खलद्गतित्व (मुख्यार्थबाध) स्वीकार करना होगा। ऐसी अवस्था में नाटकादि में रामादि शब्दों में मुख्यार्थ-बाध स्वीकार करें तो सर्वप्रथम अनिष्टापत्ति यह होगी कि इससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जायेगी, दूसरी बात यह है कि नाटकादि में स्खलद्गतित्व की परिकल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि स्खलद्गतित्व की स्थिति में लक्षणा के समान सामीप्य-आदि सम्बन्धवाची दूसरे दुष्यन्त व्यतिरिक्त शब्द, लक्ष्यार्थ रस की प्रतीति कैसे करा सकेंगे?[2]

---

1 न तावद् वाच्यवाचकभाव: स्वशब्दैरनावेदितत्वात्। न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा: रत्यादिशब्दा: वा श्रूयन्ते। येन तेषां तत्परिपोषस्य वाऽभिधेयत्वं स्यात्। यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्व शब्दाभिधेयत्वमात्रेण।

—दशरूपक, सटीक, (टीका. धनिक), पृ. 355-356

2 नापि लक्ष्यलक्षकभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याऽप्रयोगात्। नाऽपि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्ति:। यथा—'गङ्गायां घोष' इत्यादौ। तत्र हि स्वार्थे स्रोतो लक्षणे घोषस्याऽवस्थानासम्भवात् स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्द: स्वार्थं बिना भूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति अत्र तु नायकादिशब्दा: स्वार्थेऽस्खलद्गतय: कथमिवाऽर्थान्तरमुपलक्षयेयु:।

—दशरूपक, सटीक, (टीका. धनिक), पृ. 356

लक्षणा के अपेक्षित हेतुत्रय इस निष्पत्ति में कभी साधक नहीं बन सकते। इसी प्रकार 'सिंहो माणवक:' आदि गौणी-लक्षणा के समान भी रस की लक्ष्यार्थता नहीं बन सकती। कौन ऐसा विचारशील-व्यक्ति होगा जो बिना किसी कारण या प्रयोजन के ही मुख्य के होते हुए भी उसके स्थान पर गौण-शब्द का प्रयोग करे? अत: सिद्ध है कि गौणी-लक्षणा द्वारा रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती।[1]

पूर्वोक्त प्रकार से रस-सन्दर्भ में वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध तथा लक्ष्यलक्षक-भाव-सम्बन्ध के निराकरण के अनन्तर धनिक रस तथा काव्य में परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-सम्बन्ध का निराकरण करते हुए कहते हैं कि, तात्पर्य के होते हुए व्यञ्जकत्व को मानने की आवश्यकता नहीं है।[2]

धनिक ध्वनिवादियों की वस्तु, अलङ्कार और रसध्वनि को अस्वीकार करते हुए तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही उसकी व्याख्या करने के पक्षधर हैं।[3] उनकी तात्पर्यवृत्ति की कोई सीमा नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि तात्पर्य-शक्ति मध्य में या कहीं तक सीमित है। यह तुलाधृत न होकर यावत्कार्य-प्रसारित्व-गुण से युक्त है।[4] इससे ही वस्तु, अलङ्कार और रस-रूप त्रिविध ध्वनि की प्रतीति हो सकती है। ये रसादि की प्रतीति में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-

---

1 को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत। सिंहो माणवक इत्यादिवत्।
—दशरूपक, सटीक, (टीका धनिक), पृ. 356

2 अत: केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।
—वही, पृ. 356

3 ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्त-वाक्यार्थावगते: शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयास: यथाऽत्रोचाम काव्यनिर्णये।
तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि:।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ 4.37 (1)
—वही, पृ. 365-368

4 एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ 4.37 (4)
—वही, पृ. 369

सम्बन्ध के स्थान पर भाव्यभावक-सम्बन्ध मानते हैं।[1] **अवलोकटीका** में तथा इनकी स्वरचित एवं सम्प्रति अनुपलब्ध कृति **काव्यनिर्णय** में वे इस तात्पर्यवृत्ति तथा भाव्य-भावक-सम्बन्ध का विशदता के साथ विवेचन करते हुए, लक्षणा एवं व्यञ्जनावादियों के मतों का पूर्णतः निरसन करने का प्रयत्न करते हैं,[2] परन्तु यहां उसके उपबृंहण का अवसर न होने से केवल इतना कहा जा सकता है कि नाट्यरस की व्याख्या-प्रसङ्ग में इन्होंने अपना लक्षणा-विरोधी स्वर मुखरित किया है।[3]

4 भट्टनायक (9 वीं-10 वीं श.)

भट्टनायक भी लक्षणा के विरोधी आचार्य हैं। उन्होंने **भरतसूत्र** के व्याख्या प्रसंग में रसनिष्पत्ति में भाव्यभावक-सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इन्होंने शब्द के तीन व्यापार—अभिधा, भावना और भोगीकरण माने हैं।[4] इन्होंने

---

1 पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता।
वक्त्राभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ 4.37 (7)
अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्य-भावकसम्बन्धः? काव्यं हि भावकम्, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।
—दशरूपक, सटीक, (टीका. धनिक), पृ. 370
अन्यच्च
भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इति।
—वही, पृ. 372

2 अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनाऽपि व्यज्यते। प्रदीपेनेव घटादिः। न तु तदानीमेवाऽभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम्।
—वही. पृ. 372
अन्यच्च
पाण्डेय, शिवनाथ, ध्वनिसम्प्रदाय का विकास, साहित्य प्रकाशन, नई सड़क, गल्ली बाड़ा, दिल्ली, 1971 ई., पृ. 152

3 नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः। यथा—'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ।
—वही, पृ. 356

4 ("अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च,
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः ॥)
भावनाभाव्यएषोऽपि शृङ्गारादिगणो भ(हि)यत्,

प्रथम-स्तर में अभिधा को लिया है। इस व्यापार द्वारा सर्वप्रथम सामाजिक को काव्य में केवल शब्दार्थ का ज्ञान हो सकता है और नाटक के अभिनय में वह मञ्चस्थित पात्र को देश और काल में आबद्ध-व्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है। आगे के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की प्रक्रिया के विषय में **डॉ. शिवनाथ पाण्डेय** का कथन है कि **भट्टनायक** रसनिष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। वे काव्यों और नाटकों में, शब्द के अभिधाव्यापार के समान ही भावकत्व और भोजकत्व नाम के दो नये व्यापारों की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। काव्यार्थ का ज्ञान हो जाने के अनन्तर, उन दोनों व्यापारों में से पहले भावकत्व-व्यापार द्वारा विभावादिरूप, **सीता** और **राम**-विषयिणी रति, अपने सीतात्व और रामत्व सम्बन्ध को छोड़कर साधारण रीति से, कामिनीत्व और कान्तत्व आदि के सम्बन्ध के रूप में प्रकट होती है।[1] तात्पर्य यह है कि भावकत्व-व्यापार द्वारा विभावादिकों का साधारणीकरण होता है, और भोजकत्व-व्यापार के द्वारा उक्त रीति से साधारण कर लिए गए विभावादिकों के साथ वह रति, सहृदयों के द्वारा आस्वादित की जाती है। उस रति का आस्वादन ही रस की निष्पत्ति है। इस प्रकार **भट्टनायक**, काव्यों एवं नाटकों में अभिधा-व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नये व्यापारों की सत्ता मानते हैं, इसी कारण उन्हें भावकत्ववादी कहा जाता है।[2] **भट्नायक** का **हृदयदर्पण** अनुलब्ध होने पर भी **लोचन**[3] एवं

(तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नर: ।।") इति

—अभिनवभारती, भाग-1, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1936 ई., पृ. 277

1 पाण्डेय, शिवनाथ, ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास, पृ. 251-252

अन्यच्च

—कौर, अमरजीत, संस्कृत-काव्यशास्त्र पर भारतीय-दर्शन का प्रभाव, पृ. 56

2 'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन, रस: प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान: स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायक: ।'

—काव्यप्रकाश, पृ. 107

3 नन्नूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्' ।

अभिनवभारती[1] तथा **काव्यप्रकाश** में इनकी उस शैली का संकेत उपलब्ध है, जिसमें इन्होंने पूर्वाचार्यों की इस निष्पत्ति-विषयक मान्यता का खण्डन करके अपना मत प्रस्थापित किया था। ये उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद के विरोधी थे और उसके स्थान पर अपने भुक्तिवाद के संस्थापक थे। इस भुक्तिवाद की स्थापना के आधार पर प्राचीन आचार्यों तथा आधुनिक आलोचकों ने **भट्टनायक** को विभिन्न-दर्शनों से प्रभावित माना है। उनके अनुसार भुक्तिवाद का आधार मीमांसा, सांख्य और वेदान्त-दर्शन को माना जा सकता है। **विश्वेश्वर** ने अपनी **रसचन्द्रिका**[2] में **भट्टनायक** के रससिद्धान्त को 'भावनावाद' के आधार पर मीमांसा से, सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के आधार पर सांख्य से और 'भोग' के आधार पर वेदान्तदर्शन से प्रभावित माना है। इस प्रकार **भट्ट** का भुक्तिवाद उक्त तीनों दर्शनों से प्रभावित माना जाता है।[3]

यद्यपि इनके भुक्तिवाद के प्रबल-विरोधी आचार्य **अभिनवगुप्त** हैं, परन्तु

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 190-191

अन्यच्च

तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्,....निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षण: परब्रह्मास्वादसविधः।

—वही. पृ. 193

1 भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्।...... स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्-विकल्प्यम्।

—अभिनवभारती, भाग-1, पृ. 276

अन्यच्च

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन..........परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

—वही, पृ. 277

2 स्थायिनो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतत्वात् सत्त्वादीनां त्रयाणामुद्रेके सुखदुःखमोहा: क्रमात् प्रकाशन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरद्वया(?)भिभव इति सांख्यसिद्धान्तात् इति व्याचख्यौ।

—रसचन्द्रिका, पृ. 46

3 कौर, अमरजीत, संस्कृत-काव्यशास्त्र पर भारतीय-दर्शन का प्रभाव, पृ. 59

उनके इस विरोध-स्वर में ऐसी बातों का भी संकेत मिल जाता है कि **हृदयदर्पण** में **भट्टनायक** ने वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा लक्षणा को भी अमान्य ठहराया होगा ? इसीलिए **अभिनवगुप्त** को यह लिखना पड़ा कि इस (ध्वनि) की सत्ता को स्वीकार करके अलङ्कारध्वनि तथा वस्तुध्वनि का खण्डन उपहास्यास्पद बात है ।[1] इसी प्रकार 'निश्वासान्ध इवादर्शः' में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का भी खण्डन इनके लक्षणा-विरोधी होने की पुष्टि करता है ।[2]

यद्यपि रससूत्र-व्याख्या प्रसङ्ग में **भट्टनायक** का योगदान नूतन भूमिका लेकर अवतरित हुआ था, परन्तु इनके बाद सभी आलङ्कारिकों ने इनके भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को अमान्य ठहराया । कालक्रम में समीप होने के कारण **अभिनवगुप्त** ने ही सर्वप्रथम इसका प्रबलतम खण्डन करते हुए दोनों व्यापारों को निरर्थक सिद्ध किया ।[3] उनके अनुसार वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में भावकत्व तथा भोजकत्व-व्यापार की कल्पना निरर्थक है । वह कार्य व्यञ्जना द्वारा सम्पादित किया जा सकता है ।

महिमभट्ट (1000-1050 ई.)

ये ध्वनितत्त्व-विरोधी आचार्यों में प्रमुख हैं । इन्होंने **व्यक्तिविवेक** नामक प्रौढ़-ग्रन्थ की रचना करके समस्त-ध्वनि तथा लक्षणा को भी अनुमान में अन्तर्भूत कर लिया ।[4] उनके अनुसार शब्द का सामयिक सम्बन्ध एकमात्र

---

1 किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम् ।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 69

2 भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—'इव शब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्' इति ।
—वही, पृ. 180-181

3 तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण…… तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम् ।
—वही, पृ. 200
अन्यच्च
वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव । भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित् । भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते ।
—वही, पृ. 199

4 अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥ 1.1

सङ्केतित-अर्थ ही होता है, अर्थान्तर नहीं। शब्द के श्रवण के अनन्तर जिस अर्थ का बोध होता है, उसे वाच्यार्थ कहते हैं। उसकी प्रतीति में अभिधा-व्यापार कार्य करता है। अवशिष्ट जितने अर्थों की प्रतीति होती है, वे सब अनुमेय हैं। उन्होंने एकमात्र अभिधा-शक्ति को मान्यता प्रदान करते हुए कहा कि शब्द में वह सामर्थ्य नहीं कि एक बार में अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति करा सके।[1] भट्ट ने लक्षणादि के उच्छेद के लिए शब्द की अनेक प्रकार की शक्तियों का निराकरण किया। अभिधा से अभिन्न जिन व्यापारों की प्रतीति होती है, वे शब्द के न होकर अर्थ के व्यापार हैं, क्योंकि कोई वृत्ति क्यों न हो, एक बार अपने कार्य कर लेने के अनन्तर जब अपने कार्य करने से विरत हो जाती है, तभी अन्य वृत्ति की प्रवृत्ति उक्त स्थल पर हुआ करती है।

भट्ट के अनुसार वाक्यार्थ के भेद

भट्ट वाक्यार्थ के दो भेद मानते हैं—वाच्य और अनुमेय। आलङ्कारिकों की तरह शब्द के वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन भेद उन्होंने स्वीकार नहीं किए हैं। मुख्य, शब्द का व्यापार होता है, लाक्षणिक, अर्थ का व्यापार होता है।

शब्द में विद्यमान शक्ति-विषयक-विवेचन

अग्नि आदि वस्तु में एक में अनेक शक्तियों के समाश्रय पाये जाने तथा तद्वत् शब्द में भी लक्षणादि शक्तियों के समाश्रय की सम्भावना-विषयक जिज्ञासा का समाधान करते हुए भट्ट ने कहा कि, यद्यपि अनेक शक्तियों का एकत्र सन्निवेश अवश्य पाया जाता है। अग्नि में भी विद्यमान दाहकता, पाचकता, प्रकाशकता शक्तियां एक साथ कार्य करती हैं, किन्तु यहां क्रमानुसारिता, सापेक्ष्यता, अव्यतिक्रम आदि का बन्धन नहीं पाया जाता है। दोनों ही शक्तियां निरपेक्षभाव से एक साथ अपना-अपना कार्य करती हैं। जिन एकाधिक शक्तियों का आश्रय एक ही होता है, उनकी प्रवृत्ति परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र होती है। उनमें पौर्वापर्य का नियम नहीं रहता। ये सब एक ही साथ अपना कार्य करती हुई देखी जाती हैं, किन्तु शब्द की आलङ्कारिकों के

—व्यक्तिविवेक, (व्या. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी), चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1964 ई., पृ. 1

1 शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥ 1:27
—वही, पृ. 111

द्वारा मान्य तथाकथित अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनादि शक्ति तो सापेक्ष है। लक्षणा, अभिधा की अपेक्षा करती है, तो व्यञ्जना भी अभिधा एवं लक्षणा-मूला होती है। इनमें पूर्वापरभाव तथा युगपत् कार्यकारित्व का भी सर्वथा अभाव पाया जाता है तथा क्रम से प्रवृत्त होती हुई देखी जाती है।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' इस नियम के अनुसार एक के निष्क्रिय होने पर ही द्वितीय-शक्ति प्रवृत्त होती है तथा अभिधा के बिना अन्य शक्तियां प्रवृत्त ही नहीं हो सकती हैं, अत: परस्पर इन शक्तियों का सापेक्ष्य-भाव बना रहता है। इसी कारण लक्षणा, अभिधा-पुच्छभूता मानी जाती है, अत: शब्द में अग्निवत् अनेक शक्तियों का एकाश्रयत्व सम्भव नहीं है।[1] इसलिए भट्ट के अनुसार तात्पर्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ नामक अर्थान्तरों के बोध का विषय शब्द न होकर अर्थ ही होता है। वैसे भी शब्द अपने अर्थ के समान दूसरे अर्थ की प्रतीति साक्षात् नहीं कराता है। वह उसी अर्थ का ज्ञान करा सकता है, जिसमें उसका संकेत रहता है। जिस प्रकार घट का असली कारण कुम्भकार न होकर दो कपालों का जोड़ होता है, या कपाल होता है, उसी प्रकार अर्थान्तर की प्रतीति का कारण भी पूर्ववर्ती अर्थ होता है, न कि उस अर्थ को बतलाने वाला शब्द।

प्रतीयमान अर्थ की लक्षणावदनुमेयता

महिमभट्ट गुणवृत्ति अथवा लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय को लक्षणा का कारण न मानकर उसे अर्थान्तर-प्रतीतिविषयक लिङ्ग, अथवा साधक-हेतु मानते हैं और यह भी मानते हैं कि अर्थान्तर, शब्द का वाच्य, अर्थात् संकेतित-अर्थ न होने के कारण प्रतीयमान आदि अर्थ भी लक्षणा की तरह अनुमेय ही हैं। यथा—शब्दों की गुणवृत्ति में जितनी सामग्री कारण रूप से मानी गई है, उसी को हम अर्थान्तर के प्रति लिङ्गरूप से स्वीकार करते हैं। वह अर्थान्तर शब्द का वाच्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसमें शक्ति नहीं है, इसलिए प्रतीयमानता में अनुमेयता स्पष्ट है।[2] उनके

---

1 तथा हि—एकाश्रया: शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव स्वकार्यकारिण्यो दृष्टा:.........तस्माद् भिन्नाश्रया एव ता न शब्दैकसमाश्रया इत्यवसेयम्।
—व्यक्तिविवेक, पृ. 113-114

2 गुणवृत्तौ गिरां यावत् सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैव लिङ्गतयास्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥ 1.55

अनुसार वाच्य और व्यङ्‌ग्य अर्थों में व्यङ्‌ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं बन सकता है, क्योंकि ये प्रकाशक प्रदीप तथा प्रकाश्य घटादि के समान एक साथ प्रकाशित नहीं होते हैं ।[1]

महिमभट्ट की काव्यानुमिति

अनुमितिवाद के उपस्थापक **महिमभट्ट** ने एक ओर तो रस को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया और दूसरी ओर ध्वनि एवं अनुमिति में अभेद माना ।[2] **ध्वनिकार** जिसे ध्वनि कहते हैं, उसे ही **महिमभट्ट** अनुमिति की संज्ञा देते हैं । **भट्ट** के अनुसार अनुमिति अथवा काव्यानुमिति का लक्षण है—जहां वाच्य या उससे अनुमिति-अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अन्य-अर्थ को प्रकाशित करता है, उसे काव्यानुमिति कहा जाता है । यह लक्षण, अनुमान का ही विषय हो सकती है और किसी का नहीं, जैसा कि यहां कहा गया कि त्रिरूप-लिङ्ग का कथन (आख्यान) अनुमान है ।[3]

इस प्रकार शब्द से अर्थ का प्रकाशन-व्यापार एकमात्र अभिधा को मानते हुए इससे भिन्न लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य एवं वक्रोक्ति आदि जितने भी व्यापारों की कल्पना की जाती है, उनसे प्राप्त अर्थ अनुमेय हैं, ऐसा **महिमभट्ट** मानते हैं । इस प्रकार अर्थ की प्रतीति कराने में शब्द का अभिधा ही एक

न हि तत्समयाभावाद्वाच्यं शब्दस्य कल्प्यते ।
प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्यानुमेयता ।। 1.56
—व्यक्तिविवेक, पृ. 123

1 वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यङ्‌ग्यव्यञ्जकतार्थयोः ।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ।। 1.33
—वही, पृ. 112

2 काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
संज्ञायां सा, केवलमेषापि व्यक्तययोगतोऽस्य कुतः ।। 1.26
—वही, पृ. 111

3 वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ।। 1.25
एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य । यदुक्तं 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ।'
—वही, पृ. 111

व्यापार माना गया है, दूसरा जो व्यापार है, वह सारा अर्थ का है।[1] इस प्रकार महिमभट्ट के मत से शब्द की एक ही शक्ति अभिधा है। यह अभिधा भी कुन्तक द्वारा वर्णित विचित्र अभिधा, वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध-शक्ति, लोल्लट आदि के बाण के समान दीर्घदीर्घतर-व्यापार वाली अभिधा तथा 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' वाली अभिधा से भिन्न है। इस अभिधा द्वारा वाच्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले प्रतीयमान आदि अर्थों में क्रम रहता है तथा क्रम कहीं लक्ष्य होता है और कहीं अलक्ष्य भी, अतः इनका परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-सम्बन्ध न मानकर कार्यकारणभाव सम्बन्ध, अर्थात् साध्यसाधनभाव-सम्बन्ध माना जाना चाहिए। साध्य एवं साधन दोनों शब्दगत और अर्थगत भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं तथा ये चारों प्रकार, पदार्थगत एवं वाक्यार्थगत भेद से पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं।[2]

शब्दशक्ति एवं अर्थशक्ति का विषय

उक्त प्रभेदों के अन्तर्गत साध्य-अर्थ के—वस्तु, अलङ्कार एवं रसादि तीन प्रकार होते हैं। भट्ट के अनुसार इनमें प्रथम दो शब्दशक्ति अभिधा तथा अनुमान के विषय होते हैं। अन्तिम रसादि-भेद अनुमान का ही विषय मात्र होता है, अर्थात् वह केवल अनुमेय होता है। लक्षणा द्वारा इसे व्यङ्ग्य कहा जाता है।[3] भक्ति का प्रयोजनांश तथा विभावादियों का संयोग इस अनुमेय रस में चमत्कार का आधान करके इसे सामान्य लौकिक अनुमेय पदार्थ से

---

1 अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः॥ 1.71
—व्यक्तिविवेक, पृ. 143

2 निवर्तते वेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता॥ 1.38
ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्थत्वभेदतः।
पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते॥ 1.39
—वही, पृ. 112-113

3 तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयः।
इति त्रिधैव, तत्राद्यौ पदं शब्दानुमानयोः॥ 1.40
अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या तु तस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते। (1.41)
—वही, पृ. 113

भिन्न कर देता है, क्योंकि वहां केवल लिङ्गपुरस्सर अनुमिति होती है ।[1] भट्ट ने न्यायशास्त्र की अनुमिति प्रक्रिया को ध्वनि एवं लक्षणा के उदाहरणों में प्रदर्शित करने का प्रयास किया है । लक्षणा और व्यञ्जना के तीन प्रसिद्ध उदाहरणों 'भम धम्मिअ', 'गौर्वाहीक:', 'गङ्गायां घोष:' के आधार पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि महिमभट्ट लक्षणा एवं व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में करने के लिए पूर्णत: सचेष्ट थे । उन्होंने अनुमान की सारी प्रक्रिया को इन मुख्य उदाहरणों पर घटित करने का प्रयास किया है । बाद के आचार्यों ने उनके प्रदर्शित हेतुओं को हेत्वाभास कहकर तथा अन्य प्रमाण द्वारा उन्हें पूर्णत: निरस्त कर दिया । यहां केवल उदाहरण के रूप में 'भम धम्मिअ' को प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक न होगा । 'भम धम्मिअ' इस ध्वनि-उदाहरण में उन्होंने अनुमान की प्रक्रिया प्रदर्शित करते हुए कहा कि इस श्लोक के माध्यम से सिंह के बच्चे का क्रोधातिरेक व्यक्त करती हुई और कुत्ते की मृत्यु का समाचार, जो कि उस व्यक्ति के लिए प्रिय था, देती हुई, विदग्धा एवं मुग्धा नायिका, विधिमुखेन घूमने का निषेध कर रही है ।[2]

इस श्लोक में वाच्यार्थ और प्रतीयमान-अर्थ दोनों विधि तथा निषेध-मुख से क्रमश: प्रकट होते हैं । ये दोनों धूम और अग्नि के सदृश साध्य-साधनभाव में स्थित हैं । यहां कुत्ते की अनुपस्थिति से घर में घूमने की विधि कही गई है और गोदावरी तीर पर सिंह की उपस्थिति से यहां भ्रमण के निषेध का अनुमान किया गया है, व्याप्ति इस प्रकार हो सकती है । जहां-जहां भीरु पुरुष घूमता है, वहां-वहां भय के कारणों के अभाव में ही घूमता है, क्योंकि गोदावरी तीर पर सिंह उपस्थित है, अतएव यहां व्याप्ति के विरुद्ध कारणों की प्राप्ति

---

1 भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षण: ॥ 1.41
स तत्रास्तीति, सोऽप्यस्य विभावाद्यैकहेतुक: ।
अत एव न लोकेऽपि चमत्कार: प्रसज्यते ॥ 1.42
तत्र हेत्वादय: सन्ति न विभावादयो यत: । (1.43)
—व्यक्तिविवेक, पृ. 113

2 अत्र······ केसरिकिशोरकस्य क्रौर्यातिरेकं कुक्कुरमारणमात्रत्रासोपन्यासेनास्य प्रियमावेदयितुकामया विदग्धयापि मुग्धयेव विधिमुखेन भ्रमणस्य प्रतिषेधो विहित: ।
—वही, पृ. 463

होती है ।[1] यहां अनुमान इस प्रकार किया जाता है कि गोदावरी नदी के तीर पर सिंह की उपस्थिति के कारण घूमने के लिए वहां जाना और कुत्ते के मारे जाने पर घर में निश्चिन्त होकर घूमना उचित है । **भट्ट** का कथन है कि यहां भ्रमण का जो निषेध व्यक्त हो रहा है, वह अनुमान द्वारा ही प्राप्त है, उसे हम अनुमेय कह सकते हैं । उसकी प्रतीति व्यङ्ग्यार्थ द्वारा कथमपि नहीं मानी जा सकती है । क्योंकि अग्नि का स्पर्श कभी भी शीतल नहीं हो सकता है ।[2] **महिमभट्ट** गोदावरी तीर पर पण्डित जो के न जाने, अर्थात् भ्रमणाभाव के बोध के लिए व्यतिरेक-व्याप्ति का आश्रय लेते हैं । गोदावरी का किनारा आप जैसे भीरुओं के भ्रमण के योग्य नहीं है, यह बात सिद्ध करती है कि श्लोक में विधि-रूप से 'भ्रम' (भ्रमण करो) यह कहा गया है ।

वस्तुत: **भट्ट** के अनुसार यहां पर व्याप्ति-युक्त तथा नियतधर्मी तीन रूपों वाले लिङ्ग से लिङ्गी का जो अनुमान है, उसी में व्यञ्जना का भी पर्यवसान हो जाता है । वस्तुतः पूर्वोक्त प्रकार से दिए गए हेतु, हेत्वाभासमात्र हैं । जो हेतु अपने आश्रय में ही नहीं पाया जाय, उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं । इस उदाहरण में सिंह की उपस्थिति किसने देखी । स्वयं पण्डित जी ने तो सिंह देखा नहीं, अतः प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से सिंह की उपस्थिति निश्चित नहीं होती, किन्तु केवल उस कुलटा नायिका के वचनों से ही ज्ञात होता है, परन्तु वचन से जिस अर्थ का ज्ञान हो वह अर्थ अवश्य होना चाहिए, इसका कोई प्रमाण नहीं है ।

मम्मटाचार्य के अनुसार अर्थ के साथ वचन का प्रतिबन्ध न होने से वचन-प्रामाण्य नहीं है,[3] अतः सिंह हेतु की उपस्थिति में वन आश्रय में सिद्ध

---

1 अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।
—काव्यप्रकाश, पृ. 260

2 तेनानुमेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यङ्ग्य इत्यवसेयं यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरित्यतः शीतस्पर्शस्य ।
—व्यक्तिविवेक, पृ. 465

3 गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपि तु वचनात् । न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च । तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः ।
—काव्यप्रकाश, पृ. 261

न होने से यह हेतु नहीं है ।[1] यह हेतु अनेकान्तिक भी है, क्योंकि जो हेतु विपक्ष में पाया जाता है, वह अनेकान्तिक होता है । गुरु की आज्ञा, प्रभु के आदेश अथवा प्रिया के कारण भीरु व्यक्ति भी ऐसे स्थानों पर गमन करता हुआ देखा जाता है । जहां भय कारण हो, अर्थात् युद्ध-क्षेत्र में भीरु भी तो जाते ही हैं, अतः जहां-जहां भय का कारण हो वहां-वहां भीरु नहीं जाते हैं, यह व्याप्ति नहीं बन सकती है, अतः अनेकान्तिक हेत्वाभास है । इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' स्थल में वे गौ आदि अर्थों का वाहीक आदि में अभेद का अनुमान सिद्ध करते हैं ।[2]

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार अनुमान का 'गौर्वाहीकः' से अधिक अच्छा उदाहरण और क्या माना जा सकता है ? क्योंकि वाहीक में गौ के साधर्म्य की प्रतीति का कारक जो वाहीक, उस पद में गोत्व का आरोप है, उसकी सार्थकता साधर्म्य को अनुमान का विषय बनाने में ही है, अतः यहां अनुमान का विषय है । शब्द व्यापार का नहीं, क्योंकि गोत्व के आरोप से वाहीक में उसके साम्य का अनुमान किया जाता है । कौनसा बुद्धिमान् व्यक्ति अत्यन्त भिन्न और साम्य-शून्य पदार्थ में किसी भिन्न पदार्थ के आरोप का उल्लेख करेगा ।[3]

भट्ट के अनुसार भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का जो अभेद कथन है, उसका आधार सम्बन्ध है, किन्तु वह अभेद मुख्यार्थ के बाध हो जाने से अनुमान द्वारा

---

1 अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि ।

—काव्यप्रकाश, पृ. 261

2 यश्चासावाश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति तद्व्यापारस्यानुमानान्तर्भावोऽभ्युपगन्तव्य एव । तथा हि । 'गौर्वाहीकः' इत्यादौ तावद् गवादयोऽर्था बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरैकात्म्यास्ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्त्या केनचिदंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना ।

—व्यक्तिविवेक, पृ. 114

3 गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद्बुधः ।।
—वही, पृ. 118

बताया जा सकता है, मुख्यार्थबाधादि द्वारा नहीं।[1] डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वस्तुतः शब्द एक जड़ तथा तटस्थ पदार्थ है, उसमें एक ही शक्ति सम्भव है। अर्थ का जहां तक सम्बन्ध है, भट्ट के अनुसार अर्थ की शक्ति शब्द-शक्ति नहीं मानी जा सकती है, अतः उसे अनुमान आदि के समान काव्येतर-तत्त्व ही मानना होगा, नहीं तो अनुमान को भी काव्याङ्ग मानना होगा। जिससे काव्याकाव्यत्व का विवेक असम्भव हो जाएगा।[2]

भट्ट के मत का मूल्याङ्कन

महिमभट्ट ने अभिधातिरिक्त शक्तियों को अनुमान के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयत्न किया तथा शब्द-शक्ति-विषयक नूतन विचारधारा को जन्म दिया। अनुमान की यह प्रक्रिया भट्ट का मौलिक-चिन्तन है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में से आज तक किसी ने भी शक्तियों के एकाश्रयत्व या भिन्ना-श्रयत्व के विषय में अभी तक कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं। वैसे भी अर्थान्तर का आधारमात्र शब्द नहीं हो सकता है, उसका आश्रयरूप परम्प-रित-शब्द और मुख्यरूप-अर्थ दोनों ही हो सकते हैं, क्योंकि अर्थ के बिना अर्थान्तर की कल्पना निराधार आकाश में उद्यान बनाने के समान है।

ध्वनिकार ने कहा भी है—जैसे प्रकाश चाहने वाला व्यक्ति दीपशिखा के लिए उस आलोक का उपाय होने के कारण यत्नवान् होता है, क्योंकि दीप-शिखा के बिना आलोक सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य-अर्थ के प्रति आदरयुक्त-जन वाच्य-अर्थ में यत्नवान् होता है,[3] अतः अर्थान्तर की प्रतीति में शब्दमात्र आश्रय नहीं हो सकता, किन्तु शक्तियों के आश्रय के विषय में

---

1 यः सतत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः।
मुख्यार्थबाधे सोऽप्यार्थं सम्बन्धमनुमापयेत् ॥ 1.46
मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते।
विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत् ॥ 1.48
—व्यक्तिविवेक, पृ. 122

2 व्यक्तिविवेक, (संपा. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी), भूमिका-अंश, पृ. 14 पर उद्धृत।

3 यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ 1.10
—ध्वन्यालोक, पृ. 99

जब तक गहराई से चिन्तन न किया जाए, तब तक इस विषय का प्रतिवाद या समर्थन दोनों ही विषय अनिर्णीत रूप में विद्वानों के लिए विवेचनीय हैं।

मम्मटाचार्य ने लक्षणा को वस्तुत: अर्थगत-व्यापार ही माना, लक्षणा को शब्द का वास्तविक व्यापार न मानकर आरोपित-व्यापार माना है, तथापि आचार्यों ने इस विषय में अधिक खुलकर न विरोध किया और न ही टीका-टिप्पणी ही की है। ध्वनि तथा लक्षणा के प्रबल विरोधी आचार्यों में **महिमभट्ट** का स्थान प्रथम है, इनके अनुमितिवाद का **मम्मट** ने विरोध किया। **मम्मट** द्वारा खण्डन किये जाने पर भी **महिमभट्ट** के शब्दव्यापार के विषय में उठाये गये प्रश्न उपेक्षणीय कैसे कहे जा सकते हैं ?

6 भोज (10 वीं श.)

इनके द्वारा विरचित **शृङ्गारप्रकाश** छत्तीस प्रकाशों में रचा गया संस्कृत-काव्यशास्त्र का एक दीर्घकाय ग्रन्थ है। जिसमें काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र दोनों ही विषयों का विवेचन है। **भोज** ने इस कृति में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शब्दशक्ति का विराम नहीं होता है, शब्दशक्ति एवं तात्पर्य अभिन्न हैं। यद्यपि **भोज** ने शब्दशक्ति को अभिधा, लक्षणा एवं गौणी नामों से विभाजित किया, तथापि शब्दशक्ति का विस्तार ध्वनि-पर्यन्त स्वीकार किया।

भोज के अनुसार शब्दशक्ति का प्रसार एवं अभिधा

यह पूर्णत: सिद्ध है कि **भोज** ध्वनि-पर्यन्त शब्दशक्ति का प्रसार तथा उसकी सक्रियता को स्वीकार करते हैं। ये शब्दशक्ति को अन्तिम अर्थ तक प्रसृत मानते हैं। इनके अनुसार—शब्द ही यौगपद्य अथवा पर्याय के कारण अनेक अर्थरूप में परिणत हो जाता है।[1]

वृत्तित्रयात्मिका अभिधा

भोज ने अभिधा की तीन वृत्तियां स्वीकार कीं और इस प्रकार वे लक्षणा

---

1 तस्मादेक एव शब्दोऽनेकमर्थं यौगपद्येन पर्यायेण वा पिधत्ते, न तु स्वार्थ-मुत्सृज्यार्थान्तरे प्रवर्तते। प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां च तस्य मुख्यगौणत्वव्यव-देशो जायते। तत्र यौगपद्येऽपि यदा प्रसिद्धेनार्थेनावच्छिद्यते, शब्दस्तदा मुख्यव्यवदेशं लभते। अप्रसिद्धेन तु अर्थेन प्राप्तावच्छेदकस्य गौणत्वव्यवदेशो भवति।

—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 361

को भी अभिधा की ही एक वृत्ति मानते हैं। उनका सिद्धान्त यह भी है कि शब्द में रहने वाली एकमात्र अभिधा है, जो अर्थ का बोध कराती है। उसके व्यापार द्वारा होने वाला अर्थ अभिधेय ही माना जाता है।[1] अभिधेय की ओर उन्मुख होने वाला शब्द तीन वृत्तियां धारण करता है और वे वृत्तियां हैं—मुख्या, गौणी और लक्षणा।

गौणी एवं लक्षणा वृत्तियों में पार्थक्य

भोज के अनुसार गौणी तथा लक्षणा दो भिन्न वृत्तियां हैं। ये अभिधा की तीन वृत्तियों में परिगणित हैं, उनमें प्रथम-वृत्ति मुख्या-वृत्ति है। अन्य गौणी एवं लक्षणा में पार्थक्य इनके मतानुसार बना ही रहता है।

शब्दशक्ति का विभाजन-प्रकार

अभिधा के उक्त तीनों भेद विभक्त होकर षड्विधत्व को प्राप्त होते हैं। प्रथमतः मुख्या (अभिधा की प्रथम वृत्ति) के दो भेद होते हैं। तथाभूतार्था और तद्भावापत्ति। इसी प्रकार गौणी भी गुणनिमित्ता तथा उपचार-निमित्ता भेद से दो प्रकार की है और लक्षणा भी लक्षणा तथा लक्षित-लक्षणा भेद से दो प्रकार की है। इस प्रकार अभिधा के कुल छः भेद हुए। इनमें से तथाभूतार्था (मुख्या) के भी छः भेद होते हैं।[2] इसी प्रकार तद्भावा-

---

1 शब्दस्यार्थाभिधायिनी शक्तिरभिधा। तया स्वरूप इवाभिधेये प्रवर्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या, गौणी लक्षणेति तिस्रः।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223
अन्यच्च
भोजदेवो गौणीलक्षणयोः समावेशमभिधायायामेव करोति। एतन्मते मुख्या द्विविधा। तथाभूतार्था तद्भावापत्तिश्च। ……कामं भोजदेवः शक्तिसम्बन्धे बहुतरं प्रपञ्चमुत्पादयति परं तत्र सारस्तु प्रकटित एवम्। अभिधायां भिन्नानां सर्वासां शक्तिनामन्तर्भावः तात्पर्ये भवति। अतो भोजमते मुख्ये शक्ती द्वे एव—अभिधा तात्पर्यवृत्तिश्च।
—शर्मा, योगेश्वरदत्त, अभिधाविमर्शः, पृ. 96

2 प्रत्येकं चैतास्तिस्रोऽपि द्विधाभूय पृथक् षोढा भिद्यन्ते। तत्र मुख्या द्विधा—तथाभूतार्था, तद्भावापत्तिश्च। तयोस्तथाभूतार्था षोढा, जातिविषया, व्यक्तिविषया, आकृतिविषया, गुणविषया, क्रियाविषया, सम्बन्धविषया चेति।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223

पत्ति (मुख्या) के भी छः भेद होते हैं।[1] अतथात्व होने पर भी अध्यासादि के द्वारा जहां तथात्व का आपादान किया जाता है, वहां तद्भावापत्ति होती है।

मुख्या के भेदों को वर्णित कर क्रम-प्राप्त गौणी को विभाजित किया गया है। गौणी भी गुणनिमित्ता और उपचारनिमित्ता भेद से दो प्रकार की होती है। गुणनिमित्ता भी छः प्रकार की होती है।[2] गुणनिमित्ता के समान उपचारनिमित्ता के भी छः भेद होते हैं।[3] गौणी के भेदों को वर्णित कर भोज ने क्रम-प्राप्त लक्षणा के भी दो भेदों का वर्णन करने के उपक्रम में सर्वप्रथम लक्षणा के लक्षणा और लक्षितलक्षणा दो भेद किए हैं। लक्षणा के पूर्ववत् छः भेद किये हैं।[4] लक्षितलक्षणा के भी छः भेद होते हैं।[5] ये भेद सारणी द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं।[6]

- अभिधा
  - मुख्या
    - तथाभूतार्था (6 भेद)
    - तद्भावापत्ति (6 भेद)
  - गौणी
    - गुणनिमित्ता (6 भेद)
    - उपचारनिमित्ता (6 भेद)
  - लक्षणा
    - लक्षणा (6 भेद)
    - लक्षितलक्षणा (6 भेद)

---

1 अर्थस्यातथात्वेऽध्यासादिभिस्तथात्वापादनं तद्भावापत्तिः। सापि षोढा, अध्यासात्मिका, कल्पनात्मिका, विवर्तात्मिका, विपरिणामात्मिका, विपर्ययात्मिका, प्रवादात्मिका चेति।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 224

2 ....तथापि तस्या षडेव विकल्पा भवन्ति। मुख्यविषयः, अमुख्यविषयः, भेदविषयः, अभेदविषयः, विशेषणविषयः, अविशेषणविषय इति।
—वही, पृ. 226

3 सापि षट्प्रकारा भवति, धर्मनिमित्ता, गुणनिमित्ता, आकृतिनिमित्ता, क्रियानिमित्ता, स्वरूपनिमित्ता, जातिनिमित्ता च।
—वही, पृ. 229

4 तत्र लक्षणा षोढा, सामीप्यलक्षणा, साहचर्यलक्षणा, सहचरितलक्षणा, हेतुलक्षणा, तादर्थ्यलक्षणा, परिमाणलक्षणा च।
—वही, पृ. 233

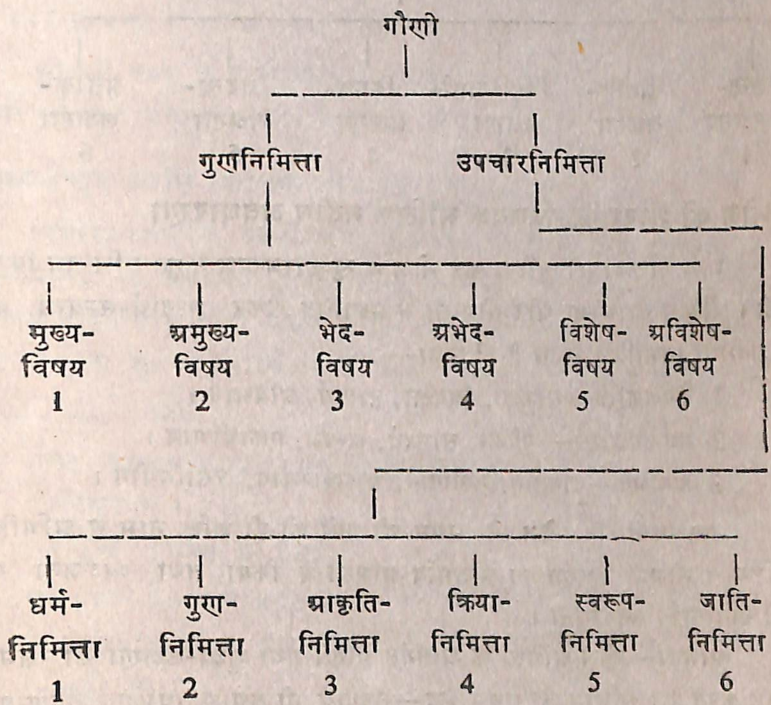
5 लक्षितलक्षणापि षोढैव—रूढलक्षणा, प्रतीकलक्षणा, विवक्षितलक्षणा, विरुद्धलक्षणा, तदन्यलक्षणा, प्रकीर्णलक्षणा च।
—वही, पृ. 234

6 देखें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ. 382-384

उक्त लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा में अन्तर बतलाने के लिए दोनों की परिभाषा भी निर्दिष्ट की है। जहां उपात्तशब्द के द्वारा अर्थ की क्रिया-सिद्धि के साधनत्व के अयोग के कारण वाक्यार्थ अविनाभूत-अर्थान्तर को व्यवहित ही लक्षित कराता है; वह लक्षणा है, तद्व्यतिरिक्त रूढ एवं प्रतीक आदि से होने वाली लक्षणा लक्षितलक्षणा है।[1]

लक्षणा से भिन्न गौणी का स्वतन्त्र अस्तित्व

शृङ्गारप्रकाश में भी गौणी को लक्षणा से भिन्न-वृत्ति माना गया है। लक्षणा-वृत्ति के समान-स्तर में गौणी का भी द्वादश भेदों में विभाजन करना उसके पृथक् अस्तित्व की सिद्धि का सूचक है। पूर्वोक्त भेदों के अनुसार गौणी एवं लक्षणा का वर्गीकरण निम्न प्रकार से होगा।



---

1 तयोर्यस्यामुपात्तशब्दस्यार्थस्य क्रियासिद्धौ साधनत्वायोगात् स्वार्थोऽविनाभूतमर्थान्तरं व्यवहितमेव लक्षयति सा लक्षणा, तद्व्यतिरिक्ता तु वक्ष्यमाणानेकरूपा लक्षितलक्षणेति।

—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 233

- लक्षणा
  - लक्षणा
    - सामीप्य-लक्षणा
    - साहचर्य-लक्षणा
    - सहचरित-लक्षणा
    - हेतु-लक्षणा
    - तादर्थ्य-लक्षणा
    - परिमाण-लक्षणा
  - लक्षितलक्षणा
    - रूढ-लक्षणा 1
    - प्रतीक-लक्षणा 2
    - विवक्षितार्थ-लक्षणा 3
    - विरुद्ध-लक्षणा 4
    - तदन्य-लक्षणा 5
    - प्रतीक-लक्षणा 6

भोज की शब्दशक्ति-विषयक मौलिक नवीन अवधारणा

शब्द-शक्तियों को लक्षित कर भोज ने शृङ्गारप्रकाश में नूतन चिन्तन किया है। भोज ने व्याकरण और मीमांसा से प्रभावित होकर शब्दार्थ-सम्बन्ध को द्वादशधा विभाजित किया है।[1] यथा—

1 केवलशक्ति—अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग।

2 सापेक्ष्यशक्ति—व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव।

3 अन्यभेद—दोषहान, गुणादान, अलङ्कारयोग, रसावियोग।

उक्त वर्गों में भोज ने प्रथम दो वर्गों को ही शक्ति नाम से अभिहित किया। भोज ने लक्षणा का अन्तर्भाव अभिधा में किया तथा व्यञ्जना को तात्पर्यान्तिर्भावित माना।

अभिधा—भोज अभिधा के अन्तर्गत गौणी तथा शुद्धा-लक्षणा का समावेश करते हैं। अभिधा का प्रथम भेद—मुख्यार्थ भी तथाभूतार्था एवं तद्भावा-

---

1 तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहान-गुणोपादानालङ्काररसावियोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादशसम्बन्धाः साहित्यमित्युच्यते।

—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 223

पत्ति भेद से दो भेदवाला है। गौणी भी गुणनिमित्ता तथा उपचारनिमित्ता भेद से दो प्रकार की है। शुद्धा-लक्षणा को भी लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा भेद से विभाजित किया गया है।

विवक्षा—भोज विवक्षा को शक्ति के रूप में मानते हैं। विवक्षा कवि या वक्ता की इच्छा है, जिसकी प्रतीति काकु-प्रकरण एवं अभिनय के द्वारा होती है। काक्वादिव्यङ्ग्य, प्रकरणादिव्यङ्ग्य, अभिनयादिव्यङ्ग्य ये विवक्षा के ही भेद हैं।

तात्पर्य—तात्पर्य-नामक शक्ति के भी अभिधीयमान, प्रतीयमान, ध्वनि-रूप तीन भेद माने गये हैं।[1]

प्रविभाग—प्रविभाग नामक-शक्ति वहां मानी गयी है, जहां किसी पद, वाक्य, प्रबन्ध में अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, एतत्प्रकारक-ज्ञान शब्दार्थ के परस्पर-सम्बन्ध के कारण पृथक्-रूप से प्रतीत हो।[2]

भोज ने प्रथम के चारों भेदों को शब्दसम्बन्ध-शक्ति तथा अन्यों के चारों भेदों को शब्दार्थसम्बन्ध-शक्ति के रूप में माना है।[3]

तात्पर्य एवं ध्वनि-विषयक भोज की मान्यता

शृंगारप्रकाश में यद्यपि ध्वनि की अलग से चर्चा मिलती है, किन्तु वह तात्पर्यवाद से प्रभावित है। **भोज**, **धनिक** की तरह तात्पर्यवादी हैं। इनका तात्पर्य वाक्यार्थ में क्षीण न होकर बहुत व्यापक क्षेत्र वाला है। **भोज** का मत है कि तात्पर्य वाक्य में ही रहता है, क्योंकि पदमात्र से अभिप्राय का

---

1 तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति। अभिधीयमानं प्रतीयमानं ध्वनिरूपं च।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 246

2 पदे वाक्ये प्रबन्धे वाऽस्यैतावतः शब्दस्यायमर्थोऽस्मिन्नर्थे चायमेतावच्छब्द इति शब्दार्थयोर्मिथः सम्बन्धितया पृथक्त्वेनावधारणं प्रविभागः।
—वही, पृ. 263

3 अभिधा च विवक्षा च तात्पर्यञ्च विभागवत्।
चतस्रः केवला ह्येताश्शब्दसम्बन्धशक्तयः॥
यापेक्षा यच्च सामर्थ्यमन्वयो यश्च तैर्मिथः।
ऐकार्थ्यं यच्च तास्तस्य ससहायस्य शक्तयः॥
—वही, पृ. 267

बोध होना अशक्य है।[1] यह तात्पर्य अभिप्राय-रूप होता है। वाक्यप्रतिपाद्य-तात्पर्य, अभिधीयमान, प्रतीयमान तथा ध्वनि-रूप भेद से तीन प्रकार का होता है।[2] यथा—जहां आकाङ्क्षादि के द्वारा उपात्त-शब्दों से वाक्य के अर्थ का बोध होता है, वह 'अभिधीयमान' कहा जाता है।[3] वाक्यार्थ ज्ञान के अनन्तर उपपन्न अथवा अनुपपन्न वाक्यार्थ, अर्थ, प्रकरण आदि के औचित्य से जिस अर्थ की प्रतीति कराता है, वह 'प्रतीयमान' कहा जाता है।[4]

जहां शब्द के माध्यम से उपसर्जनीकृतस्वार्थ होता हुआ, अर्थात् अपने आपको गुणीभूत करके वाक्यार्थ के ज्ञान के अनन्तर अनुनादरूप में अभिव्यञ्जित होने वाला अर्थ ही ध्वनिरूप है, वह अभिधीयमान अर्थ विधिरूप, निषेधरूप तथा विधिनिषेधादिरूप से चार प्रकार का होता है। ध्वनि भी प्रथमतः अर्थध्वनि तथा शब्दध्वनि-भेद से दो प्रकार की होती है तथा ये उभयविध ध्वनियां पुनः अनुवादरूप एवं प्रतिशब्दरूप भेद से दो प्रकार की होती हैं।

यहां भोज प्रतीयमान तथा ध्वनि को तात्पर्य का एक-रूप मानते हैं, किन्तु अन्त में वे ध्वनि को तात्पर्य का ही अपरपर्याय घोषित करते हैं, इनमें अभिधान का अन्तर स्थान-भेद के कारण आता है।[5]

---

1 यत्परश्शब्दः स शब्दार्थ इति तात्पर्यम्। तच्च वाक्य एवोपपद्यते। पदमात्रेणाभिप्रायस्य प्रकाशयितुमशक्यत्वात्।
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 246

2 तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति। अभिधीयमानं प्रतीयमानं ध्वनिरूपञ्च।
—वही, पृ. 246

3 यत्र यदुपात्तशब्देषु मुख्यगौणीलक्षणाभिः शब्दशक्तिभिः स्वमर्थमभिधायोपरतव्यापारेषु आकांक्षासन्निधियोग्यतादिभिर्वाक्यमात्रमभिधीयते तदभिधीयमानम्। यथा—गौर्गच्छति।
—वही, पृ. 246

4 वाक्यार्थावगतेरुत्तरकालं वाक्यार्थ उपपद्यमानोऽनुपपद्यमानो वार्थप्रकरणौचित्यादिसहकृतो यत्प्रत्याययति तत्प्रतीयमानम्। यथा—विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्थाः।
—वही, पृ. 246

5 तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये।
—वही, 221

लोक में जो तात्पर्य कहा जाता है, उसे ही काव्य में ध्वनि नाम से व्यवहृत किया जाता है, ऐसी **भोज** की मान्यता है। तात्पर्य, लोक में प्रयुक्त अवक्ररूप होता है तथा ध्वनि-काव्य में प्रयुक्त वक्ररूप। इस प्रकार तात्पर्य ही जब वक्र-रूप में प्रयुक्त होता है, तो उसे ध्वनि कहते हैं।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि अन्य तात्पर्यवादियों (दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापार-वादियों) के समान **भोज** ने लक्षणा और ध्वनि की पृथक् सुस्पष्ट सत्ता को अस्वीकार करके अपने अभिधावाद में ही उसे समेटने का प्रयत्न किया है। उनके द्वितीय ग्रन्थ **सरस्वतीकण्ठाभरण** में भी यह प्रयत्न परिलक्षित होता है, अतः उस ग्रन्थ की मान्यताओं का भी किञ्चित् निर्देश करना आवश्यक है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में वर्णित-शब्दशक्ति का स्वरूप

पांच परिच्छेदात्मक **सरस्वतीकण्ठाभरण** में प्रधानरूपेण शक्ति की चर्चा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है। प्रसङ्गतः द्वितीय परिच्छेद में शब्दार्थालङ्कार पर विचार करते हुए 'शय्या' के षड्विध प्रभेदों की चर्चा के अवसर पर यत्किञ्चित् कहा गया है।

अभिधा के भेद

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार **रत्नेश्वर**-कृत विभाजन के अनुसार शब्द की अर्थ-प्रतिपादन-शक्ति अभिधा है। इस अभिधा के मुख्या, गौणी एवं लक्षणा तीन भेद होते हैं।[2] **रत्नेश्वर** ने साथ में 'तथाभूतार्था' और 'तद्भावा-पत्ति, का उल्लेख किया है। अर्थान्तर-सम्बन्ध-विषया को 'तथाभूतार्था' नाम से व्यवहृत किया गया है। यही जब अर्थान्तर तथा स्वार्थ-सम्बन्ध को अपना क्षेत्र बनाती है, तो 'तद्भावापत्ति' नाम से समुच्चरित होती है।[3] पुनः पूर्व-

---

1 कः पुनः काव्यवचसोः ध्वनितात्पर्ययोर्विशेषः ? उच्यते—
यदवक्रं वचश्शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥
—शृङ्गारप्रकाश, पृ. 221

2 शब्दस्य अर्थप्रतिपादनशक्तिरभिधा। सा च त्रिधा—मुख्या, गौणी, लक्षणा च। तासु मुखमिव प्रथमं यस्यामर्थः प्रतीयते सा मुख्या।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, (टीका. रत्नेश्वर), पृ. 279

3 तथाभूतार्था तद्भावापत्तिश्च। तत्रावान्तरार्थसम्बन्धविषया तथाभूतार्था। ....सदृशोऽस्ति तेन। सैवार्थान्तरस्वार्थसम्बन्धविषया तद्भावापत्तिः। अतथाभूतस्य तथात्वापादनं हि सा।
—वही, पृ. 279

वर्णित गौणी को विभाजित करते हुए इसके 'गुणनिमित्ता' एवं 'उपचार-निमित्ता' दो भेद किए हैं।[1] इसी प्रकरण में लक्षणा का लक्षण करने के अनन्तर इस लक्षणा को वक्रोक्तिजीवित नाम से अभिहित कर इसके शुद्धा एवं लक्षितलक्षणा दो भेद किए हैं।

साक्षात् स्वार्थसम्बन्धी अविनाभूत-विषया शुद्धा कहलाती है।[2] शुद्धा सदा अभिधेयार्थ से साक्षात् सम्बद्ध-अर्थ को समर्पित करती है। 'लक्षितलक्षणा' के सम्बन्ध में इनका स्वकीय मत नहीं है। कतिपय आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—'जिस वृत्ति से पूर्व का अर्थ लक्षित होवे उसे 'लक्षितलक्षणा' कहना चाहिए।' दूसरे लोगों के अनुसार—'जहां लक्षणा पर लक्षणा होती हो, वहां 'लक्षितलक्षणा' होती है।'[3] अन्त में 'तद्भावापत्ति' के विस्तार के भय से भेद-कथन न कर विवर्त, परिणाम, अध्यास आदि षड्भेदों का सङ्केतमात्र कर 'श्रुतार्थापत्ति' को भी लक्षणा के प्रसङ्ग में वर्णित कर दिया है।[4]

इस प्रकार इस ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में वर्णित अभिधा-वृत्ति के भेद, पूर्ववर्णित शृङ्गारप्रकाश के भेदों से पूर्ण साम्य रखते हैं और उन भेदों को

---

1 गुणव्यवहितार्था गौणी [सा द्विधा] गुणनिमित्ता उपचारनिमित्ता च।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, (टीका. रत्नेश्वर), पृ. 279

2 स्वार्थसम्बन्धव्यवहिता लक्षणा। तदुक्तम्—
'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेति या।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते॥' सा द्विधा—शुद्धा, लक्षित-लक्षणा च। तत्र साक्षात् सम्बन्ध्यविनाभूतविषया शुद्धा।
—वही, पृ. 279

3 यया पूर्वपूर्वलक्षितमेव लक्ष्यते सा लक्षितलक्षणेति केचित्। यथा—'मधुः द्विरेफः कुसुमैकपात्रे', 'भीमो भीमपराक्रमः' इति। अत्र द्विरेफादिना शब्देन लक्षित एव भ्रमरप्रभृतिर्लक्ष्यते न तु कुररादिः। अन्ये तु लक्षणा व्यवहिता लक्षणा लक्षितलक्षणेत्याहुः। यथा—'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति' इत्यादि।
—वही, पृ. 279

4 तद्भावापत्तिरूपां वृत्तिमासादयन्ति। अस्याश्च विवर्तपरिणामाध्यासादयः षट्प्रकारा गौरवभिया न प्रदर्शिताः। श्रुतार्थानुपपत्तिमूला कल्पना श्रुतार्थापत्तिः।
—वही, पृ. 280

पूर्व में भी व्याख्यायित करके सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है। यह भी उल्लेखनीय है कि सरस्वतीकण्ठाभरण के पञ्चम-परिच्छेद में इस भेद-प्रसङ्ग को पुनः उठाया गया है और टीकाकार रत्नेश्वर ने उन्हें विवेचित किया है, परन्तु वे भेद भी इन्हीं भेदों से साम्य रखते हैं, अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रतीत होता है कि भोज भी मुकुलभट्ट के समान शब्दशक्ति-विवेचन के सन्दर्भ में मीमांसकों से प्रभावित रहे हैं।

निष्कर्ष-रूप से यह कहा जा सकता है कि अपने दोनों ही ग्रन्थों में लक्षणा और व्यञ्जना-वृत्तियों का अभिधा में समाहार करने का प्रयत्न करने पर भी भोज उसमें पूर्णतः सफल नहीं कहे जा सकते हैं। यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि की स्थापना इनसे लगभग सौ वर्षों से भी पहले कर चुके थे और उस सम्प्रदाय का इनके समय तक प्रचार भी हो चुका था, क्योंकि इनसे कुछ समय बाद मम्मट ने काव्यप्रकाश जैसे ग्रन्थ की रचना की। वस्तुतः इनकी मुख्या-वृत्ति अभिधा में तथा गौणी और शुद्धा-लक्षणा, लक्षणा में समाहित हो जाती है, जिसे ये 'लक्षितलक्षणा' कहते हैं और जिसकी परिभाषा 'लक्षणा-व्यवहिता लक्षणा लक्षितलक्षणा' इस रूप में स्वीकार करते हैं, उसका अन्तर्भाव व्यञ्जनावृत्ति में होता है। प्रतीत होता है कि भोज दर्शनशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में निरूपित शब्दशक्ति के भेदों से अधिक निकट का सम्बन्ध तथा साहित्यशास्त्र में निरूपित भेदों से कम निकट का सम्बन्ध रखना चाहते थे।[1]

ध्वनि-विरोधी आचार्य होने के कारण यद्यपि भोज ने ध्वनि का वर्णन ध्वनि-विरोधी आचार्यों के समान ही किया, किन्तु अलङ्कारों के माध्यम से किया गया प्रतीयमान का वर्णन व्यञ्जना के अपलाप में समर्थ न हो सका। एक अर्थ से जहां अन्य अर्थ का अवगम होता है, वहां भोज गति नामक गुण मानते हैं। यहां प्रतीयमान अर्थ की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार मुद्रा, उक्ति तथा भणिति नामक शब्दालङ्कार आदि में भी ध्वनि का रूप देखा जा सकता है। भणिति में वस्तुध्वनि के समान विधिनिषेधादि अर्थों की प्रतीति होती है।

अर्थालङ्कारों में भी ध्वनिरूप लक्षित होता है। इनके द्वारा वर्णित सूक्ष्म-

---

1 सरस्वतीकण्ठाभरण, (व्या. कामेश्वरनाथ मिश्र), चौ. ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976 ई., (स्वरूपानन्दभाष्य), पृ. 278

अलङ्कार में अनुभाव से व्यक्त-रसध्वनि का रूप मिलता है।[1] वाच्य एवं प्रतीयमान भेद से विभाजित इस अलङ्कार के दोनों ही रूपों में रसादि की व्यञ्जना होती है। कभी अनुभाव आदि से, कभी आकार एवं रोमाञ्चादि सात्त्विकभावों से भी रस व्यञ्जित होता है।[2] **भोज** ने अन्योन्यालङ्कार के वाच्य एवं प्रतीयमान और उभयविध भेद से तीन भेद किये हैं।[3] इस प्रकार **सरस्वतीकण्ठाभरण** में ध्वनि को अलग-रूप से वर्णित न कर गुणों एवं अलङ्कारों के माध्यम से उसे अन्तर्निहित करके ही वर्णित किया गया है, अतः इन्हें ध्वनि एवं लक्षणा-विरोधी आचार्यों की कोटि में मानते हुए गुणालङ्कार-वादी तथा तात्पर्य-समर्थक ध्वन्यभाववादी आचार्य मानना ही समीचीन होगा।

7 मङ्खक (1169 ई.)

मंखक ने **साहित्यमीमांसा** नामक अपनी कृति में लक्षणा के भेदों को अन्य आचार्यों के समान वर्णित नहीं किया है। वृत्ति के मुख्या, लक्षणा तथा गौणी—ये तीन भेद ही **साहित्यमीमांसा** में दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने पदों के व्यापार के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया और उसी वृत्ति के ये तीन भेद हैं। व्यञ्जना का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। **मंखक** गौणी को लक्षणा से भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं।[4] इन दोनों को उन्होंने जघन्या पद से

---

1 तत्रेङ्गितलक्ष्यमभिधीयमानसूक्ष्मं यथा—

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥

अत्र स्वयम्वरमिलितानां राज्ञां राजपुत्रीं प्रति प्राप्तिलक्षणस्य मनोरथस्या-भिधीयमानस्य शृङ्गारचेष्टात्मकेनेङ्गितेन व्यङ्ग्यत्वादयमिङ्गितलक्ष्योऽभि-धीयमानः सूक्ष्मभेदः।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, पब्लिकेशनबोर्ड, आसाम, कलकत्ता, 1959 ई., पृ 139

2 अत्राभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण गात्रयष्टिं भित्वा निरक्रामदित्यनेना-भिधीयमान आकारलक्ष्यः सूक्ष्मभेदोऽभिहितः।
—वही, पृ. 139

3 अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योऽन्यं त्रिधा च तत्।
वाच्यं प्रतीयमानञ्च तृतीयमुभयात्मकम्॥ 3.27
—वही, पृ. 144

4 वृत्तिः पदानां व्यापारः पदार्थप्रतिपादने।
सा मुख्या लक्षणा गौणीत्येवं त्रैविध्यमास्थिता॥
—साहित्यमीमांसा, पृ. 2

व्यवहृत किया है।[1] **मंखक** को इससे अधिक वृत्तियों की संख्या अभिप्रेत नहीं है। ये लक्षणा के सारे भेद उक्त दोनों गौणी तथा लक्षणा में ही अन्तर्भूत करते हैं। वृत्तियों की अधिक संख्या का निराकरण करते हुए इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अवान्तर भेद-वृत्तियां जो अन्य आचार्यों को मान्य हैं, उनका समावेश लक्षणा तथा गौणी में कर लेना चाहिए।[2]

जिस प्रकार **भोज**, वृत्ति को त्रिधा विभक्त करके उसे अभिधा, लक्षणा और गौणी नाम देते हैं, उसी प्रकार **मंखक** वृत्ति के तीन भेद मुख्या, लक्षणा और गौणी मानते हैं। दोनों ही आचार्य लक्षणा और गौणी को स्वतन्त्र सत्ता न मानकर वृत्ति(अभिधा) के नैरन्तर्य के पक्षपाती हैं[3] और इसीलिए ये स्वतन्त्र लक्षणा-वृत्ति के विरोधी माने जाते हैं। इनके अनुसार यह वृत्ति-विभाग इस प्रकार है—

वृत्ति

मुख्या | लक्षणा | गौणी

मंखक ने मुख्या, लक्षणा तथा गौणी के उदाहरण के रूप में विभिन्न कृतियों से तीन श्लोक उपन्यस्त किये हैं।[4]

---

1 वृत्ती जघन्ये उन्नेये तत्र तत्रोपयोगतः।
—साहित्यमीमांसा, पृ. 3

2 तत्सिद्धिजातिसारूप्य प्रशंसालिङ्गभूमभिः।
वृत्तिः परत्र शब्दस्य प्रवृत्तिर्जैमिनीरिता॥
वृत्तिर्याप्यक्षपादोक्ता साहचर्यादिहेतुका।
वृत्तिर्जघन्ययोरन्तर्द्रष्टव्या सकलापि सा॥
—वही, पृ. 4

3 आनन्दवर्धन, (ले. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी), पृ. 524

4 प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥
अयि पान्थ ! विलम्बसे किमेकः सहसा वालवनादितः प्रयाहि।
कुसुमायुधमाह्वयन्निवोच्चैः सहकारः कुरुते कुहूरुतानि॥
इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः॥
—वही, पृ. 3

उपसंहार—परिशिष्ट

मुकुलभट्ट ने मुख्य तथा लाक्षणिक दोनों प्रकारों के अभिधा-व्यापारों को वर्णित किया है। यहां अभिधा-व्यापार को लक्षणा नाम से ठीक उसी प्रकार व्यवहृत किया है, जिस प्रकार गङ्गा की जल-राशि समुद्र में मिलने पर समुद्र-पदवाच्या हो जाती है। भट्ट मुख्यार्थ-परिज्ञान को लक्ष्यार्थ में आवश्यक मानते हैं, अर्थात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिये मुख्यार्थ का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रथम-कोटि, अर्थात् अभिधा से होने वाले ज्ञान को 'निरन्तरार्थनिष्ठ' ज्ञान माना है तथा द्वितीय लक्ष्यार्थ की प्रतीति में जहां अभिधाजन्य-ज्ञान की आवश्यकता भी रहती है, उसे 'सान्तरार्थनिष्ठ' ज्ञान नाम से अभिहित किया है। आपाततः भिन्न-रूप में प्रस्तुत करते हुए भी, ये लक्षणा को अभिधा से अभिन्न मानते हैं। अभिधा की स्थिति-विशेष के कारण ही यह लक्षणा, अभिधा की ही नामान्तर-संज्ञा है।

भट्ट की मान्यता के अनुसार शब्द-ज्ञान-पुरस्सर मुख्यार्थ-बाध की उपस्थिति में ही लक्ष्यार्थ-ज्ञान की प्रतीति मानना यह सिद्ध करता है कि ये लक्षणा को शब्दवृत्ति न मानकर अर्थ-वृत्ति मानते हैं। लक्षणा को, अभिधा की स्थितिविशेष के कारण प्रयुक्त होने वाली नामान्तर संज्ञा मानते हैं, जिसमें भट्ट प्रतीयमान अर्थ का समावेश करते जान पड़ते हैं। इस प्रकार ये अभिधेय-अर्थ तक अभिधा को ही निष्ठ्यूत मानते हैं। मुख्या—अभिधा चार प्रकार की, लाक्षणिक अभिधा छः प्रकार की मानी है, किन्तु उन्हें मान्य यही है कि सब का अर्थ अभिधेय होता है। ये लक्षणा को स्वतन्त्रवृत्ति नहीं मानते हैं। उसका अन्तर्भाव अभिधा में ही करते हैं। शुद्ध एवं उपचार के कारण लक्षणा दो प्रकार की होती है। ये दोनों ही आरोप और अध्यवसान के आधार पर द्विधा विभक्त होती हैं।

प्रतिहारेन्दुराज भी अनुमितिवादी आचार्यों की कोटि में आते हैं। मुकुलभट्ट के शिष्य होने के नाते ये भी अभिधावाद का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन्होंने उद्भट-कृत काव्यालंकारसारसंग्रह नामक कृति की व्याख्या करते हुए अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने ध्वनि को पर्यायोक्त, रसवत् तथा श्लेष आदि अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। ये ध्वनिवादियों की तीनों ध्वनियों को रसवदादि अलङ्कारों में

अन्तर्भूत करते हैं। ध्वनि से परिचित होने पर भी व्यङ्ग्य के समस्त भेदों को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करने के कारण ये ध्वनि-विरोधी आचार्यों की कोटि में लिए जा सकते हैं। साथ ही **महिमभट्ट** का कहीं भी विरोध न करने के कारण इन्हें अनुमितिवादी आचार्यों की कोटि में लिया जा सकता है। अनुमितिवाद के आग्रह के कारण इन्हें लक्षणा-विरोधी माना जा सकता है।

धनिक ने **अवलोक** नामक टीका में तात्पर्यशक्ति का प्रसार अन्तिम-अर्थ तक माना है। पदार्थ का ज्ञान कराना वे अभिधा का कार्य मानते हैं। लक्षणा एवं गौणी को सम्बन्धगत-बाधाओं को दूर करने तक सीमित मानते हैं। तात्पर्यशक्ति को अन्तिम-अर्थ तक पहुंचने में सक्षम मानते हैं।

यद्यपि रसनिष्पत्ति के प्रकरण में लक्षणादि-वृत्तियों का पृथक्-रूप से विवेचन करने का कोई अवसर नहीं है, तथापि इन्होंने रस तथा काव्य के परस्पर सम्बन्धों के विषय में जिन वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध, लक्ष्यलक्षकभाव-सम्बन्ध, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-सम्बन्धत्रयों का निराकरण करते हुए केवल भाव्यभावक-सम्बन्ध को ही माना और इस प्रकार **भट्टनायक** के भावकत्व-वादी मत से मिलता-जुलता अपना अभिमत व्यक्त किया। इसी कारण उन्हें भावकत्ववादी माना जाता है। उनके मतानुसार काव्य और रस का सम्बन्ध भाव्यभावकभाव-सम्बन्ध है, न कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव, जैसा कि ध्वनि मतानुयायियों ने कहा है। **धनिक** तात्पर्यवृत्ति से वस्तु एवं अलङ्कार तथा रसरूप त्रिविध-व्यङ्ग्य की प्रतीति मानते हैं। इनकी यह भी मान्यता है कि तात्पर्य-शक्ति के माध्यम से अभिधा-शक्ति ही वाञ्छित-वाक्यार्थ का बोध करा देती है। इनके अनुसार तात्पर्यशक्ति की कोई सीमा नहीं रहती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि तात्पर्य-शक्ति मध्य या यहां तक सीमित है, साथ ही तात्पर्य तराजू से तोला हुआ भी नहीं होता है। इस मान्यता को लेकर ये लक्षणादि-शक्त्यन्तरों की कल्पना करना वृथा मानते हैं।

भट्टनायक भी लक्षणा-विरोधी आचार्यों में गिने जाते हैं। ये शब्द के अभिधा, भावना और भोगीकरण नामक तीन व्यापारों को स्वीकार करते हैं। इन्होंने शब्दशक्ति के प्रचलित नामों (अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना) का तिरस्कार किया तथा अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नामक तीन शक्तियों की उद्भावना की। ये रसनिष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। इनकी मान्यता है—अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ के ज्ञान के अनन्तर भावकत्व-व्यापार द्वारा विभावादियों का साधारणीकरण होता है। भोजकत्व द्वारा साधारणीकृत विभावादियों का सहृदयों द्वारा आस्वादन किया जाता है। **भट्टनायक** **'निश्वासान्ध इवादर्शः'** में गौणी-लक्षणा नहीं मानते हैं, क्योंकि इनके अनुसार

यहां पर 'इव' शब्द के कारण उत्प्रेक्षया अर्थ प्रकाशित हो जाएगा। वस्तु-ध्वनि की सत्ता इन्हें स्वीकार्य नहीं है। वस्तुध्वनि के स्थलों पर अभिधा का ही क्षेत्र मानकर व्यङ्ग्य को वाच्य मानते हैं। ध्वनि-विरोधी, किन्तु रससमर्थक **भट्टनायक** का **हृदयदर्पण** अब उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु **लोचन**, **अभिनवभारती** आदि ग्रन्थान्तरों में तथा **काव्यप्रकाश** की टीका में इनकी लक्षणा-विरोधी विचारधाराएं समुपलब्ध होती हैं।

महिमभट्ट अभिधा से अतिरिक्त व्यापारान्तरों को अर्थ का व्यापार मानते हुए अन्य-शक्तियों का, अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। ये अर्थ के भेदत्रय वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य, इन तीनों के स्थान पर वाच्य तथा अनुमेय दो ही भेद स्वीकार करते हैं। **महिमभट्ट** गुणवृत्ति अथवा लक्षणा के लिए मुख्यार्थ-बाधादि हेतुत्रय को लक्षणा का कारण न मानकर उसे अर्थान्तर-प्रतीति-विषयक लिङ्ग अथवा साधक हेतु मानने के साथ ही आलङ्कारिकों के असङ्केतित लक्ष्यार्थ अथवा प्रतीयमान-अर्थ को अनुमेय मानते हैं।

ध्वनिकार जिसे ध्वनि कहते हैं, **महिमभट्ट** उसे अनुमिति की संज्ञा देते हैं तथा रसादि को भी अनुमेय ही मानते हैं। ये नैयायिकाभिमत अनुमान-प्रक्रिया के आधार पर लक्षणा तथा ध्वनि के उदाहरणों में अनुमान की प्रक्रिया प्रदर्शित करते हैं। 'गौर्वाहीकः' इत्यादि स्थलों में अनुमान की अपरिहार्यता मानते हैं, क्योंकि साम्य के कारण ही एक वस्तु का दूसरे के ऊपर आरोप किया जाता है। मुख्यार्थ के बाध होने पर तत्त्वारोप के द्वारा उसी सम्बन्ध की अनुमिति होती है। ऐसे ही 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में गङ्गादि पदार्थ अपने साथ किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण अभिन्न-रूप से प्रतीति कराते हुए, तट आदि किसी अन्य-अर्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार **महिमभट्ट** अनुमितिवादी आचार्य होने के कारण पूर्णतः लक्षणा-विरोधी आचार्य हैं।

भोज भी लक्षणा को, अभिधा की तीन वृत्तियों में से एक वृत्ति मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार लक्षणा और गौणी ये दोनों अभिधा की वृत्तियां होने से इन्हें **भोज** कथमपि अभिन्न, अर्थात् गौणी लक्षणान्तर्गत ही है, इस मान्यता को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। **शृङ्गारप्रकाश** में गौणी को द्वादशधा विभाजित किया गया है। गौणी को लक्षणा के समान-स्तर में विभाजित करना उसके पृथक् अस्तित्व का सूचक है। इसी प्रकार अभिधा तथा लक्षणा को भी उन्होंने अनेकधा विभाजित किया है। वैय्याकरणों तथा मीमांसकों से प्रभावित होकर शब्द को इन्होंने द्वादशधा विभाजित किया है।

भोज ने ध्वनि की अलग से चर्चा नहीं की है, तथापि ये **धनिक** की तरह तात्पर्यवादी हैं।

भोज ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में शय्या के षड्‌विध भेदों के वर्णनावसर पर **शृङ्गारप्रकाश** के समान लक्षणादि की चर्चा विस्तार से नहीं की है, किन्तु उनके टीकाकार **रत्नेश्वर** ने अभिधा के मुख्या, गौणी और लक्षणा ये तीन भेद दुहराए हैं। गौणी को भी गुणनिमित्ता और उपचारनिमित्ता भेद से विभाजित किया गया है। लक्षणा को **वक्रोक्तिजीवित** नाम से अभिहित कर लक्षणा के शुद्धा और लक्षितलक्षणा दो भेद किए गए हैं। शुद्धा सदा अभिधेयार्थ से साक्षात् सम्बद्ध-अर्थ को समर्पित करती है। लक्षितलक्षणा-विषयक **रत्नेश्वर** का स्वकीय मत क्या था ? वहां व्यक्त नहीं किया गया है। 'अन्ये', 'केचित्' के माध्यम से अन्य-आचार्यों के मतों को टीका के माध्यम से वर्णित किया गया है। क्रम-रहित एवं अस्तव्यस्त लक्षणा की चर्चा जैसे मूल-ग्रन्थ में उपलब्ध थी, तदनुसार **रत्नेश्वर** ने भी उसे व्याख्यात कर दिया है।

मंखक भी गौणी और लक्षणा को भिन्न-वृत्ति के रूप में मानते हैं। उन्होंने लक्षणा का वर्णन अन्य आचार्यों के समान नहीं किया है। वे पदों के व्यापारों को वृत्ति नाम से अभिहित करते हैं। उसके भी अभिधा, गौणी और लक्षणा तीन भेद किए हैं। लक्षणा एवं गौणी इन दोनों को 'जघन्या' पद से व्यवहृत करते हैं। इससे अधिक भेदों की चर्चा इन्होंने **साहित्यमीमांसा** नामक कृति में नहीं की है। इन्होंने **भोज** का समर्थन कर लक्षणा और गौणी को अभिधा का ही व्यापार (वृत्ति) माना है।

ग्रन्थानुक्रमणी

लेखकानुक्रमणी

मूल स्रोत सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1 अग्निपुराण, व्यास ? आनन्दाश्रम-ग्रन्थालय, पूना, 1957 ई.

2 अथर्ववेद-भाष्य, पण्डित क्षेमकरणदास त्रिपाठी, 1917 ई.

3 अद्वैतसिद्धान्तसार, सदानन्दव्यास, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903 ई.

4 अभिधावृत्तिमातृका, मुकुलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1973 ई.

5 अलङ्कारकौस्तुभ, कविकर्णपूर, वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, बंगाल, 1926 ई.

6 अलङ्कारकौस्तुभ, विश्वेश्वर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1898 ई.

7 अलङ्कारचिन्तामणि, अजितसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1973 ई.

8 अलङ्कारमहोदधि, नरेन्द्रप्रभसूरि, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1943 ई.

9 अलङ्काररत्नाकर, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1942 ई.

10 अलङ्कारशेखर, केशवमिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1895 ई.

11 अलङ्कारसार, भावदेव, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1942 ई.

12 उज्ज्वलनीलमणि, रूपगोस्वामी, कृष्णदासबाबा कुसुमसरोवर, मथुरा, वि. सं. 2022

13 एकावली, विद्याधर, व्यवस्थापक, राजकीय ग्रन्थशाला, बम्बई, 1903 ई.

14 ऐतरेयब्राह्मण, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, 1896 ई.

15 कल्पलताविवेक, अज्ञातकर्तृक, लालभाई दलपतभाई, भारतीय विद्या मन्दिर, अहमदाबाद, 1968 ई.

16 काव्यकल्पलतावृत्ति, अमरचन्द्रयति, जयकृष्णदास हरिदासगुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1931 ई.

17 काव्यदर्पण, राजचूड़ामणिदीक्षित, वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् ।

18 काव्यपरीक्षा, श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य, मिथिला विद्यापीठ, बिहार, 1956 ई.

19 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. गोकुलनाथ उपाध्याय, निदेशक, शोध-संस्थान, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961 ई.

20 काव्यप्रकाश सटीक, टीका. गोविन्दठक्कुर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1912 ई.

21 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. चण्डीदास, जयकृष्णदास गुप्ता, विद्याविलास प्रेस, बनारस, 1933 ई.

22 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. नागेश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ग्राफिस, वाराणसी, 1967 ई.

23 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. परमानन्दचक्रवर्ती, निदेशक, अनुसन्धान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976 ई.

24 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. भट्टगोपाल, महामहिमश्रीमहाराज्ञीशासनान्तर्गत राजकीय-मुद्रण-यन्त्रालयाध्यक्ष, 1925 ई.

25 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. भट्टसोमेश्वर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, 1959 ई.

26 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. भीमसेनदीक्षित, चौ. सं. सी. ग्रा. वाराणसी, वि. सं. 1914

27 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. महेश्वरन्यायालङ्कार, शिवनाथगांगुली-मिट्रोपोलिग प्रिण्टिग तथा पब्लिशिंग हाउस, लिमिटेड, कलकत्ता, 1936 ई.

28 काव्यप्रकाश, सटीक, भाग-2, टीका. माणिक्यचन्द्र, संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1959 ई.

29 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. वामनझलकीकर, भण्डारकर ग्रोरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, श. सं. 1882

30 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. श्रीविद्याचक्रवर्ती, महामहिमश्रीसेतुलक्ष्मीमहाराज्ञीशासनान्तर्गत राजकीय-मुद्रण-यन्त्रालयाध्यक्ष, 1925 ई.

31 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. विश्वनाथ, मञ्जुप्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1979 ई.

32 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960 ई.

33 काव्यप्रकाश, सटीक, संपा. बद्रीनाथ झा, निदेशक, शोध-संस्थान, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी. श. सं. 1882

34 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. माणिक्यचन्द्र राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1959 ई.

35 काव्यप्रकाश, सटीक, टीका. माणिक्यचन्द्र, ग्रानन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1921 ई.

36 काव्यमीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1934 ई.

37 काव्यादर्श, दण्डी, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1973 ई.

38 काव्यादर्श, दण्डी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1958 ई.

39 काव्यादर्श, सटीक, टीका. प्रेमचन्द्र तर्कवागीश भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1963 ई.

40 काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, श्रीविजयलावण्यसूरीश्वर ज्ञानमन्दिर, सौराष्ट्र, वि. सं. 2012

41 काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1901 ई.

42 काव्यालङ्कार, भामह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वि. सं. 2019

43 काव्यालङ्कार, रुद्रट, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, 1965 ई.

44 काव्यालङ्कार, रुद्रट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ई.

45 काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, उद्भट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1942 ई.

46 काव्यालङ्कार-सार-संग्रह एवं लघुवृत्ति, उद्भट, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1925 ई.

47 काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति, वामन, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1954 ई.

48 कोविदानन्द, आशाधरभट्ट, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी, 1963 ई.

49 कोविदानन्द, आशाधरभट्ट, इन्दु प्रकाशन, रूपनगर, नई दिल्ली, 1978 ई.

50 चन्द्रालोक, जयदेव, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1950 ई.

51 टुप्टीका, (शाबरभाष्य-टीका), कुमारिलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1904 ई.

52 चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका), चित्सुख, उदासीन संस्कृत महाविद्यालय, ढुण्ढीराज, बनारस, 1956 ई.

53 जैमिनीयसूत्र, जैमिनि, श्रीबालाजी गणेश, बड़ा सर्राफा, काटन ऐशोसिएशन, इन्दौर, वि. सं. 2002

54 तत्त्वबिन्दु, वाचस्पतिमिश्र, श्रीगङ्गाधरशास्त्री, प्रधानाध्यापक, काशी राजकीय संस्कृत प्रधानपाठशाला, काशी, वि. सं. 1949

55 तन्त्रवार्तिक, कुमारिलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903 ई.

56 तन्त्रवार्तिक, कुमारिलभट्ट, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पुण्यपत्तन (पूना), 1931 ई.

57 तर्कभाषा, केशवमिश्र, साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1971 ई.

58 तर्कसंग्रहदीपिका, अन्नंभट्ट, उत्तरप्रदेशीय हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1976 ई.

59 तर्कामृत, जगदीशतर्कालङ्कार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1973 ई.

60 त्रिवेणिका, आशाधरभट्ट, भारतीय साहित्य विद्यालय, वाराणसी, 1957 ई.

61 दशरूपक, सटीक, मू. धनञ्जय, टीका. धनिक, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1967 ई.

62 दशरूपक, सटीक, मू. धनञ्जय, टीका. धनिक, साहित्य निकेतन, कानपुर. 1966 ई.

63 ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965 ई.

64 ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवगुप्त, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965 ई.

65 नञ्जराजयशोभूषण, नरसिंह कवि (अभिनव कालिदास), ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1930 ई.

66 निरुक्त, सटीक, टीका. दुर्गाचार्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुण्यपत्तन, 1931 ई.

67 न्यायपरिशुद्धि, श्रीनिवासाचार्य, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1918 ई.

68 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1988 ई.

69 न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिक-टीका), सोमेश्वरभट्ट, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1901 ई.

70 न्यायसूत्र, गौतम, पंजाब युनिवर्सिटी, लाहौर, 1883 ई.

71 परमलघुमञ्जूषा, नागेश, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1974 ई.

72 पाणिनीयशिक्षा, चौ. सं. सी. आ., बनारस, वि. सं. 2004

73 प्रकरणपञ्चिका, शालिकनाथमिश्र, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903 ई.

74 प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथ, राजकीय ग्रन्थमालाधिकारी, बम्बई, 1909 ई.

75 प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपादाचार्य, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977 ई.

76 भक्ति(लक्षण)विवेक, गोकुलनाथ उपाध्याय, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी, वि. सं. 2032

77 भाट्टचिन्तामणि, गागाभट्ट, चौ. सं. सी. ग्रा., बनारस, 1933 ई.

78 भाट्टदीपिका, व्याख्यासह, मू. खण्डदेव, व्या. शम्भुभट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1922 ई.

79 भावप्रकाशन, शारदातनय, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1968 ई.

80 भाषारत्न, कणादतर्कवागीश, कलकत्ता संस्कृत साहित्य परिषद् भवन, कलकत्ता, 1936 ई.

81 महाभाष्य, पतञ्जलि, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, वि. सं. 2019

82 महाभाष्य, पतञ्जलि, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्झर, रोहतक, 1963 ई.

83 महाभाष्यप्रदीप, संपा. आचार्य मधुसूदनप्रसाद मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

84 मीमांसाकौस्तुभ, खण्डदेव, चौ. सं. सी. ग्रा., वाराणसी, 1923 ई.

85 मीमांसान्यायप्रकाश, सटीक, मू. आपदेव, टीका. अनन्तदेव, चौ. सं. सी. ग्रा., वाराणसी, 1921 ई.

86 मीमांसाबालप्रकाश, भट्टशङ्कर, चौ. सं. सी. ग्रा., वाराणसी, 1902 ई.

87 मीमांसाशाबरभाष्य, भाग–1, शबरस्वामी, युधिष्ठिरमीमांसक बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा, 1970 ई.

88 यशवन्तयशोभूषण, मू. मुरारीदान, संस्कृत अनुवादक रामकर्ण आसोपा, मारवाड़ स्टेट मुद्रणालय, जोधपुर, 1964 ई.

89 रघुवंश, कालिदास, भारतप्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, वि. सं. 2019

90 रसगङ्गाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, वि. स. 2020

91 रसगङ्गाधर, संपा. बद्रीनाथ झा, चौखम्बा विद्याभवन चौक, बनारस, 1955 ई.

92 रसगङ्गाधरटीका, मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964 ई.

93 रसचन्द्रिका, विश्वेश्वर, चौ. सं. सी. ग्रा., वाराणसी, 1983 ई.

94 रसप्रदीप, प्रभाकरभट्ट, गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, 1925 ई.

95 राजतरङ्गिणी, कल्हण, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1973 ई.

96 लघुमञ्जूषा, नागेश, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1971 ई.

97 वक्रोक्तिजीवित, कुन्तक, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1967 ई.

98 वाक्यपदीय, भर्तृहरि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971 ई.

99 वाक्यपदीय, भर्तृहरि, डेकन कालेज, पूना, 1966 ई.

100 वाक्यवृत्ति, सटीक, मू. शङ्कराचार्य, टीका. विश्वेश्वर, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1975 ई.

101 वादनक्षत्रमाला, अप्पयदीक्षित, वाणीविलास मुद्रणालय, श्रीरंगम्, 1912 ई.

102 वृत्तिदीपिका, मौनिश्रीकृष्णभट्ट, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर, 1956 ई.

103 वृत्तिप्रभाकर, सटीक, मू. निखिलदास, टीका. आत्मानन्द स्वामी, सस्तु साहित्य मुद्रणालय, रायखण्ड, अहमदाबाद, 1957 ई.

104 वृत्तिवार्तिक, अप्पयदीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, वि. सं. 1893

105 वृत्तिसमुच्चय, व्याख्यासह, व्या. ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दुप्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली, 1978 ई.

106 वेदान्तकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1862 ई.

107 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, रामकृष्ण मिशन शारदापीठ, वेलूरमठ, हावड़ा, 1942 ई.

108 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, 1957 ई.

109 वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौ. सं. सी. आ., बनारस, 1954 ई.

110 वेदान्तसार, व्याख्यासह, मू. सदानन्द, व्या. डा. राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1978 ई.

111 वेदान्तसार, व्याख्यासह, मू. सदानन्द, व्या. नृसिंह सरस्वती, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1975 ई.

112 वेदान्तसार, सम्पा. सन्तनारायण श्रीवास्तव, 1968 ई.

113 वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, प्रकाशानन्द, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि. सं. 1993

114 वैय्याकरणभूषणसार, सम्पा. बालकृष्ण पञ्चोली, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1969 ई.

115 वैय्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, नागेश, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, 1977 ई.

116 वैय्याकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, नागेश, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1963 ई.

117 व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1964 ई.

118 व्युत्पत्तिवाद, गदाधर, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1984 ई.

119 शब्दव्यापारविचार, मम्मट, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1974 ई.

120 शब्दशक्तिप्रकाशिका, जगदीशतर्कालङ्कार, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1973 ई.

121 शब्दशक्तिप्रकाशिका, जगदीशतर्कालङ्कार, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1914 ई.

122 शाबरभाष्य, शबरस्वामी, आनन्दाश्रम ग्रन्थालय, पुण्यपत्तन, 1931 ई.

123 शाबरभाष्यव्याख्या, प्रभाकरमिश्र, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1956 ई.

124 शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर प्रेस, 1915 ई.

125 शृङ्गारप्रकाश, भोज, अध्यक्ष, प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ-प्रकटन विश्व-संस्था, मैसूर, 1956 ई.

126 शृङ्गारप्रकाश, भोज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1934 ई.

127 शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, विजयवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रधान कार्यालय, अलीपुर, पार्क पैलेस, कलकत्ता, 1969 ई.

128 श्लोकवार्तिक, कुमारिलभट्ट, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1940 ई.

129 समासशक्तिदीपिका, दीनबन्धु झा, कामेश्वर दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, वि. सं. 2023

130 सरस्वतीकण्ठाभरण, सटीक, मू. भोज, टीका. रत्नेश्वर, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1976 ई.

131 सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1976 ई.

132 सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, जैनप्रभाकर मुद्रणालय, काशी, वि. सं. 1943

133 सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, गोहाटी, 1960 ई.

134 सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, वि. सं. 1982

135 सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, आद्यशङ्कराचार्य, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, वि. सं. 2028

136 साहित्यकौमुदी, बलदेवविद्याभूषण, निर्णयसागर यन्त्रालय, बम्बई, 1897 ई.

137 साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1978 ई.

138 साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970 ई.

139 साहित्यबिन्दु, जीवराम शास्त्री, सरस्वती प्रेस, दिल्ली, वि. सं. 2004

140 साहित्यमीमांसा, मंखक, चित्रावतार-महाराज-शासन-राजकीय मुद्रणा-लयाध्यक्ष, त्रिवेन्द्रम् I, 1934 ई.

141 साहित्यरत्नाकर, धर्मसूरि, संस्कृत परिषद्, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, 1972 ई.

142 साहित्यसार, अच्युतराय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1906 ई.

143 साहित्यसुधासिन्धु, आचार्य विश्वनाथदेव, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1978 ई.

144 स्फोटचन्द्रिका, मौनिश्रीकृष्णभट्ट, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1929 ई.

सहायक-ग्रन्थ

1 अग्रवाल, पुरुषोत्तमदास, शब्दशक्तिप्रकाशिका, बोहरा प्रकाशन, जयपुर, 1970 ई.

2 अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1956 ई.

3 उपाध्याय, गयाप्रसाद, ध्वनि-सिद्धान्त और व्यञ्जनावृत्ति विवेचन, सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, 1970 ई.

4 उपाध्याय, बलदेव, भारतीय-दर्शन, चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 1979 ई.

5 उपाध्याय, बलदेव, सायण और माधव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि. सं. 2003

6 कीथ, ए. बी., संस्कृत साहित्य का इतिहास, (अनु. मंगलदेव शास्त्री), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960 ई.

7 चौधरी, नरेन्द्रनाथ, काव्यतत्त्वसमीक्षा, मोतीलाल बनारसीदास; 1959 ई.

8 चौधरी, सत्यदेव, काव्यशास्त्र के परिदृश्य, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, 1975 ई.

9 चौधरी, सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, 1974 ई.

10 कौर, अमरजीत, संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1979 ई.

11 गुप्त, प्रेमस्वरूप, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1962 ई.

12 डे, एस. के., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-1-2, (अनु॰ मायाराम शर्मा), बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973 ई.

13 तिवारी, सियाराम, साहित्यसार और काव्यभाषा, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद, 1978 ई.

14 त्रिपाठी, जयशंकर, आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 1968 ई.

15 त्रिपाठी, राममूर्ति, रससिद्धान्त के नये सन्दर्भ, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977 ई.

16 त्रिपाठी, राममूर्ति, लक्षरगा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि. सं. 2023

17 त्रिपाठी, रामसुरेश, संस्कृत व्याकरण दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973 ई.

18 दासगुप्त, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग—2, (अनु. एम. पी. व्यास), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973 ई.

19 द्विवेदी, रेवाप्रसाद, आनन्दवर्धन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972 ई.

20 नागर, रविशंकर, व्यञ्जनाविमर्श: वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977 ई.

21 पाण्डे, गणेशत्र्यम्बक, भारतीय साहित्यशास्त्र, पोप्युलर बुक डिपो, बम्बई, 1960 ई.

22 पाण्डे, रामाज्ञा, व्याकरणदर्शनपीठिका, निदेशक, अनुसंधान विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1965 ई.

23 पाण्डेय, शिवनाथ, ध्वनि सम्प्रदाय का विकास, साहित्यप्रकाशन, नई सड़क, गल्लीबाडा, दिल्ली, 1971 ई.

24 पोद्दार, कन्हैयालाल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि. सं. 2011

25 बाठिया, कस्तूरमल, हेमचन्द्राचार्य जीवन-चरित्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967 ई.

26 मिश्र, कृष्णकुमार, अलङ्कारशास्त्र का इतिहास, रतिराम शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1975 ई.

27 मिश्र, रामचन्द्र, संस्कृतसाहित्येतिहास:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1970 ई.

28 वर्मा, रामलाल, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969 ई.

29 वर्मा, श्यामा, आचार्य राजशेखर, मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल, 1971 ई.

30 व्यास, भोलाशंकर, ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि. सं. 2013

31 शर्मा, नरेन्द्रनाथ, अप्पयदीक्षित, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972 ई.

32 शर्मा, मुकुन्दमाधव, व्यञ्जनाप्रपञ्चसमीक्षा, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1979 ई.

33 शर्मा, योगेश्वरदत्त, अभिधाविमर्शः, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1980 ई.

34 शर्मा, लक्ष्मीनारायण, अलङ्कार प्रस्थान विमर्श, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1971 ई.

35 शास्त्री, गौरीनाथ, लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौ. सं. सी. आ., वाराणसी, 1967 ई.

36 शास्त्री, मधुसूदन, साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1968 ई.

37 शास्त्री, शिवनारायण, निरुक्तमीमांसा, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी, वि. सं. 2026

38 शुक्ल, रामदेव, हिन्दी काव्यालङ्कार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ई.

39 सहाय, राजवंश, अलंकार शास्त्र की परम्परा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1960 ई.

40 सहाय, राजवंश, संस्कृत साहित्य कोश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1973 ई.

41 सिंह, बद्रीनाथ, शब्दबोधविमर्शः, बद्रीनाथसिंह गोदोलिया, वाराणसी, वि. सं. 2028